प्राच्यविद्यापीठ ग्रन्थमाला-10

आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचार दिनकर-चतुर्थ खण्ड

प्रायश्चित्त, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि

सम्प्रेरिका
प.पू. हर्षयशाश्रीजी

अनुवादिका
साध्वी मोक्षरत्नाश्री

संपादक
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक-प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.) एवं अ.भा. खरतरगच्छ महासंघ, मुम्बई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥ सम्यग्ज्ञानप्रदा भूयात् भव्यानाम् भक्तिशालिनी ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

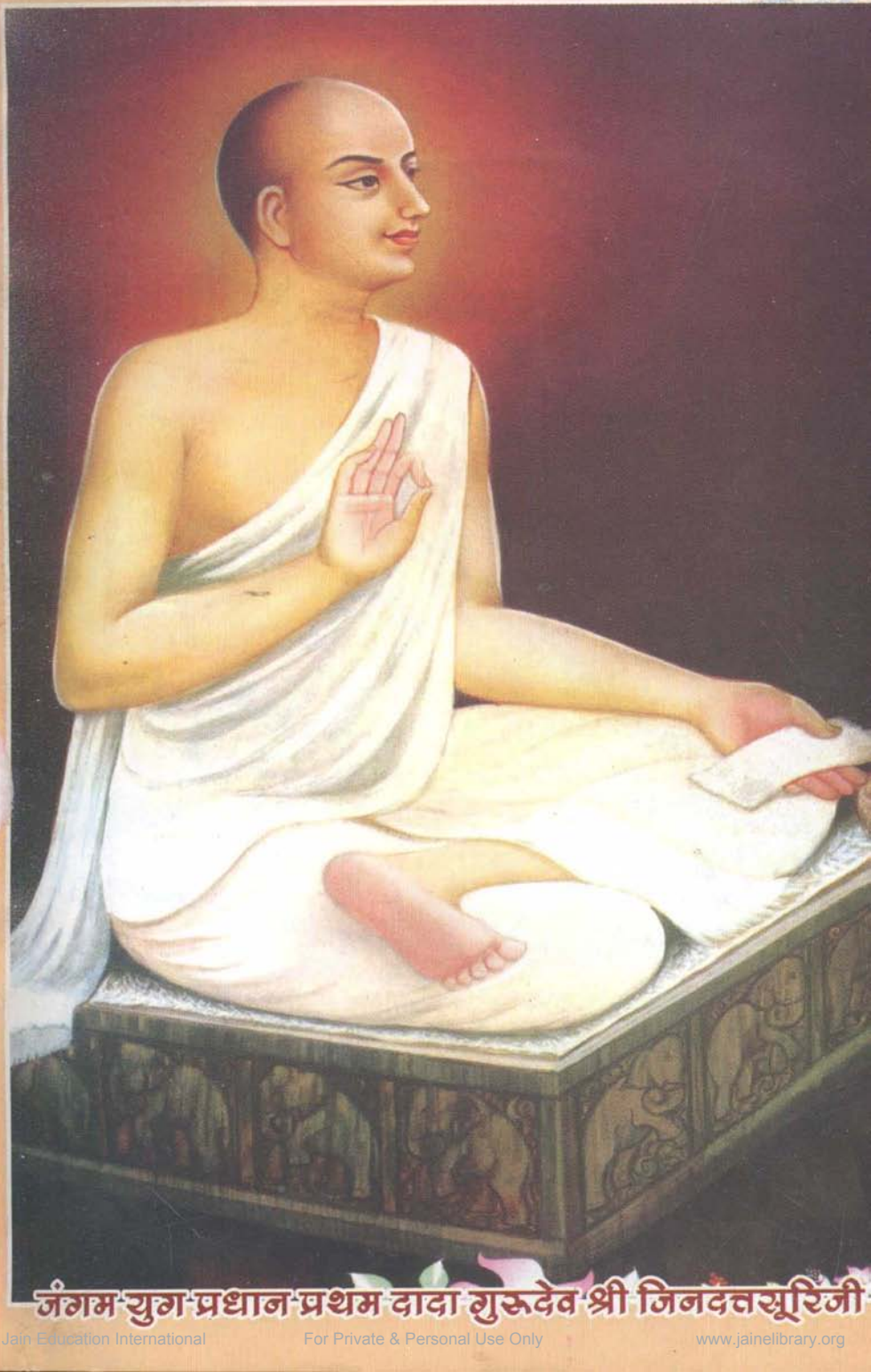

जंगम युग प्रधान प्रथम दादा गुरूदेव श्री जिनदत्तसूरिजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष प्रभावी दादा गुरूदेव श्री जिनकुशलसूरीश्वरजी म.सा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सादर समर्पण

प.पू. समतामूर्ति प्रव. श्री विचक्षण श्री जी म. सा.

प.पू. प्रव. श्री तिलक श्री जी म. सा.

मोक्षपथानुगामिनी, आत्मअध्येता, समतामूर्ति, समन्वय साधिका परम पूज्या प्रवर्तिनी महोदया स्व. श्री विचक्षण श्री जी म.सा. एवं आगम रश्मि परम पूज्या प्रवर्तिनी महोदया स्व. श्री तिलक श्री जी म.सा. आपके अनन्त उपकारों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए आचारदिनकर की अनुवादित यह कृति आपके पावन पाद प्रसूनों में समर्पित करते हुए अत्यन्त आत्मिक उल्लास की अनुभूति हो रही हैं। आपकी दिव्यकृपा जिनवाणी की सेवा एवं शासन प्रभावना हेतु सम्बल प्रदान करें - यही अभिलाषा हैं।

-साध्वी मोक्षरत्ना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत ज्ञान के अर्थ सहयोगी

श्री गुलाबचंदजी

श्रीमती शान्तिदेवी झाडचूर

रिखबचंदजी झाडचूर – मुम्बई के पूज्य पिताश्रीजी एवं माताश्रीजी

श्री रिखबचन्दजी गुलाबचन्दजी झाडचूर

मुम्बई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला - १०

आचार्य वर्धमानसूरिकृत

आचारदिनकर

चतुर्थ खण्ड

प्रायश्चित्त, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि

सम्प्रेरक

साध्वी हर्षयशाश्रीजी

अनुवादक

साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी

सम्पादक

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक

प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

अ.भा.श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ महासंघ, मुम्बई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ नाम - वर्धमानसूरिकृत 'आचारदिनकर'
चतुर्थ खण्ड
प्रायश्चित्त, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि

अनुवादक - पूज्या समतामूर्ति **श्री विचक्षणश्रीजी म.सा.** की प्रशिष्या एवं साध्वीवर्या **हर्षयशाश्रीजी** की शिष्या साध्वी **मोक्षरत्नाश्रीजी**

सम्पादक - **डॉ. सागरमल जैन**

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म.प्र.)
अ.भा.श्री जैन श्वे.खरतरगच्छ महासंघ,मुम्बई

प्रकाशन सहयोग - श्री रिखबचन्दजी गुलाबचन्द जी सा., झाडचूर परिवार, उपाध्यक्ष पश्चिम क्षेत्र
अ.भा.श्री जैन श्वे.खरतरगच्छ महासंघ,मुम्बई

प्राप्तिस्थल - (१) डॉ. सागरमल जैन, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म.प्र.), ४६५००१
(२) सरस्वती पुस्तक भण्डार, हाथीखाना, रतनपोल - अहमदाबाद (गुजरात)

प्रकाशन वर्ष - प्रथम संस्करण, फरवरी २००७

मूल्य - रु. २००/- दो सौ रुपया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनके परम पुनीत चरणों में
शत शत वन्दन

खरतरगच्छाधिपति, शासनप्रभावक, आचार्य भगवन्त
पूज्य श्री जिनमहोदयसागरसूरीश्वरजी म.सा.
शासनप्रभावक गणाधीश उपाध्याय भगवन्त
पूज्य श्री कैलाशसागरजी म.सा.

प्रेरणास्रोत
जिनशासनप्रभावक, ऋजुमना
परमपूज्य श्री पीयूषसागरजी म.सा.

परोक्ष आशीर्वाद
जैनकोकिला, समतामूर्ति, स्व. प्रवर्तिनी, परमपूज्या गुरुवर्या
श्री विचक्षणश्रीजी म.सा. एवं उनकी सुशिष्या आगमरश्मि
स्व. प.पू. प्रवर्तिनी श्री तिलकश्रीजी म.सा.

प्रत्यक्ष कृपा
सेवाभावी, स्पष्टवक्ता,
परमपूज्या गुरुवर्या श्री हर्षयशाश्रीजी म.सा.

पूज्या साध्वीवृन्द के चरणों में
नमन, नमन और नमन

शान्त-स्वभावी महत्तराश्री विनीताश्रीजी म.सा.
सरल-मना पूज्याश्री चन्द्रकलाश्रीजी म.सा.
प्रज्ञा-भारती प्रवर्तिनीश्री चन्द्रप्रभाश्रीजी म.सा.
शासन-ज्योति पूज्याश्री मनोहरश्रीजी म.सा.
प्रसन्न-वदना पूज्याश्री सुरंजनाश्रीजी म.सा.
महाराष्ट्र-ज्योति पूज्याश्री मंजुलाश्रीजी म.सा.
मरुधर-ज्योति पूज्याश्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

!! शुभाशीर्वाद !!

साध्वीश्री मोक्षरत्नाश्रीजी आचारदिनकर का अनुवाद-कार्य कर रही हैं, यह जानकर प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। उनका यह कार्य वास्तव में सराहनीय है। इससे मूलग्रन्थ के विषयों की बहुत कुछ जानकारी गृहस्थों एवं मुनियों के लिए उपयोगी होगी। जिनशासन और जिनवाणी की सेवा का यह महत्वपूर्ण कार्य शीघ्र ही सम्पन्न हो एवं उपयोगी बने - ऐसी मेरी शुभकामना है।

गच्छहितेच्छु
गच्छाधिपति कैलाशसागर

!! किंचित् वक्तव्य !!

जैन-संघ में आचारदिनकर-यह अनूठा ग्रंथ है। इसमें वर्णित गृहस्थों के विधि-विधान आज क्वचित् ही प्रचलन में हैं, किन्तु साधुओं के आचार के कुछ-कुछ अंश एवं अन्य विधि-विधान अवश्य ही प्रचलन में हैं।

पूर्व में मुद्रित यह मूलग्रंथ अनेक स्थानों पर अशुद्धियों से भरा हुआ है, सो शुद्ध प्रमाणमूल अनुवाद करना अतिदुष्कर है, फिर भी अनुवादिका साध्वीजी ने जो परिश्रम किया है, वह श्लाघनीय है। आज तक किसी ने इस दिशा में खास प्रयत्न किया नहीं, अतः इस परिश्रम के लिए साध्वीजी को एवं डॉ. सागरमलजी को धन्यवाद देता हूँ।

आचारदिनकर की कोई शुद्ध प्रति किसी हस्तप्रति के भण्डार में अवश्य उपलब्ध होगी, उसकी खोज करनी चाहिए और अजैन-ग्रंथों में जहाँ संस्कारों का वर्णन है, उसकी तुलना भी की जाए तो बहुत अच्छा होगा। जैन-ग्रंथों में भी मूलग्रंथ की शुद्धि के लिए मूल पाठों को देखना चाहिए।

परिश्रम के लिए पुनः धन्यवाद।

माघशुक्ल अष्टमी, सं.-२०६२ पूज्यपाद गुरुदेव मुनिराज
नंदिग्राम, जिला-वलसाड (गुजरात) श्री भुवनविजयान्तेवासी मुनि जंबूविजय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अभिनन्दन और अनुमोदन"

भारत एक महान् देश है। इस आर्यदेश की महान् संस्कृति विश्व के लिए एक आदर्शरूप बनी हुई है, क्योंकि यह आर्य-संस्कृति मोक्षलक्षी है। आत्मशुद्धि और आत्मा की पवित्रता को पाने के लिए इस संस्कृति में विविध ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सभी आर्यधर्म आत्मतत्त्व की शाश्वतता में विश्वास करते हैं। आत्मज्ञान और आत्मरमणता ही सुख का साधन है।

मनुष्य अपनी साधना के बल पर विकृति से संस्कृति और संस्कृति से प्रकृति की ओर निरन्तर गतिशील रहता है। जीवन में विकृति है, इसलिए संस्कृति की आवश्यकता है। संस्कृति में क्या नहीं ? उसमें आचार की पवित्रता, विचार की गंभीरता एवं कला की सुंदरता है।

भारतीय-संस्कृति में संस्कारों के नवोन्मेष हेतु अनेक उदार-चेता मनस्वियों, धार्मिक-आचार्यों तथा महापुरुषों की संस्कार-विकासिनी वाणी का अभूतपूर्व संगम दृष्टिगोचर होता है। खरतरगच्छ के रुद्रपल्ली शाखा के एक महान् विद्वान् आचार्य वर्धमानसूरि ने भी आचारदिनकर जैसे ग्रन्थ की रचना कर जैन-संस्कृति और तत्कालीन समाज-व्यवस्था में प्रचलित विधि-विधानों को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। प्रथम खंड में गृहस्थ-जीवन के सोलह संस्कार, द्वितीय खंड में जैनमुनि-जीवन के विधि-विधानों का तथा इस तृतीय खंड में प्रतिष्ठा-विधि, शान्तिक-कर्म, पौष्टिक-कर्म, बलि-विधान, जो मूलतः कर्मकाण्डपरक हैं, का उल्लेख है। इसके चतुर्थ खंड में प्रायश्चित्त-विधि, षडावश्यक-विधि, तप-विधि और पदारोपण-विधि - ये चार प्रमुख उल्लेखित हैं, जो श्रावक एवं मुनि-जीवन की साधना से संबंधित हैं।

प्रज्ञासम्पन्न, ज्ञानोपासक डॉ. सागरमलजी के ज्ञान-गुण से निसरित ज्ञानरश्मियों का साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी ने भरपूर उपयोग कर आचारदिनकर जैस गुरुत्तर ग्रन्थ का भाषांतर राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में किया है, जो चार खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। यह कार्य श्लाघनीय एवं सराहनीय है।

साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी का यह पुरुषार्थ व्यक्ति की धवलता को ध्रुव बनाने में सहयोगी बने, ऐसी शुभेच्छा सह शुभाशीष है।

वीर निर्वाण दिवस
कार्तिक कृष्ण अमावस्या
विक्रम संवत् २०६३

जिनमहोदयसागरसूरि चरणरज
मुनि पीयूषसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"आशीर्वाद सह अनुमोदना"

खरतरगच्छ के शिरोमणि १५वीं सदी के मूर्धन्य विद्वान् एवं ज्ञानी श्री वर्धमानसूरिजी ने "आचारदिनकर" नामक इस महाग्रन्थ को प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में निबद्ध किया है। इसमें वर्णित विधि-विधानों का अनुसरण कर संघ का भविष्य समुज्जवल बने, व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को समझे एवं अपने आचार-विचार एवं संस्कारों से जीवनशैली को परिमार्जित करे।

ग्रन्थ के अनुवाद के सम्प्रेरक एवं प्रज्ञावान् डॉ. सागरमलजी सा. के दिशानिर्देशन में जैनकोकिला प्रवर्तिनी श्री विचक्षणश्रीजी म.सा. एवं पू. प्रवर्तिनी तिलकश्रीजी म.सा. की प्रशिष्या विदुद्वर्या मोक्षरत्नाश्रीजी ने जन-हिताय एवं आत्म-सुखाय इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है - प्रथम खण्ड में गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित सोलह संस्कारों को संजोया है, द्वितीय खण्ड में मुनि-जीवन से सम्बन्धित सोलह संस्कारों को ज्ञापित किया है तथा तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड में मुनि एवं गृहस्थ - दोनों के जीवन में उपयोगी - ऐसे आठ सुसंस्कारों को निबद्ध किया गया है। साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी ने इस अति दुरूह ग्रन्थ के द्वय खण्डों का अनुवाद कर उनका प्रकाशन करवा दिया है, जो पाठकगणों के हाथों में भी आ चुके हैं। अब इसका तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड प्रकाशित होने जा रहे हैं। वास्तव में साध्वी का यह पुरुषार्थ सफलता के शिखर पर पहुँच रहा है। शासनदेव, गुरुदेव एवं गुरुवर्याश्री के असीम आशीर्वाद से साध्वी ने अत्यल्पकाल में ही सम्पूर्ण ग्रन्थ को अनुवादित कर दिया है। रसिकजन इन भागों का आद्योपात अध्ययन एवं पारायण कर अपने जीवन को निर्मल बनाएं तथा अपने को सच्चा जैन सिद्ध करें, यही शुभभावना है। विदुषी आर्या के भगीरथ प्रयास से अनुवादित इन ग्रन्थों को देखने का अवसर मुझे मिला है, मैं इनकी भूरि-भूरि अनुमोदना करती हूँ एवं अन्तर्भावों से आशीर्वाद प्रदान करती हुई, उनके भावी तेजस्वी जीवन की मंगलकामना करती हूँ।

विचक्षणविणेया-महत्तरा विनीताश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"एक स्तुत्य प्रयास"

सम्यक् दर्शन ज्ञान है, सम्यक् चारित्र के आधार
सफल जीवन के सूत्र दो संयम और सदाचार
उच्च हृदय के भाव हों और हों शुद्ध विचार
अनुकरणीय आचार हो, हो वंदनीय व्यवहार
जैन गृहस्थ हो या मुनि, उच्च हों उसके संस्कार
इस हेतु 'आचारदिनकर' बने जीवन-जीने का आधार

"आचारदिनकर" ग्रंथ जैन साहित्य के क्षितिज में देदीप्यमान दिनकर की भांति सदा प्रकाशमान रहेगा। जैन-गृहस्थ एवं जैन-मुनि से सम्बन्धित विधि-विधानों एवं संस्कारों का उल्लेख करने वाला श्वेताम्बर-परम्परा का यह ग्रंथ निःसंदेह जैन-साहित्य की अनमोल धरोहर है। यह जैन-समाज में नई चेतना का संचार करने में सफल हो, साथ ही जीवन जीने की सम्यक् राह प्रदान करे। यह प्रसन्नता का विषय है कि विदुषी साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी द्वारा अनुवादित आचारदिनकर के अनुवाद का प्रकाशन बहुत सुंदर हो, यह शुभाषीश है। आपके प्रयासों हेतु कोटिशः साधुवाद।

गुरु विचक्षणचरणरज
चन्द्रकलाश्री एवं सुदर्शनाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"मंगलकामना सह शुभेच्छा"

जैन संस्कृति हृदय और बुद्धि के स्वस्थ समन्वय से मानव-जीवन को सरस, सुन्दर और मधुर बनाने का दिव्य संदेश देती है। विचारयुक्त आचार और आचार के क्षेत्र में सम्यक् विचार जैन-संस्कृति का मूलभूत सिद्धान्त है। किसी भी धर्म के दो अंग होते हैं - विचार और आचार। विचार धर्म की आधार-भूमि है, उसी विचार-धर्म पर आचार-धर्म का महल खड़ा होता है। विचार और आचार को जैन-परिभाषा में ज्ञान और क्रिया, श्रुत और चारित्र, विद्या और आचरण कहा जाता है। भगवान् महावीर ने जीवनशुद्धि के लिए जिस सरल- सहज धर्म को प्ररूपित किया, उसे हम मुख्यतः दो विभागों में बाँट सकते हैं - विचारशुद्धि का मार्ग तथा आचारशुद्धि का मार्ग। धर्म की परीक्षा मनुष्य के चरित्र से ही होती है। आचार हमारा जीवनतत्त्व है, जो व्यक्ति में, समाज में, परिवार में, राष्ट्र में और विश्व में परिव्याप्त है। जिस आचरण या व्यवहार से व्यक्ति से लेकर राष्ट्र एवं विश्व का हित और अभ्युदय हो, उसे ही संस्कारधर्म कहा जाता है।

खरतरगच्छीय आचार्य वर्धमानसूरि द्वारा विरचित आचारदिनकर का अनुवाद हमारी ही साध्वीवर्या श्री मोक्षरत्नाश्रीजी ने किया है। अनुवाद की शैली में यह अभिनव प्रयोग है। आचारदिनकर में प्रतिपादित जैन गृहस्थ एवं मुनि-जीवन के विधि-विधानों का अनुवाद कर साध्वीश्री ने जैन-परम्परा की एक प्राचीन विधा को समुद्घाटित किया है तथा रत्नत्रय की समुज्ज्वल साधना करते हुए जिनशासन एवं विचक्षण-मंडल का गौरव बढ़ाया है। प्रस्तुत ग्रंथ के पूर्व में प्रकाशित दो खण्डों (भागों) को देखकर आत्मपरितोष होता है। विषय-वस्तु ज्ञानवर्द्धक और जीवन की अतल गहराईयों को छूने वाली है। यह अनुवाद जिज्ञासुओं (पाठकगणों) के लिए मार्गदर्शक और जीवन को पवित्र बनाने की प्रेरणा प्रदान करेगा। लघुवय में साध्वी श्री मोक्षरत्नाजी ने डॉ. सागरमल जैन के सहयोग से ऐसे ग्रंथ को अनुवादित कर अपनी गंभीर अध्ययनशीलता एवं बहुश्रुतता का लाभ समाज को दिया है। यह अनुवाद जीवन-निर्माण में कीर्तिस्तम्भ हो, यही मंगलभावना सह शुभेच्छा है।

मानिकतल्ला दादाबाड़ी
कोलकाता

विचक्षण गुरु चरणरज
चन्द्रप्रभाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"मंगल आशीर्वाद"

साहित्य समाज का दर्पण होता है। जिस प्रकार दर्पण में देखकर हम अपना संस्कार कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार साहित्य भी जनमानस को संस्कारित करने में सक्षम होता है। भौतिकता की चकाचौंध में भ्रमित पथिकों को सत्साहित्य आत्मविकास का मार्ग दिखाता है। साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी ने कठिन परिश्रम करके आचारदिनकर का अनुवाद कर और उस पर शोधग्रन्थ लिखकर जिनशासन का गौरव बढ़ाया है।

विषय का तलस्पर्शी एवं सूक्ष्म ज्ञानार्जन करने के लिए लक्ष्य का निर्धारण करना आवश्यक होता है। अध्ययनशील बने रहने में श्रम एवं कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ता है। श्रमणपर्याय तो श्रम से परिपूर्ण हैं। साध्वीजी ने अथक् प्रयास करके जैन-साहित्य की सेवा का यह बहुत ही सराहनीय कार्य किया है।

अन्तःकरण से हम उन्हें यही मंगल आशीर्वाद देते हैं कि भविष्य में इसी प्रकार संयम-साधना के साथ-साथ साहित्य-साधना करती रहें।

विचक्षण पदरेणु
मनोहरश्री
मुक्तिप्रभाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"उर्मि अन्तर की"

जैन धर्म विराट् है। इसके सिद्धांत भी अति व्यापक और लोकहितकारी हैं। ऐसे ही सिद्धान्त-ग्रन्थ आचारदिनकर के हिन्दी अनुवाद का अब प्रकाशन हो रहा है, यह जानकर अतीव प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है।

प्रज्ञानिधान महापुरुषों द्वारा अपनी साधना से निश्रित वाणी ग्रन्थों के रूप में ग्रंथित हुई है। ज्ञान आत्मानुभूति का विषय है, उसे शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, किन्तु अथाह ज्ञानसागर में से ज्ञानीजन बूंद-बूंद का संग्रह कर उसे ज्ञान-पिपासुओं के समक्ष ग्रन्थरूप में प्रस्तुत करते हैं। यह अति सराहनीय कार्य है।

साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी ने अपने अध्ययनकाल के बीच इस अननुदित रचना को प्राकृत एवं संस्कृत से हिन्दी भाषा में अनुवादित कर न केवल इसे सरल, सुगम एवं सर्वउपयोगी बनाया, अपितु गृहस्थ एवं मुनियों के लिए विशिष्ट जानकारी का एक विलक्षण, अनुपम, अमूल्य उपहार तैयार किया है।

अन्तर्मन की गहराई से शुभकामना के साथ मेरा आशीर्वाद है कि साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी इसी प्रकार अपनी ज्ञानप्रतिभा को उजागर करते हुए तथा जिनशासन की सेवा में लीन रहते हुए, साहित्य-भण्डार में अभिवृद्धि करें। यही शुभाशीष है।

विशेष ज्ञानदाता डॉ. सागरमलजी साहब को इस ग्रंथ के अनुवाद में पूर्ण सहयोग हेतु, बहुत-बहुत साधुवाद।

विचक्षणश्री चरणोपासिका
सुरंजनाश्री, सिणधरी-२००६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"शुभाशंसा"

स्वाध्यायप्रेमी मोक्षरत्नाश्रीजी द्वारा अनुवादित आचारदिनकर ग्रंथ के तीसरे भाग का जो प्रकाशन किया जा रहा है, वह प्रशंसनीय, अनुमोदनीय एवं अनुकरणीय है। उनका यह परिश्रम सफल हो और जन-जन के मन में ज्ञान का दिव्य प्रकाश प्रसारित करे। उनकी यह साहित्य-यात्रा दिन प्रतिदिन प्रगति के पथ पर गतिमान हो, उनकी ज्ञान-साधना एवं संयमी-जीवन के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ।

वे सदा-सर्वदा संयम की सौरभ फैलाती हुई, ज्ञानार्जन करती रहें एवं अपनी प्रतिभा द्वारा जनमानस में वीरवाणी का प्रसार करती रहें, ऐसी शुभ मनोभावना है।

साथ ही वे खरतरगच्छसंघ एवं विचक्षण-मंडल में तिलक के समान चमकती रहें तथा अपनी मंजुल वाणी से भव्य जीवों में ज्ञान का प्रकाश फैलाते हुए उन्हें मोक्षाभिलाषी भी बनाती रहें।

यही शुभ आशीर्वाद।

विचक्षणशिशु मंजुलाश्री

"अनुमोदनीय प्रयास"

साध्वी श्री मोक्षरत्नाश्रीजी ने आचारदिनकर जैसे कठिन किंतु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद किया है, यह जानकर प्रसन्नता हो रही है। उनके द्वारा प्रेषित प्रथम भाग एवं द्वितीय भाग देखा। अब उसका तीसरा एवं चौथा भाग भी छप रहा है - यह जानकर प्रमोद हो रहा है। जिनशासन की सेवा परमात्मा की सेवा है और ज्ञानाराधना मोक्षमार्ग की साधना का ही अंग है। साध्वीजी के इस पुरुषार्थ से जैन-गृहस्थ और साधु-साध्वीगण हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत विधि-विधानों से परिचित हों और साधना-आराधना में प्रगति करें, यही शुभभावना है। साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी विचक्षण-मण्डल की ही सदस्या हैं, उनकी यह ज्ञानाभिरुचि निरन्तर वृद्धिगत होती रहे, यही शुभ-भावना है।

विचक्षणचरणरेणु
मणिप्रभाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"मंगलकामना"

जिनशासन में आचार की प्रधानता है। आचार के अपने विधि-विधान होते हैं। 'आचारदिनकर' ऐसे ही विधि-विधानों का एक ग्रन्थ है। साध्वीश्री मोक्षरत्नाश्रीजी ने डॉ. सागरमलजी जैन के सान्निध्य में शाजापुर जाकर इस ग्रन्थ पर न केवल शोधकार्य किया, अपितु मूलग्रन्थ के अनुवाद का कठिन कार्य भी चार भागों में पूर्ण किया है। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि उन्होंने सम्पूर्ण ग्रंथ का अनुवाद कर लिया है और उसका प्रथम और द्वितीय विभाग प्रकाशित भी हो चुका है, साथ ही उसके तीसरे एवं चौथे भाग भी प्रकाशित हो रहे हैं। आज श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक-परम्परा में जो विधि-विधान होते हैं, उन पर आचारदिनकर का बहुत अधिक प्रभाव देखा जाता है और इस दृष्टि से इस मूलग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होना एक महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसके माध्यम से हम पूर्व प्रचलित विधि-विधानों से सम्यक् रूप से परिचित हो सकेंगे। इसमें गृहस्थधर्म के षोडश-संस्कारों के साथ-साथ मुनि-जीवन के विधि-विधानों का उल्लेख तो है ही, साथ ही इसमें प्रतिष्ठा आदि सम्बन्धी विधि-विधान भी हैं, जो जैन-धर्म के क्रियाकाण्ड के अनिवार्य अंग हैं।

ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथ के हिन्दी अनुवाद के लिए साध्वीजी द्वारा किए गए श्रम की अनुमोदना करता हूँ और यह अपेक्षा करता हूँ कि वे सतत रूप से जिनवाणी की सेवा एवं ज्ञानाराधना में लगी रहें। यही मंगलकामना .....

कुमारपाल वी. शाह
कलिकुण्ड, धोलका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"हृदयोद्गार"

भारत संस्कृति प्रधान देश है। भारतीय संस्कृति की मुख्य दो धाराएँ रही है - १. श्रमण संस्कृति एवं २. वैदिक संस्कृति। इस संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए समय-समय पर अनेक ऋषि-मुनियों ने साहित्य का सर्जन कर समाज का दिग्दर्शन किया। प्राचीन काल के साहित्यों की यह विशेषता रही हैं कि उस समय जिन-जिन ग्रन्थों की रचना हुई, चाहे वे फिर आचार-विचार सम्बन्धी ग्रन्थ हों, विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थ हों या अन्य किसी विषय से सम्बद्ध ग्रन्थ, उन सभी की भाषा प्रायः मूलतः संस्कृत या प्राकृत रही, जो तत्कालीन जनसामान्य के लिए सुगम्य थी। तत्कालीन समाज उन ग्रन्थों का सहज रूप से अध्ययन कर अपने जीवन में उन आचारों को ढाल सकता था। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में वे ही ग्रंथ जनसामान्य के लिए दुरुह साबित हो रहे हैं। भाषा की अगम्यता के कारण हम उन ग्रंथों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन नहीं कर पा रहे, जिसके फलस्वरूप हमारे आचार-विचारों में काफी गिरावट आई हैं। अनभिज्ञता के कारण हम अपनी ही मूल संस्कृति को भूलते जा रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति में उन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सरल-सुबोध भाषा में लिखा जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस आवश्यकता को महसूस करते हुए समन्वय साधिका प.पू.प्र. महोदया स्व. श्री विचक्षण श्रीजी म.सा. की शिष्यारत्ना प.पू. हर्षयशा श्रीजी म.सा. की चरणोपासिका विद्वद्वर्या प.पू. मोक्षरत्ना श्रीजी म.सा. ने संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध आचारदिनकर नामक विशालकाय ग्रन्थ का सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद किया। वास्तव में उनका यह प्रयास प्रशंसनीय है। अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त, विद्वतवर्य डॉ. सागरमल जी सा. के दिशा-निर्देशन में साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी ने इतने अल्प समय में इस दुरुह ग्रंथ का अनुवाद कर न केवल अपनी कार्यकुशलता का ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिचय दिया हैं, बल्कि जिनशासन के गौरव में अभिवृद्धि करते हुए जयपुर, श्रीमाल समाज की शान को भी बढ़ाया है।

इस ग्रन्थ के प्रथम एवं द्वितीय भाग का प्रकाशन हो चुका है। द्वितीय भाग का विमोचन जब प.पू. विनिता श्रीजी म.सा. के महत्तरा पदारोहण के दरम्यान हुआ, तब मैं भी वही था। डॉ. सागरमलजी सा. के मुखारविंद से इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में तथा साध्वी जी के अथक परिश्रम के बारे में सुना एवं यह जाना कि अभी इस ग्रंथ के तीसरे एवं चौथे भाग का प्रकाशन कार्य शेष है तो उसी समय मन में एक भावना जागृत हुई कि इस तीसरी पुस्तक के प्रकाशन का लाभ क्यों ना मैं ही लूं ? उसी समय मैंने अपनी भावना श्रीसंघ के समक्ष अभिव्यक्त की। पूज्या श्री ने मेरी इस भावना को स्वीकार करते हुए इस सम्बन्ध में सहर्ष स्वीकृति प्रदान की।

इस ग्रन्थ के अनुवाद के प्रेरक, प्रज्ञा-दीपक, प्रतिभा सम्पन्न डॉ. सागरमलजी सा. भी अनुमोदना के पात्र है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अनुवाद के संपादन एवं संशोधन कार्य में उन्होंने अपना पूर्ण योगदान दिया है, उनके प्रति शाब्दिक धन्यवाद प्रकट करना उनके श्रम एवं सहयोग का सम्यक् मूल्यांकन नहीं होगा।

क्रियाराधको एवं शोधार्थियों के लिए उपयोगी इस ग्रन्थ के प्रकाशन की बेला में मैं साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी म.सा. के इस कार्य की पुनः प्रशंसा करते हुए, उनके यशस्वी जीवन की मंगल कामना करता हूँ।

रिखबचन्द झाड़झूड़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"सादर समर्पण"

साधक जीवन में श्रद्धा, विनय, विवेक और क्रिया आवश्यक है। जीवन को सार्थक करने के लिए हमें संस्कारों द्वारा अपने-आपको सुसंस्कारित करना चाहिए।

पूर्व भव में उपार्जित कुछ संस्कार व्यक्ति साथ में लाता है और कुछ संस्कारों का इस भव में संगति एवं शिक्षा द्वारा उपार्जन करता है; अतः गर्भ में आने के साथ ही बालक में विशुद्ध संस्कार उत्पन्न हों, इसलिए कुछ संस्कार-विधियाँ की जाती हैं। प्रस्तुत पुस्तक संस्कारों का विवेचन है। मूलग्रन्थ वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर है। साध्वी मोक्षरत्नाश्री ने इसका सुन्दर और सुबोध भाषा में अनुवाद किया है।

आचारदिनकर ग्रन्थ के प्रणेता खरतरगच्छ के आचार्य वर्धमानसूरि जी ने गृहस्थ एवं साधु-जीवन को सुघड़ बनाने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है। प्रथम भाग में गृहस्थ के एवं द्वितीय भाग में साधु-जीवन के सोलह संस्कारों का उल्लेख है तथा तीसरे एवं चौथे भाग में गृहस्थ एवं साधु-दोनों के द्वारा किए जाने वाले आठ संस्कारों का उल्लेख किया है। जैसे प्रतिष्ठा-विधि, प्रायश्चित्त-विधि, आवश्यक-विधि, आदि। यह संपूर्ण ग्रंथ बारह हजार पाँच सौ श्लोकों में निबद्ध है।

आचारदिनकर ग्रंथ का अभी तक सम्पूर्ण अनुवाद हुआ ही नहीं है। यह पहली बार अनुवादित रूप में प्रकाशित होने जा रहा है। जनहितार्थ साध्वीजी ने जो अथक पुरुषार्थ किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है।

विशेष रूप से मैं जब भी पूज्य श्री पीयूषसागरजी म.सा. से मिलती, तब वे एक ही बात कहते कि मोक्षरत्नाश्रीजी को अच्छी तरह पढ़ाओ, ताकि जिनशासन की अच्छी सेवा कर सके, उनकी सतत प्रेरणा ही साध्वीजी के इस महत् कार्य में सहायक रही है।

इसके साथ ही कर्मठ, सेवाभावी, जिनशासन के अनुरागी, प्राणी-मित्र कुमारपालभाई वी. शाह एवं बड़ौदा निवासी, समाजसेवक, गच्छ के प्रति सदैव समर्पित, अध्ययन हेतु निरंतर सहयोगी नरेशभाई शांतिलाल पारख, आप दोनों का यह निर्देश रहा कि म.सा. पढ़ाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना हो, तो आप शाजापुर डॉ. सागरमलजी जैन सा. के सान्निध्य में इनका अध्ययन कराएँ।

शाजापुर आने के बाद डॉ. सागरमलजी जैन सा. ने एक ही प्रश्न किया, म.सा. समय लेकर आए हो कि बस उपाधि प्राप्त करनी है। हमने कहा कि हम तो सबको छोड़कर आपकी निश्रा में आए हैं। आप जैसा निर्देश करेंगे, वही करेंगे। उन्होंने साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी को जो सहयोग एवं मार्गदर्शन दिया है, वह स्तुत्य है। यदि उन्होंने आचारदिनकर के अनुवाद करने का कार्य हमारे हाथ में नहीं दिया होता, तो शायद यह रत्नग्रन्थ आप लोगों के समक्ष नहीं होता। इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहें - यह महान् कार्य उनके एवं साध्वीजी के अथक श्रम का परिणाम है।

इस अवसर पर पूज्य गुरुवर्याओ श्री समतामूर्ति प.पू. विचक्षण श्रीजी म.सा. एवं आगमरश्मि प.पू. तिलकश्रीजी म.सा. की याद आए बिना नहीं रहती। यदि आज वे होते, तो इस कार्य को देखकर अतिप्रसन्न होते। उनके गुणों को लिखने में मेरी लेखनी समर्थ नहीं है। विश्व के उदयांचल पर विराट् व्यक्तित्वसंपन्न दिव्यात्माएँ कभी-कभी ही उदित होती हैं, किन्तु उनके ज्ञान और चारित्र का भव्य प्रकाश आज भी चारों दिशाओं को आलोकित करता रहता है। आप गुरुवर्याओं का संपूर्ण जीवन ही त्याग, तप एवं संयम की सौरभ से ओत-प्रोत था, जैसे पानी की प्रत्येक बूंद प्यास बुझाने में सक्षम है, वैसे ही आप गुरुवर्याओ श्री के जीवन का एक-एक क्षण अज्ञानान्धकार में भटकने वाले समाज के लिए प्रकाशपुंज है। वे मेरे जीवन की शिल्पी रहीं हैं।

ऐसी महान् गुरुवर्याओं का पार्थिव शरीर आज हमारे बीच नहीं है, परन्तु अपनी ज्ञानज्योति द्वारा वे आज भी हमें आलोकित कर रहीं हैं।

उन ज्ञान-पुंज चारित्र-आत्माओं के चरणों में भावभरी हार्दिक श्रद्धांजली के साथ-साथ यह कृति भी सादर समर्पित है।

विचक्षणचरणरज
हर्षयशाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"कृतज्ञता ज्ञापन"

भारतीय-संस्कृति संस्कार-प्रधान है। संस्कारों से ही संस्कृति बनती है। प्राचीनकाल से ही भारत अपनी समृद्ध संस्कृति के लिए विश्वपूज्य रहा है। भारत की इस सांस्कृतिक-धारा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए भारतीय-विद्वानों ने समय-समय पर अनेक ग्रंथों की रचना कर अपनी इस संस्कृति का पोषण किया है। संस्कार सम्बन्धी विधि-विधानों से युक्त वर्धमानसूरिकृत 'आचारदिनकर' भी एक ऐसी ही महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें भारतीय-सांस्कृतिक-चेतना को पुष्ट करने वाले चालीस विधि-विधानों का विवेचन मिलता है। इसमें मात्र बाह्य विधि-विधानों की ही चर्चा नहीं है, वरन् आत्मविशुद्धि करने वाले धार्मिक एवं आध्यात्मिक विधि-विधानों का भी समावेश ग्रंथकार ने किया है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस ग्रन्थ की प्रासंगिकता को देखते हुए मैंने इस ग्रंथ का भावानुवाद सुबोध हिन्दी भाषा में करने का एक प्रयास किया है।

मेरा अनुवाद कैसा है ? यह तो सुज्ञ पाठक ही निर्णय करेंगे। मैंने अपने हिन्दी-अनुवाद को मूलग्रंथ के भावों के आस-पास ही रखने का प्रयत्न किया है। विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थ के अनुवाद का यह मेरा प्रथम प्रयास है। मूल मुद्रित प्रति में अनेक अशुद्ध पाठ होने के कारण तथा मेरे अज्ञानवश अनुवाद में त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है। यह भी सम्भव है कि ग्रंथकार की भावना के विरुद्ध अनुवाद में कुछ लिखा गया हो, उस सबके लिए मैं विद्वत्वर्ग से करबद्ध क्षमा-याचना करती हूँ।

प्रज्ञामनीषी प.पू. जम्बूविजयजी म.सा. ने इस ग्रन्थ के अनेक संशयस्थलों का समाधान प्रदान करने की महती कृपा की, एतदर्थ उनके प्रति भी मैं अन्तःकरण से आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

इस पुनीत कार्य में उपकारियों के उपकार को कैसे भूला जा सकता है। इस ग्रंथ के अनुवाद में प्रत्यक्षतः परिश्रम भले मेरा दिखाई देता हो, किन्तु उसके पीछे आत्मज्ञानी, महान् साधिका, समतामूर्ति, परोपकारवत्सला गुरुवर्या श्रीविचक्षणश्रीजी म.सा. के परोक्ष शुभाशीर्वाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो हैं ही। इस कार्य में परम श्रद्धेय प्रतिभापुंज, मधुरभाषी पूज्यश्री पीयूषसागरजी म.सा. की सतत प्रेरणा मुझे मिलती रही है। उनके प्रेरणाबल की चर्चा कर मैं उनके प्रति अपनी आत्मीय श्रद्धा को कम नहीं करना चाहती हूँ। ग्रंथ प्रकाशन के इन क्षणों में संयमप्रदाता प.पू. हर्षयशाश्रीजी म.सा. का उपकार भी मैं कैसे भूल सकती हूँ, जिनकी भाववत्सलता से मेरे जीवन का कण-कण आप्लावित है, वे मेरी दीक्षागुरु ही नहीं, वरन् शिक्षागुरु भी हैं। अनुवाद के प्रकाशन में उनका जो आत्मीय सहयोग मिला वह मेरे प्रति उनके अनन्य वात्सल्यभाव का साक्षी है। ग्रन्थ-प्रकाशन के इन सुखद क्षणों में आगममर्मज्ञ मूर्धन्य पंडित डॉ. सागरमलजी सा. का भी उपकार भूलाना कृतघ्नता ही होगी, उन्होंने हर समय इस अनुवाद-कार्य में मेरी समस्याओं का समाधान किया तथा निराशा के क्षणों में मेरे उत्साह का वर्द्धन किया। अल्प समय में इस गुरुतर ग्रंथ के अनुवाद का कार्य आपके दिशा-निर्देश एवं सहयोग के बिना शायद ही सम्भव हो पाता।

साधु-साध्वियों के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध हेतु पूर्ण समर्पित डॉ. सागरमलजी जैन द्वारा स्थापित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर द्वारा प्रदत्त आवास, निवास और ग्रन्थागार की पूरी सुविधाएँ भी इस कार्य की पूर्णता में सहायक रही हैं। श्री रिखबचन्द जी झाड़झूड़ मुम्बई, उपाध्यक्ष अ.भा. खरतरगच्छ महासंघ भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके अर्थ-सहयोग से ग्रन्थ का प्रकाशन-कार्य संभव हो सका है।

अन्त में उन सभी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोगियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने इस कार्य में अपना सहयोग प्रदान किया। भाई अमित ने इसका कम्प्यूटर-कम्पोजिंग एवं आकृति आफसेट ने इसका मुद्रणकार्य किया, एतदर्थ उन्हें भी साधुवाद।

मुझे विश्वास है, इस अनुवाद में अज्ञानतावश जो अशुद्धियाँ रह गई हैं, उन्हें सुधीजन संशोधित करेंगे।

शाजापुर,

विचक्षणहर्षचरणरज
मोक्षरत्नाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

!! भूमिका !!

किसी भी धर्म या साधना पद्धति के दो पक्ष होते है - १. विचार पक्ष और २. आचार पक्ष। जैन धर्म भी एक साधना पद्धति है। अतः उसमें भी इन दोनों पक्षों का समायोजन पाया जाता है। जैन धर्म मूलतः भारतीय श्रमण परम्परा का धर्म है। भारतीय श्रमण परंपरा अध्यात्मपरक रही हैं और यही कारण हैं कि उसने प्रारम्भ में वैदिक कर्मकाण्डीय परम्परा की आलोचना भी की थी, किन्तु कालान्तर में वैदिक परम्परा के कर्मकाण्डों का प्रभाव उस पर भी आया। यद्यपि प्राचीन काल में जो जैन आगम ग्रन्थ निर्मित हुए, उनमें आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षाएँ ही प्रधान रही हैं, किन्तु कालान्तर में जो जैन ग्रन्थ निर्मित हुए उनमें वैदिक परम्परा के प्रभाव से कर्मकाण्ड का प्रवेश भी हुआ। पहले गौण रूप में और फिर प्रकट रूप में कर्मकाण्ड परक ग्रन्थ जैन परम्परा में भी लिखे गए। भारतीय वैदिक परम्परा में यज्ञ-याग आदि के साथ-साथ गृही जीवन के संस्कारों का भी अपना स्थान रहा हैं और प्रत्येक संस्कार के लिए यज्ञ-याग एवं तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड एवं उसके मंत्र भी प्रचलित रहे हैं। मेरी यह सुस्पष्ट अवधारणा हैं, कि जैन परम्परा में षोडश संस्कारों का और उनके विधि-विधान का जो प्रवेश हुआ है, वह मूलतः हिन्दू परम्परा के प्रभाव से ही आया हैं। यद्यपि परम्परागत अवधारणा यही है, कि गृहस्थों के षोडश संस्कार और उनके विधि-विधान भगवान ऋषभदेव के द्वारा प्रवर्तित किए गए थे। आचारदिनकर में भी वर्धमानसूरि ने इसी परम्परागत मान्यता का उल्लेख किया है। जहाँ तक जैन आगमों का प्रश्न है, उसमें कथापरक आगमों में गर्भाधान संस्कार का तो कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु उनमें तीर्थंकरों के जीव के गर्भ में प्रवेश के समय माता द्वारा स्वप्न दर्शन के उल्लेख मिलते है। इसके अतिरिक्त जातकर्म संस्कार, सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार, षष्ठी संस्कार, नामकरण संस्कार, विद्याध्ययन संस्कार आदि कुछ संस्कारों के उल्लेख भी उनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलते है, किन्तु वहाँ तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी इससे इतना तो सिद्ध होता है कि उस काल में जैन परम्परा में भी संस्कार सम्बन्धी कुछ विधान किए जाते थे। यद्यपि मेरी अवधारणा यही है कि जैन समाज के बृहद् हिन्दू समाज का ही एक अंग होने के कारण जन सामान्य में प्रचलित जो संस्कार आदि की सामाजिक क्रियाएँ थी, वे जैनों द्वारा भी मान्य थी। किन्तु ये संस्कार जैन धर्म की निवृत्तिपरक साधना विधि का अंग रहे होंगे, यह कहना कठिन हैं।

जहाँ तक संस्कार सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रंथों की रचना का प्रश्न है, वे आगमिकव्याख्याकाल के पश्चात् निर्मित होने लगे थे। किन्तु उन ग्रंथों में भी गृहस्थ जीवन सम्बन्धी षोडश संस्कारों का कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता हैं। मात्र दिगम्बर परम्परा में भी जो पुराणग्रन्थ हैं, उनमें इन संस्कारों के विधि-विधान के मात्र संसूचनात्मक कुछ निर्देश ही मिलते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हरिभद्र (लगभग आठवीं शती) के ग्रन्थ जैसे अष्टकप्रकरण, पंचाशक प्रकरण, पंचवस्तु आदि में भी विधि-विधान सम्बन्धी कुछ उल्लेख तो मिलते है, किन्तु उनमें जो विधि-विधान सम्बन्धी उल्लेख हैं वे प्रथमतः तो अत्यन्त संक्षिप्त हैं और दूसरे उनमें या तो जिनपूजा, जिनभवन निर्माण, जिनयात्रा, मुनिदीक्षा आदि से सम्बन्धित ही कुछ विधि-विधान मिलते है या फिर मुनि आचार सम्बन्धी कुछ विधि-विधानों का उल्लेख उनमें हुआ है। गृहस्थ के षोडश संस्कारों का सुव्यवस्थित विवरण हमें आचार्य हरिभद्र के ग्रंथों में भी देखने को नहीं मिलता हैं। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् नवमीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक मुनि आचार सम्बन्धी अनेक ग्रंथो की रचना हुई। जैसे - पादलिप्तसूरिकृत निर्वाणकलिका, जिनवल्लभसूरि विरचित संघपट्टक, चन्द्रसूरि की सुबोधासमाचारी, तिलकाचार्यकृत समाचारी, हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र, समयसुन्दर का समाचारीशतक आदि कुछ ग्रन्थ है। किन्तु ये सभी ग्रन्थ भी साधना परक और मुनिजीवन से सम्बन्धित आचार-विचार का ही उल्लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से विधि-विधान सम्बन्धी जिन ग्रन्थों की रचना हुई उसमें 'विधिमार्गप्रपा' को एक प्रमुख ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता हैं। किन्तु इस में भी जो विधि-विधान वर्णित है, उनका सम्बन्ध मुख्यतः मुनि आचार से ही हैं या फिर किसी सीमा तक जिनभवन, जिनप्रतिमा, प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित उल्लेख हैं। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में पं. आशाधर के सागरधर्मामृत एवं अणगारधर्मामृत में तथा प्रतिष्ठाकल्प में कुछ विधि-विधानों का उल्लेख हुआ हैं। सागारधर्मामृत में गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित कुछ विधि-विधान चर्चित अवश्य हैं, किन्तु उसमें भी गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, षष्ठीपूजा, अन्नप्राशन, कर्णवेध आदि का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता हैं। गृहस्थ जीवन, मुनिजीवन और सामान्य विधि-विधान से सम्बन्धित मेरी जानकारी में यदि कोई प्रथम ग्रन्थ हैं तो वह वर्धमानसूरीकृत आचारदिनकर (वि.सं. १४६८) ही हैं।

ग्रन्थ के रचियता और रचनाकाल -

जहाँ तक इस ग्रन्थ के रचियता एवं रचना काल का प्रश्न हैं, इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि वि.स. १४६८ में जालंधर नगर (पंजाब) में इस ग्रन्थ की रचना हुई। ग्रन्थ प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि द्वारा रचित हैं। अभयदेवसूरि और वर्धमानसूरि जैसे प्रसिद्ध नामों को देखकर सामान्यतयाः चन्द्रकुल के वर्धमानसूरि, नवांगीटीकाकार अभयदेवसूरि का स्मरण हो आता हैं, किन्तु आचारदिनकर के कर्त्ता वर्धमानसूरि इनसे भिन्न हैं। अपनी सम्पूर्ण वंश परम्परा का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने को खरतरगच्छ की रूद्रपल्ली शाखा के अभयदेवसूरी (तृतीय) का शिष्य बताया है। ग्रन्थ प्रशस्ति में उन्होंने जो अपनी गुरु परम्परा सूचित की है, वह इस प्रकार है :-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र

देवचन्द्रसूरि

नेमीचन्द्रसूरि

उद्योतनसूरि

वर्धमानसूरि

जिनेश्वरसूरि

अभयदेवसूरि (प्रथम)

जिनवल्लभसूरि

इसके पश्चात् जिनवल्लभ के शिष्य जिनशेखर से रूद्रपल्ली शाखा की स्थापना को बताते हुए, उसकी आचार्य परम्परा निम्न प्रकार से दी है :-

जिनशेखरसूरि

पद्मचंद्रसूरि

विजयचंद्रसूरि

अभयदेवसूरि (द्वितीय) (१२वीं से १३वीं शती)

देवभद्रसूरि

प्रभानंदसूरि (वि.सं. १३११)

श्रीचंद्रसूरि (वि.सं. १३२७)

जिनभद्रसूरि

जगततिलकसूरि

गुणचन्द्रसूरि (१४१५-२१)

अभदेवसूरि (तृतीय)

जयानंदसूरि — वर्धमानसूरि (१५वीं शती)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति में वर्धमानसूरि ने जो अपनी गुरु परम्परा दी है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे खरतरगच्छ की रूद्रपल्ली शाखा से सम्बन्धित थे। ज्ञातव्य हैं कि जिनवल्लभसूरि के गुरु भ्राता जिनशेखरसूरि ने जिनदत्तसूरि द्वारा जिनचंद्रसूरि को अपने पट्ट पर स्थापित करने से रूष्ट होकर उनसे पृथक् हो गए और उन्होंने रूद्रपल्ली शाखा की स्थापना की। ऐसा लगता हैं कि जहाँ जिनदत्तसूरि की परम्परा ने उत्तर-पश्चिम भारत को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाया, वही जिनशेखर सूरि ने पूर्वोत्तर क्षेत्र को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाकर विचरण किया। रूद्रपल्ली शाखा का उद्भव लखनऊ और अयोध्या के मध्यवर्ती रूद्रपल्ली नामक नगर में हुआ और इसीलिए इसका नाम रूद्रपल्ली शाखा पड़ा। वर्तमान में भी यह स्थान रूदौली के नाम से प्रसिद्ध हैं - इस शाखा का प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी उत्तरप्रदेश, हरियाणा और पंजाब तक रहा। प्रस्तुत आचारदिनकर की प्रशस्ति से भी यह स्पष्ट हो जाता हैं कि इस ग्रन्थ की रचना पंजाब के जालंधर नगर के नंदनवन में हुई, जो रूद्रपल्ली शाखा का प्रभाव क्षेत्र रहा होगा। यह स्पष्ट है कि रूद्रपल्ली स्वतंत्र गच्छ न होकर खरतरगच्छ का ही एक विभाग था। साहित्यिक दृष्टि से रूद्रपल्ली शाखा के आचार्यों द्वारा अनेक ग्रंथों की रचना हुई। अभयदेवसूरि (द्वितीय) द्वारा जयन्तविजय महाकाव्य वि.स. १२७८ में रचा गया। अभयदेवसूरि (द्वितीय) के पट्टधर देवभद्रसूरि के शिष्य तिलकसूरि ने गौतमपृच्छावृत्ति की रचना की है। उनके पश्चात् प्रभानंदसूरि ने ऋषभपंचाशिकावृत्ति और वीतरागवृत्ति की रचना की। इसी क्रम में आगे संघतिलकसूरि हुए जिन्होंने सम्यक्त्वसप्ततिटीका, वर्धमानविद्याकल्प, षट्दर्शनसमुच्चयवृत्ति की रचना की। इनके द्वारा रचित ग्रंथों में वीरकल्प, कुमारपालचरित्र, शीलतरंगिनीवृत्ति, कन्यानयनमहावीरप्रतिमाकल्प (प्रदीप) आदि कृतियाँ भी मिलती है। कन्यानयनमहावीरप्रतिमाकल्प की रचना से भी यह स्पष्ट हो जाता हैं, कि इस शाखा का प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी उत्तरप्रदेश था, क्योंकि यह कल्प वर्तमान कन्नौज के भगवान महावीर के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनालय के सम्बन्ध में लिखा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्धमानसूरि जिस रूद्रपल्ली शाखा में हुए वह शाखा विद्वत मुनिजनों और आचार्यों से समृद्ध रही हैं और यही कारण हैं कि उन्होंने आचारदिनकर जैसे विधि-विधान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। आचारदिनकर के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता हैं कि उस पर श्वेताम्बर परम्परा के साथ ही दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव रहा हैं। यह स्पष्ट है कि पश्चिमी उत्तरप्रदेश और उससे लगे हुए बुन्देलखण्ड तथा पूर्वी हरियाणा में दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव था। अतः यह स्वाभाविक था कि आचारदिनकर पर दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव आये। स्वयं वर्धमानसूरि ने भी यह स्वीकार किया है, कि मैंने दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों तथा उनमें प्रचलित इन विधानों की जीवित परम्परा को देखकर ही इस ग्रंथ की रचना की है। ग्रन्थ प्रशस्तियों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रूद्रपल्ली शाखा लगभग बारहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आई और उन्नीसवीं शताब्दी तक अस्तित्व में बनी रही। यद्यपि यह सत्य हैं कि सोलहवीं शती के पश्चात् इस शाखा में कोई प्रभावशाली विद्वान आचार्य नहीं हुआ, किन्तु यति परम्परा और उसके पश्चात् कुलगुरु (मथेण) के रूप में यह शाखा लगभग उन्नीसवीं शताब्दी तक जीवित रही।

ग्रन्थकार वर्धमानसूरि का परिचय -

जहाँ तक प्रस्तुत कृति के रचियता वर्धमानसूरि का प्रश्न हैं, उनके गृही जीवन के सम्बन्ध में हमें न तो इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से और न किसी अन्य साधन से कोई सूचना प्राप्त होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनका जन्म रूद्रपल्ली शाखा के प्रभाव क्षेत्र में ही कही हुआ होगा। जालन्धर (पंजाब) में ग्रन्थ रचना करने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका विचरण और स्थिरता का क्षेत्र पंजाब और हरियाणा रहा होगा। इनके गुरु अभयदेवसूरि (तृतीय) द्वारा फाल्गुन सुद तीज, शुक्रवार वि.स. १४३२ में अंजनशलाका की हुई शान्तिनाथ भगवान की धातु की प्रतिमा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिनाथ जिनालय पूना में उपलब्ध हैं। इससे यह सुनिश्चित हैं कि वर्धमानसूरि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए। इनके गुरु अभयदेवसूरि द्वारा दीक्षित होने के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार की कोई शंका नहीं की जा सकती। किन्तु इनकी दीक्षा कब और कहाँ हुई इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना सम्भव नहीं है।

ग्रंथकर्त्ता और उसकी परम्परा की इस चर्चा के पश्चात् हम ग्रंथ के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे।

ग्रन्थ की विषयवस्तु -

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर नामक यह ग्रंथ संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में रचित है। भाषा की दृष्टि से इसकी संस्कृत भाषा अधिक प्रांजल नहीं हैं और न अलंकार आदि के घटाटोप से क्लिष्ट हैं। ग्रन्थ सामान्यतयाः सरल संस्कृत में ही रचित है। यद्यपि जहाँ-जहाँ आगम और प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रश्न उपस्थित हुआ है, वहाँ-वहाँ इसमें प्राकृत पद्य और गद्य अवतरित भी किए गए है। कहीं कहीं तो यह भी देखने में आया है कि प्राकृत का पूरा का पूरा ग्रन्थ ही अवतरित कर दिया गया है, जैसे प्रायश्चित्त विधान के सम्बन्ध में जीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प आदि ग्रन्थ उद्धृत हुए। ग्रन्थ की जो प्रति प्रथमतः प्रकाशित हुई है, उसमें संस्कृत भाषा सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ देखने में आती हैं - इन अशुद्धियों के कारण का यदि हम विचार करे तो दो संभावनाएँ प्रतीत होती हैं - प्रथमतः यह हो सकता हैं कि जिस हस्तप्रत के आधार पर यह ग्रन्थ छपाया गया हो वहीं अशुद्ध रही हो, दूसरे यह भी सम्भावना हो सकती हैं कि प्रस्तुत ग्रंथ का प्रुफ रीडिंग सम्यक् प्रकार से नहीं किया गया हो। चूँकि इस ग्रंथ का अन्य कोई संस्करण भी प्रकाशित नहीं हुआ है और न कोई हस्तप्रत ही सहज उपलब्ध है - ऐसी स्थिति में पूज्या साध्वी जी ने इस अशुद्ध प्रत के आधार पर ही यह अनुवाद करने का प्रयत्न किया हैं, अतः अनुवाद में यत्र-तत्र स्खलन की कुछ सम्भावनाएँ हो सकती है। क्योंकि अशुद्ध पाठों के आधार पर सम्यक्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ का निर्धारण करना एक कठिन कार्य होता हैं। फिर भी इस दिशा में जो यह प्रयत्न हुआ हैं, वह सराहनीय ही कहा जाएगा।

यद्यपि जैन परम्परा में विधि-विधान से सम्बन्धित अनेक ग्रंथों की रचना हुई है। आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचवस्तु प्रकरण से लेकर आचारदिनकर तक विधि-विधान सम्बन्धी ग्रंथों की समृद्ध परम्परा रही हैं, किन्तु आचारदिनकर के पूर्व जो विधि-विधान सम्बन्धी ग्रंथ लिखे गए उन ग्रंथों में दो ही पक्ष प्रबल रहे - १. मुनि आचार सम्बन्धी ग्रंथ और २. पूजापाठ एवं प्रतिष्ठा सम्बन्धी ग्रन्थ। निर्वाणकलिका, विधिमार्गप्रपा, समाचारी, सुबोधासमाचारी आदि ग्रंथों में हमें या तो दीक्षा आदि मुनि जीवन से सम्बन्धित विधि-विधान का उल्लेख मिलता हैं या फिर मन्दिर एवं मूर्ति निर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा, मूर्ति पूजा आदि से सम्बन्धित विधि-विधानों का उल्लेख मिलता हैं। इन पूर्ववर्ती ग्रन्थों में श्रावक से सम्बन्धित जो विधि-विधान मिलते हैं, उनमें से मुख्य रूप से सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण एवं उपधान से सम्बन्धित ही विधि-विधान मिलते है। सामान्यतः गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित संस्कारों के विधि-विधानों का उनमें प्रायः अभाव ही देखा जाता हैं। यद्यपि आगम युग से ही जन्म, नामकरण आदि सम्बन्धी कुछ क्रियाओं (संस्कारों) के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु तत्संबन्धी जैन परम्परा के अनुकूल विधि-विधान क्या थे ? इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती है।

दिगम्बर परम्परा के पुराण साहित्य में भी इन संस्कारों के उल्लेख तथा उनके करने सम्बन्धी कुछ निर्देश तो मिलते हैं, किन्तु वहाँ भी एक सुव्यवस्थित समग्र विधि-विधान का प्रायः अभाव ही देखा जाता हैं। वर्धमानसूरि का आचारदिनकर जैन परम्परा का ऐसा प्रथम ग्रंथ हैं, जिसमें गृहस्थ के षोडश संस्कारों सम्बधी विधि-विधानों का सुस्पष्ट विवेचन हुआ है।

आचारदिनकर नामक यह ग्रंथ चालीस उदयों में विभाजित हैं। आचार्य वर्धमानसूरि ने स्वयं ही इन चालीस उदयों को तीन भागों में वर्गीकृत किया हैं। प्रथम विभाग में गृहस्थ सम्बन्धी षोडश संस्कारों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन हैं, दूसरे विभाग में मुनि जीवन से सम्बन्धित षोडश संस्कारों का विवेचन हैं और अन्तिम तृतीय विभाग के आठ उदयों में गृहस्थ और मुनि दोनों द्वारा सामान्य रूप से आचरणीय आठ विधि-विधानों का उल्लेख हैं। इस ग्रन्थ में वर्णित चालीस विधि-विधानों को निम्न सूची द्वारा जाना जा सकता हैं :-

(अ) गृहस्थ सम्बन्धी	(ब) मुनि सम्बन्धी	(स) मुनि एवं गृहस्थ सम्बन्धी
१ गर्भाधान संस्कार	१ ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण संस्कार	१ प्रतिष्ठा विधि
२ पुंसवन संस्कार	२ क्षुल्लक विधि	२ शान्तिक-कर्म विधि
३ जातकर्म संस्कार	३ प्रव्रज्या विधि	३ पौष्टिक-कर्म विधि
४ सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार	४ उपस्थापना विधि	४ बलि विधान
५ क्षीराशन संस्कार	५ योगोद्वहन विधि	५ प्रायश्चित्त विधि
६ षष्ठी संस्कार	६ वाचनाग्रहण विधि	६ आवश्यक विधि
७ शुचि संस्कार	७ वाचनानुज्ञा विधि	७ तप विधि
८ नामकरण संस्कार	८ उपाध्यायपद स्थापना विधि	८ पदारोपण विधि
९ अन्न प्राशन संस्कार	९ आचार्यपद स्थापना विधि	-
१० कर्णवेध संस्कार	१० प्रतिमाउद्वहन विधि	-
११ चूडाकरण संस्कार	११ व्रतिनी व्रतदान विधि	-
१२ उपनयन संस्कार	१२ प्रवर्तिनीपद स्थापना विधि	-
१३ विद्यारम्भ संस्कार	१३ महत्तरापद स्थापना विधि	-
१४ विवाह संस्कार	१४ अहोरात्र चर्या विधि	-
१५ व्रतारोपण संस्कार	१५ ऋतुचर्या विधि	-
१६ अन्त्य संस्कार	१६ अन्तसंलेखना विधि	-

तुलनात्मक विवचेन -

जहाँ तक प्रस्तुत कृति में वर्णित गृहस्थ जीवन सम्बन्धी षोडश संस्कारों का प्रश्न हैं, ये संस्कार सम्पूर्ण भारतीय समाज में प्रचलित रहे हैं, सत्य यह है कि ये संस्कार धार्मिक संस्कार न होकर सामाजिक संस्कार रहे हैं और यही कारण है कि भारतीय समाज के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण धर्मों में भी इनका उल्लेख मिलता हैं। जैन परम्परा के आगमों जैसे ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक, राजप्रश्नीय, कल्पसूत्र आदि में इनमें से कुछ संस्कारों का जैसे जातकर्म या जन्म संस्कार, सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार, षष्ठी संस्कार, नामकरण संस्कार, विद्यारम्भ संस्कार आदि का उल्लेख मिलता हैं, फिर भी जहाँ तक जैन आगमों का प्रश्न हैं उनमें मात्र इनके नामोल्लेख ही है। तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का विस्तृत विवेचन नहीं है। जैन आगमों में गर्भाधान संस्कार का उल्लेख न होकर शिशु के गर्भ में आने पर माता द्वारा स्वप्नदर्शन का ही उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार विवाह के भी कुछ उल्लेख है, किन्तु उनमें व्यक्ति के लिए विवाह की अनिवार्यता का प्रतिपादन नहीं है और न तत्सम्बन्धी किसी विधि विधान का उल्लेख हैं। दिगम्बर परम्परा के पुराण ग्रंथों में भी इनमें से अधिकांश संस्कारों का उल्लेख हुआ हैं, किन्तु उपनयन आदि संस्कार जो मूलतः हिन्दू परम्परा से ही सम्बन्धित रहे हैं, उनके उल्लेख विरल है। दिगम्बर परम्परा में मात्र यह निर्देश मिलता हैं कि भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने व्रती श्रावकों को स्वर्ण का उपनयन सूत्र प्रदान किया था। वर्तमान में भी दिगम्बर परम्परा में उपनयन (जनेउ) धारण की परम्परा है। इस प्रकार जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही प्रमुख परम्पराओं में एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में इन संस्कारों के निर्देश तो हैं, किन्तु मूलभूत ग्रन्थों में तत्सम्बन्धी किसी भी विधि-विधान का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। वर्धमानसूरि की प्रस्तुत कृति का यह वैशिष्ट्य है, कि उसमें सर्वप्रथम इन षोडश संस्कारों का विधि-विधान पूर्वक उल्लेख किया गया है। जहाँ तक मेरी जानकारी हैं, वर्धमानसूरिकृत इस आचारदिनकर नामक ग्रन्थ से पूर्ववर्ती किसी भी जैन ग्रन्थ में इन षोडश संस्कारों का विधि-विधान पूर्वक उल्लेख नहीं हुआ। मात्र यहीं नहीं परवर्ती ग्रन्थों में भी ऐसा सुव्यवस्थित विवेचन उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में षोडश संस्कार विधि, जैन विवाहविधि आदि के विधि-विधान से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थ हिन्दी भाषा में प्रकाशित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, किन्तु जहाँ तक मेरी जानकारी है, श्वेताम्बर परम्परा में वर्धमानसूरि के पूर्व और उनके पश्चात् भी इन षोडश संस्कारों से सम्बन्धित कोई ग्रन्थ नही लिख गया । इस प्रकार जैन परम्परा में षोडश संस्कारों का विधिपूर्वक उल्लेख करने वाला यही एकमात्र अद्वितीय ग्रन्थ हैं। वर्धमानसूरि की यह विशेषता हैं, कि उन्होंने गर्भाधान संस्कार को हिन्दू परम्परा के सीमान्त संस्कार के पूर्व रूप में स्वीकार किया हैं और यह माना हैं कि गर्भ के स्पष्ट लक्षण प्रकट होने पर ही यह संस्कार किया जाना चाहिए। इस प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत गर्भाधान संस्कार वस्तुतः गर्भाधान संस्कार न होकर सीमान्त संस्कार का ही पूर्व रूप हैं। वर्धमानसूरि ने गृहस्थ सम्बन्धी जिन षोडश संस्कारों का विधान किया हैं, उनमें से व्रतारोपण को छोड़कर शेष सभी संस्कार हिन्दू परम्परा के समरूप ही प्रस्तुत किए गए हैं, यद्यपि संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान में जैनत्व को प्रधानता दी गई हैं और तत्सम्बन्धी मंत्र भी जैन परम्परा के अनुरूप ही प्रस्तुत किए गए हैं।

वर्धमानसूरि द्वारा विरचित षोडश संस्कारों और हिन्दू परम्परा में प्रचलित षोडश संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि इस ग्रन्थ में हिन्दू परम्परा के षोडश संस्कारों का मात्र जैनीकरण किया गया हैं। किन्तु जहाँ हिन्दू परम्परा में विवाह संस्कार के पश्चात् वानप्रस्थ संस्कार का उल्लेख होता है, वहाँ वर्धमानसूरि ने विवाह संस्कार के पश्चात् व्रतारोपण संस्कार का उल्लेख किया है। व्रतारोपण संस्कार वानप्रस्थ संस्कार से भिन्न है, क्योंकि यह गृहस्थ जीवन में ही स्वीकार किया जाता हैं। पुनः वह ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण और क्षुल्लक दीक्षा से भी भिन्न हैं, क्योंकि दोनों में मौलिक दृष्टि से यह भेद है कि ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण तथा क्षुल्लक दीक्षा दोनों में ही स्त्री का त्याग अपेक्षित होता हैं, जबकि वानप्रस्थाश्रम स्त्री के साथ ही स्वीकार किया जाता हैं। यद्यपि उसकी क्षुल्लक दीक्षा से इस अर्थ में समानता हैं कि दोनों ही संन्यास की पूर्व अवस्था एवं गृह त्याग रूप हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के दूसरे खण्ड में मुनि जीवन से सम्बन्धित षोडश संस्कारों का उल्लेख हैं। इन संस्कारों में जहाँ एक ओर मुनि जीवन की साधना एवं शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विधि-विधान हैं, वही दूसरी ओर साधु-साध्वी के संघ संचालन सम्बन्धी विविध पद एवं उन पदों पर स्थापन की विधि दी गई है। मुनि जीवन से सम्बन्धित ये विधि-विधान वस्तुतः जैन संघ की अपनी व्यवस्था है। अतः अन्य परम्पराओं में तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का प्रायः अभाव ही देखा जाता है। वर्धमानसूरि के आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में यह विशेषता हैं कि वह मुनि की प्रव्रज्या विधि के पूर्व, ब्रह्मचर्य व्रत संस्कार और क्षुल्लक दीक्षा विधि को प्रस्तुत करता है। श्वेताम्बर परम्परा के उनसे पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार विधि-विधान का कहीं भी उल्लेख नहीं है, यद्यपि प्राचीन आगम ग्रंथों जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि में क्षुल्लकाचार नामक अध्ययन मिलते हैं, किन्तु वे मूलतः नवदीक्षित मुनि के आचार का ही विवेचन प्रस्तुत करते है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में ब्रह्मचर्य प्रतिमा और क्षुल्लक दीक्षा के निर्देश मिलते हैं और श्वेताम्बर परम्परा में भी गृहस्थों द्वारा ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार किया जाता है और तत्सम्बन्धी प्रतिज्ञा के आलापक भी है, किन्तु क्षुल्लक दीक्षा सम्बन्धी कोई विधि-विधान मूल आगम साहित्य में नहीं है मात्र तत्सम्बन्धी आचार का उल्लेख हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सामायिक चारित्र ग्रहण रूप जिस छोटी दीक्षा और छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण रूप बड़ी दीक्षा के जो उल्लेख हैं, वे प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रव्रज्याविधि और उपस्थापनाविधि के नाम से विवेचित है।

वर्धमानसूरि की यह विशेषता हैं कि वे ब्रह्मचर्य व्रत से संस्कारित या क्षुल्लक दीक्षा गृहीत व्यक्ति को गृहस्थों के व्रतारोपण को छोड़कर शेष पन्द्रह संस्कारों को करवाने की अनुमति प्रदान करते है। यहीं नहीं यह भी माना गया है कि मुनि की अनुपस्थिति में क्षुल्लक भी गृहस्थ को व्रतारोपण करवा सकता है। उन्होंने क्षुल्लक का जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप वर्णित किया है, वह भी वर्तमान में दिगम्बर परम्परा की क्षुल्लक दीक्षा से भिन्न ही हैं। क्योंकि दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक दीक्षा आजीवन के लिए होती है। साथ ही क्षुल्लक को गृहस्थ के संस्कार करवाने का अधिकार भी नहीं है। यद्यपि क्षुल्लक के जो कार्य वर्धमानसूरि ने बताए हैं, वे कार्य दिगम्बर परम्परा में भट्टारकों द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। गृहस्थ के विधि-विधानों की चर्चा करते हुए, उन्होंने जैन ब्राह्मण एवं क्षुल्लक का बार-बार उल्लेख किया है, इससे ऐसा लगता हैं कि प्रस्तुत कृति के निर्माण में दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव रहा है। स्वयं उन्होंने अपने उपोद्घात में भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मैंने श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित जीवन्त परम्परा को और उनके ग्रन्थों को देखकर इस ग्रन्थ की रचना की है। वर्धमानसूरि गृहस्थ सम्बन्धी संस्कार हेतु जैन ब्राह्मण की बात करते है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में जैन ब्राह्मण की कोई व्यवस्था रही है, ऐसा उस परम्परा के ग्रन्थों से ज्ञात नहीं होता है। संभावना यही है श्वेताम्बर परम्परा शिथिल यतियों के द्वारा वैवाहिक जीवन स्वीकार करने पर मत्थेण, गौरजी महात्मा आदि की जो परम्परा प्रचलित हुई थी और जो गृहस्थों के कुलगुरु का कार्य भी करते थे, वर्धमानसूरि का जैन ब्राह्मण से आशय उन्हीं से होगा। लगभग ५० वर्ष पूर्व तक ये लोग यह कार्य सम्पन्न करवाते थे।

इस कृति के तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड में मुनि एवं गृहस्थ दोनों से सम्बन्धित आठ संस्कारों का उल्लेख किया हैं, किन्तु यदि हम गंभीरता से विचार करें तो प्रतिष्ठा विधि, शान्तिक कर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलिविधान इन चार का सम्बन्ध मुख्यतः गृहस्थों से है, क्योंकि ये संस्कार गृहस्थों द्वारा और उनके लिए ही सम्पन्न किये जाते है। यद्यपि प्रतिष्ठा विधि की अवश्य कुछ ऐसी क्रियाएँ है, जिन्हें आचार्य या मुनिजन भी सम्पन्न करते हैं। जहाँ तक प्रायश्चित्त विधान का प्रश्न है, हम देखते हैं कि जैन आगमों में और विशेष रूप से छेदसूत्रों यथा व्यवहारसूत्र, निशीथसूत्र, जीतकल्प आदि में और उनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि में सामान्यतः मुनि की ही प्रायश्चित्त विधि का उल्लेख हैं। गृहस्थ की प्रायश्चित्त विधि का सर्वप्रथम उल्लेख हमें श्राद्धजीतकल्प में मिलता है। दिगम्बर परम्परा के छेदपिण्ड शास्त्र में भी मुनि के साथ-साथ गृहस्थ के प्रायश्चित्त सम्बन्धी विधि-विधान का उल्लेख है। आचारदिनकर में प्रायश्चित्त विधि को प्रस्तुत करते हुए वर्धमानसूरि ने अपनी तरफ से कोई बात न कह कर जीतकल्प, श्रावक जीतकल्प आदि प्राचीन ग्रंथों को ही पूर्णतः उद्धृत कर दिया है। आवश्यक विधि मूलतः श्रावक प्रतिक्रमण विधि और साधु प्रतिक्रमण विधि को ही प्रस्तुत करती है। जहाँ तक तप विधि का सम्बन्ध है, इसमें वर्धमानसूरि ने छः बाह्य एवं छः आभ्यन्तर तपों के उल्लेख के साथ-साथ आगम युग से लेकर अपने काल तक प्रचलित विभिन्न तपों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया हैं। जहाँ तक पदारोपण विधि का प्रश्न हैं, यह विधि मूलतः सामाजिक जीवन और राज्य प्रशासन में प्रचलित पदों पर आरोपण की विधि को ही प्रस्तुत करती है। इस विधि में यह विशेषता है कि इसमें राज्य-हस्ती, राज्य-अश्व आदि के भी पदारोपण का उल्लेख मिलता हैं। ऐसा लगता है कि वर्धमानसूरि ने उस युग में प्रचलित व्यवस्था से ही इन विधियों का ग्रहण किया है। जहाँ तक प्रतिष्ठा विधि, शान्तिक कर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलि विधान का प्रश्न है। ये चारों ही विधियाँ मेरी दृष्टि में जैनाचार्यों ने हिन्दू परम्परा से ग्रहीत करके उनका जैनीकरण मात्र किया गया है। क्योंकि प्रतिष्ठा विधि में तीर्थंकर परमात्मा को छोड़कर जिन अन्य देवी देवताओं जैसे - दिग्पाल, नवग्रह, क्षेत्रपाल, यक्ष-यक्षिणी आदि के जो उल्लेख है, वे हिन्दू परम्परा से प्रभावित लगते है या उनके समरूप भी कहे जा सकते है। ये सभी देवता हिन्दू देव मण्डल से जैन देव मण्डल में समाहित किये गये है। इसी प्रकार कूप, तडाग, भवन आदि की प्रतिष्ठा विधि भी उन्होंने हिन्दू परम्परा से ही ग्रहण की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार हम देखते है कि वर्धमानसूरि ने एक व्यापक दृष्टि को समक्ष रखकर जैन परम्परा और तत्कालीन समाज व्यवस्था में प्रचलित विविध-विधानों का इस ग्रन्थ में विधिवत् और व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया है । जैन धर्म में उनसे पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने साधु जीवन से सम्बन्धित विधि-विधानों का एवं जिनबिंब की प्रतिष्ठा से सम्बन्धित विधि-विधान पर तो ग्रन्थ लिखे थे, किन्तु सामाजिक जीवन से सम्बन्धित संस्कारों के विधि-विधानों पर इतना अधिक व्यापक और प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न सम्भवतः वर्धमानसूरि ने ही किया है। वस्तुतः जहाँ तक मेरी जानकारी है। समग्र जैन परम्परा में विधि-विधानों को लेकर आचारदिनकर ही एक ऐसा आकर ग्रन्थ हैं जो व्यापक दृष्टि से एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर विधि-विधानों का उल्लेख करता है।

आचारदिनकर विक्रमसंवत् १४६८ तद्नुसार ई. सन् १४१२ में रचित हैं। यह ग्रन्थ मूलतः संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में होने के कारण आधुनिक युग में न तो विद्वत ग्राह्य था और न जनग्राह्य। यद्यपि यह ग्रन्थ अपने मूल स्वरूप में प्रकाशित भी हुआ, किन्तु अनुवाद के अभाव में लोकप्रिय नहीं बन सका। दूसरे ग्रन्थ की भाषा संस्कृत एवं प्राकृत होने के कारण तथा उनमें प्रतिपादित विषयों के दुरूह होने के कारण इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी या गुजराती में आज तक कोई अनुवाद नहीं हो सका था। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का पुरानी हिन्दी में रूपान्तरण का एक प्रयत्न तो अवश्य हुआ, जो जैन तत्त्व प्रसाद में छपा भी था, किन्तु समग्र ग्रन्थ अनुदित होकर आज तक प्रकाश में नहीं आ पाया। साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी ने ऐसे दुरूह और विशालकाय ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में रूपान्तरण का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया हैं, उसके लिए वे निश्चित ही बधाई की पात्र है। इस ग्रन्थ के अनुवाद के लिए न केवल भाषाओं के ज्ञान की ही अपेक्षा थी, अपितु उसके साथ-साथ ज्योतिष एवं परम्परा के ज्ञान की भी अपेक्षा थी। साथ ही हमारे सामने एक कठिनाई यह भी थी, कि जो मूलग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, वह इतना अशुद्ध छपा था कि अर्थ बोध में अनेकशः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कठिनाईयाँ उपस्थित होती रही, अनेक बार साध्वी जी और मैं उन समस्याओं के निराकरण में निराश भी हुए फिर भी इस महाकाय ग्रन्थ का अनुवाद कार्य पूर्ण हो सका यह अति संतोष का विषय है। इस ग्रन्थ के प्रथम एवं द्वितीय खण्ड प्रकाशित होकर पाठकों के समक्ष आ चुके हैं। पूर्व में इस ग्रन्थ को मूलग्रन्थ के खण्डों के अनुसार तीन खण्डों में प्रकाशित करने की योजना थी, किन्तु तृतीय खण्ड अतिविशाल होने के कारण इसे भी दो भागों में विभाजित किया गया है। इस प्रकार अब यह ग्रन्थ चार खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। इसके तृतीय खण्ड में प्रतिष्ठा विधि, शान्तिक-कर्म, पौष्टिक-कर्म एवं बलि-विधान - इन चार विभागों को समाहित किया गया हैं तथा चतुर्थ खण्ड में प्रायश्चित्त-विधि, आवश्यक-विधि, तप-विधि एवं राजकीय पदारोपण-विधि - इन चार विधियों का समावेश किया गया है। जहाँ तक तृतीय खण्ड में उल्लेखित प्रतिष्ठाविधि, शान्तिककर्म, पौष्टिककर्म एवं बलिविधान का प्रश्न है इनका उल्लेख प्राचीन आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में प्रायः नहीं मिलता है, यहाँ तक कि आठवीं शती में हुए आचार्य हरिभद्र के काल तक भी कुछ संकेतों को छोड़कर प्रायः इनका अभाव ही है। इसके बाद परवर्ती कालीन जिन ग्रन्थों में इनके उल्लेख है, वे उल्लेख मूलतः वैदिक परम्परा से कुछ संशोधनों के साथ ग्रहीत प्रतीत होते हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में ये विधि-विधान लगभग तेरहवीं शती से देखने को मिलते है। सम्भवतः दसवीं शती में सोमदेव के इस उल्लेख के बाद से कि जिससे सम्यक्त्व की हानि न हो और व्रत दूषित न हो, वे सभी लौकिक विधि-विधान प्रमाण है - इस प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला और वैदिक एवं ब्राह्मण धारा में प्रचलित अनेक विधि-विधान क्वचित् संशोधनों के साथ यथावत् स्वीकार कर लिए गये। वर्धमानसूरि की प्रस्तुत कृति में वर्णित विधि-विधान भी इसी तथ्य के द्योतक है।

जहाँ तक चतुर्थ खण्ड में उल्लेखित प्रायश्चित्त-विधि, आवश्यक-विधि और तप-विधि का प्रश्न है ये तीनों विधियाँ आगम साहित्य में भी उल्लेखित है, यद्यपि प्रस्तुत कृति में उल्लेखित ये तीनों विधियाँ आगमों की अपेक्षा अधिक विकसित रूप में उल्लेखित हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनमें तप-विधि में अनेक ऐसे तपों का उल्लेख भी है, जो परवर्ती काल में विकसित हुए है और किसी सीमा तक हिन्दू परम्परा से प्रभावित भी लगते है। आचार्य वर्धमानसूरि ने इस ग्रन्थ के अन्त में प्रशासकीय दृष्टि से राजा, मन्त्री, सेनापति, राजकीय हस्ति, अश्व आदि की पदारोपण विधि दी है जो पूर्णतः लोकाचार से सम्बन्धित है। इस प्रकार प्रस्तुत कृति पर हिन्दू परम्परा और लोकाचार का भी पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

जिस प्रकार द्वितीय विभाग के कुछ अंशों के स्पष्टीकरण एवं परिमार्जन में हमें पूज्य मुनि प्रवरजम्बूविजयजी और पूज्य मुनि यशोविजयजी से सहयोग प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार इसके तृतीय खण्ड की प्रतिष्ठा विधि एवं चतुर्थ खण्ड की प्रायश्चित्त एवं आवश्यक विधि के सम्बन्ध में भी पूज्य मुनि प्रवर जम्बूविजयजी म.सा. का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार नक्षत्रशान्ति विधान एवं पदारोपण विधि के कुछ अंशों के स्पष्टीकरण में आदरणीय डॉ. मोहनजी गुप्त उज्जैन, उज्जैन के सुश्रावक बसंत जी सुराणा के माध्यम से उज्जैन के ज्योतिषाचार्य सर्वेश जी शर्मा एवं सुश्रावक रमेशजी लुणावत के माध्यम से महिदपुर के एक पण्डित जी का सहयोग प्राप्त हुआ है। यद्यपि जैन परम्परा के अनुरक्षण हेतु उनके सुझावों को पूर्णतया आत्मसात् कर पाना संभव नहीं था।

मूलप्रति की अशुद्धता तथा वर्तमान में इसके अनेक विधि-विधानों के प्रचलन में न होने से या उनकी विधियों से परिचित न होने के कारण उन स्थलों का यथासंभव मैंने और पूज्या साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी ने अपनी बुद्धि के अनुसार भावानुवाद करने का प्रयत्न किया है, हो सकता है कि इसमें कुछ स्खलनाएँ भी हुई हो। विद्वत् पाठकवृन्द से यह अपेक्षा है कि यदि उन्हें इसमें किसी प्रकार की अशुद्धि ज्ञात हो तो मुझे या पूज्या साध्वी जी को सूचित करे। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत कृति में पूज्य वर्धमानसूरि ने कुछ अंश लौकिक परम्परा से यथावत् लिये है, जो जैन परम्परा के अनुकूल नहीं है। ऐसे अंशों का अनुवाद आवश्यक नहीं होने से छोड़ दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। किन्तु इसमें पूज्या साध्वी जी की जिनशासन के प्रति पूर्ण निष्ठा ही एक मात्र कारण है।

मेरे लिए यह अतिसंतोष का विषय है कि विद्वत्जन जिस कार्य को चाहकर भी अभी तक नहीं कर सके थे, उसे मेरे सान्निध्य एवं सहयोग से पूज्या साध्वी श्री मोक्षरत्नाश्रीजी ने दिन-रात अथक परिश्रम करके अल्प समय में पूर्ण किया हैं। यह मेरे साथ-साथ उनके लिए भी आत्मतोष का ही विषय है। इस हेतु उन्होंने अनेक ग्रंथों का विलोडन करके न केवल यह अनुवाद कार्य सम्पन्न किया है, अपितु अपना शोधमहानिबन्ध भी पूर्ण किया है। यद्यपि मैंने इस ग्रन्थ का नाम उनके शोधकार्य के हेतु ही सुझाया था, किन्तु मूलग्रन्थ के अनुवाद के बिना यह शोधकार्य भी शक्य नहीं था। इसका अनुवाद उपलब्ध हो इस हेतु पर्याप्त प्रयास करने पर भी जब हमें सफलता नहीं मिली तो शोधकार्य के पूर्व प्रथमतः ग्रन्थ के अनुवाद की योजना बनाई गई। उसी योजना का यह सुफल है कि आज आचारदिनकर के ये चारों खण्ड हिन्दी भाषा में अनुवादित होकर प्रकाशित हो रहे हैं।

मेरे लिए यह भी अति संतोष का विषय है कि लगभग तीन वर्ष की इस अल्प अवधि में न केवल आचारदिनकर जैसे महाकाय ग्रन्थ का चार खण्डों में अनुवाद ही पूर्ण हुआ अपितु पूज्या साध्वीजी ने अपना शोधकार्य भी पूर्ण किया, जिस पर उन्हें जैन विश्वभारती संस्थान मान्य विश्वविद्यालय, लाड़नू से पी-एच. डी. की उपाधि भी प्राप्त हुई। वस्तुतः यह उनके अनवरत श्रम और विद्यानुराग का ही सुफल है, इस हेतु वे बधाई की पात्र हैं। विद्वत् वर्ग से मेरी यही अपेक्षा है कि इन चार खण्डों का समुचित मूल्यांकन कर साध्वीजी का उत्साहवर्धन करे। साथ ही साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्रीजी से भी यही अपेक्षा है कि वे इसी प्रकार जिनवाणी के अध्ययन, अनुशीलन एवं प्रकाशन में रूचि लेती रहे और जिन-भारती का भण्डार समृद्ध करती रहे।

माघ पूर्णिमा
वि.सं. २०६३
०२ जनवरी २००७

प्रो. सागरमल जैन
संस्थापक निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़ शाजापुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-अनुक्रमणिका
चतुर्थ खण्ड

उदय	क्रम	पृष्ठ संख्या
३७	प्रायश्चित्त-विधि	१
३८	आवश्यक-विधि	५३
३९	तप-विधि	२६७
४०	पदारोपण-विधि	३६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सैंतीसवाँ उदय
प्रायश्चित्त-विधि

अब प्रायश्चित्त की विधि बताते हैं, वह इस प्रकार है -

इस लोक में प्रायश्चित्त को प्रमादवश किए गए पापों की विशुद्धि का हेतु माना गया है। सामान्यतया क्रोध, मान, माया एवं लोभ के आवेगों तथा शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श से प्रेरित आत्मा जाने या अनजाने में जो पुण्य-पापरूप आचरण करती है और उनके फलों का जो विपाक होता है, उस फल-विपाक का क्षय प्रायश्चित्त से नहीं होता है, उन कर्मों के फल-विपाक को भवान्तर में भोगकर ही क्षय करना पड़ता है, किन्तु उग्र तपस्याएँ या मन-वचन और काया की सजगतापूर्वक शुक्लध्यान के द्वारा उन कर्मों का क्षय हो सकता है, अन्य किसी प्रकार से उन कर्मों का नाश नहीं हो सकता है। जैसा कि आगम में कहा गया हैं -''पूर्व में किए गए दुष्चिन्तित एवं दुष्प्रतिकान्त पापकर्मों के फल का वेदन किए बिना मोक्ष नहीं होता है। मात्र तप से ही उनके फल-विपाक के वेदन से छुटकारा मिल सकता है। अज्ञानतावश नाना प्रकार के भोगों को भोगते हुए या दूसरों के आदेशवश या भयवश या हास्यवश, अथवा नृपादि के बल के कारण, किंवा प्राण की रक्षा के लिए यां गुरु तथा संघ की बाधाओं को दूर करने के लिए या परवशता में या मिरगी, दुर्भिक्ष आदि संकटों में किए गए पापों का क्षय गीतार्थ सद्गुरु के समक्ष उनकी आलोचना करके एवं प्रायश्चित्त-विधि का सम्यक् आचरण करके ही हो सकता है। पापों का क्षय करने वाली प्रायश्चित्त की सम्यक् विधि तो केवलि भगवान् के अतिरिक्त कोई भी नहीं जानता है। जिस प्रकार शीघ्रता से फाड़े जाने वाले कपड़े के तन्तु के छेदन का काल जानना कठिन है, ठीक उसी प्रकार मन में उद्भव होने वाले शुभ-अशुभ परिणामों को जानना भी कठिन है। मन के परिणामों की गति तो बहुत ही सूक्ष्म है। मन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म असंख्य परिणामों के अंतर को जानना अतिकठिन है। वस्तुतः क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष एवं पाँचों इन्द्रियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयजन्य तथा मनोगत भावजन्य पातक का विश्लेषण कर उनके परिणामों को जानना तो और भी कठिन है, क्योंकि संख्यातीत भावों की गति विचित्र है, अतः केवलज्ञान के बिना चार ज्ञान के ज्ञाता के लिए भी इन संख्यातीत पापवृत्तियों की प्रायश्चित्त-विधि को जानना कठिन है। फिर भी इस दुषमकाल में श्रुत के अध्येता गीतार्थ द्वारा, अथवा श्रुत के अध्ययन द्वारा प्रायश्चित्त-विधि को किंचित् रूप से जाना जा सकता है, अतः प्रायश्चित्त ग्रहण करने से पूर्व गीतार्थ गुरु की गवेषणा करें।

शल्य के उद्धरण के निमित्त से गीतार्थ की गवेषणा में उत्कृष्ट रूप से क्षेत्र की अपेक्षा से सात सौ योजन तक जाएं और काल की अपेक्षा से बारह वर्ष तक गीतार्थ की खोज करें। जीवनपर्यन्त गुरु की सामान्य दशा में कल्प्य तथा अपवादमार्ग में अकल्प्य आहार, औषधि आदि के द्वारा उनकी सेवा करें, क्योंकि कहा गया है कि - यावत् जीवन गुरु की शुद्ध या अशुद्ध वस्तु से सेवा करनी चाहिए। वृषभमुनि (उपाध्याय आदि) की बारह वर्ष तक एवं सामान्य मुनि की अठारह मास तक सेवा करते हुए, यदि काल को प्राप्त हो जाए, तो उसे आलोचना का फल प्राप्त होता है। इस प्रकार बारह बरस के बीच सात सौ योजन तक आर्यदेशों में घूमते हुए यदि आलोचनाग्राही को उस काल में प्रवर्तित समस्त श्रुत को धारण करने वाले गीतार्थ गुरु की प्राप्ति हो जाए, तो वह आलोचना ग्रहण करे। उनकी आज्ञा के अनुसार विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करके वह उन पातकों से छुटकारा पा लेता है।

अब १. किसके द्वारा प्रायश्चित्त दिया जाए ? २. कौन उसे स्वीकार करे ? ३. प्रायश्चित्त का काल क्या है ? ४. प्रायश्चित्त नहीं करने के क्या दुष्परिणाम होते है ? ५. प्रायश्चित्त करने के क्या लाभ हैं ? तथा ६. प्रायश्चित्त ग्रहण करने की विधि क्या है ? - यह बताते हैं।

प्रायश्चित्त की अनुज्ञा (आदेश) देने वाले गुरु के लक्षण इस प्रकार हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण श्रुतपाठी हो, गीतार्थ हो, सम्पूर्ण योग किए हुए हो, सर्वशास्त्रों का व्याख्याता हो, छत्तीस गुणों से युक्त हो, शान्त हो, जितेन्द्रिय हो, बुद्धिमान हो, धीर हो, रोगादि से रहित हो, अनिन्दक हो, क्षमाशील हो, ध्याता हो, जितपरिश्रमी हो, तत्त्व के अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझकर धारण करने वाला हो, राजा और रंक में समान दृष्टि रखने वाला हो, सदैव श्रुत के आधार पर, अर्थात् उत्सूत्र की प्ररूपणा न हो - इसे दृष्टिगत रखकर शुभवचन बोलने वाला हो, प्रमादरहित हो, सदाचारी हो, क्रियावान् हो, निष्कपट हो, हास्य, भय, जुगुप्सा एवं शोक से रहित हो, किए गए पापों के परिमाण को मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के द्वारा जानने वाला हो, ... इत्यादि गुणों से युक्त गुरु ही प्रायश्चित्त प्रदान करने के योग्य होता है।

प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले के लक्षण -

संवेगवान् हो, गुणाकांक्षी हो, तत्त्वज्ञ हो, सरल हो, गुरुभक्त हो, आलस्य से रहित हो, शरीर में तप करने की क्षमता हो, बुद्धिमान् हो, स्मृतिवान् हो, अपने शुभ-अशुभ कर्मों को बताने वाला हो, जितेन्द्रिय हो, क्षमाशील हो, सभी कुछ प्रकट करने की क्षमता वाला हो, पाप-कथन में निर्लज्ज हो, स्वप्रशंसा का त्यागी हो, दूसरों पर किए गए उपकारों का गोपन करने वाला हो, अपने दुष्कृत का प्रकाशक हो, पापभीरू हो, पुण्यरूपी धन के प्रति आदरभाव रखने वाला हो, दयावान् हो, दृढ़सम्यक्त्वी हो, पर की उपेक्षा का वर्जन करने वाला हो - इस प्रकार के गुणों के धारक साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविकाएँ निश्चित रूप से आलोचना करने के योग्य होते हैं।

आलोचना ग्रहण करने का काल -

पक्ष में, चातुर्मास में, वर्ष में, प्रमादवशात् किए गए पापों के अन्त में, प्रवीण गुरु के प्राप्त होने पर, तीर्थ में, तप के आरम्भ में एवं किसी महोत्सव के आरम्भ में या अंत में, इत्यादि कालों में प्रायश्चित्त की प्ररूपणा करनी चाहिए।

प्रायश्चित्त नहीं करने के दोष -

यदि लज्जावश, प्रतिष्ठा के कारण, प्रमाद के कारण, गर्व के कारण, अनादर के कारण या मूढ़ता के कारण मनुष्य कभी भी पापों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की आलोचना नहीं करता है, तो उसका परिणाम यह होता है कि वह दोषों की खान बन जाता है। पाप की आलोचना किए बिना ही कदाचू उसकी मृत्यु हो जाती है, तो उस पाप के योग के कारण भवान्तर में उसको दुर्बुद्धि की प्राप्ति होती है। दुर्बुद्धि के कारण वह मूढ़ पुनः प्रचुर मात्रा में पाप करता है। उन पापों से वह सदैव दारिद्रय एवं दुःख को प्राप्त करता है। मरकर घोर नरकगति एवं पशुत्वरूप तिर्यंचगति को प्राप्त करता है तथा पतित एवं दुष्ट कुल में तथा अनार्यभूमि में उत्पन्न होता है, रोगयुक्त खण्डित अंग वाला होता है, प्रचुर मात्रा में पाप करने वाला होता है। उन पापों के द्वारा वह कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म के संश्रित हो जाता है। फिर पश्चाताप करने पर भी वह बोधिबीज को प्राप्त नहीं कर पाता है तथा निगोद, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि योनियों को प्राप्त करता है और अनंत संसार में भ्रमण करता हुआ कष्टमय जीवन व्यतीत करता है - इन दोषों को देखकर व्यक्ति को प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए।

प्रायश्चित्त करने के लाभ -

प्रायश्चित्त करने से सर्व पापों का शमन और सर्व दोषों का निवारण होता है। पुण्य एवं धर्म की वृद्धि होती है, आत्मसंतोष मिलता है, जीव का दोषरूपी शल्य काँटा निकल जाता है, निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है, पुण्य का संचय होता है और विघ्नों का नाश होता है, कीर्ति का विस्तार होता है तथा स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करने से उपर्युक्त फल की प्राप्ति होती है।

प्रायश्चित्त ग्रहण करने की विधि इस प्रकार है -

मृदु, ध्रुव, चर, क्षिप्र, नक्षत्र तथा मंगलवार एवं शनिवार के अतिरिक्त शेष वार, गोचरी तप, नंदी एवं आलोचना हेतु शुभ कहे गए हैं। शुभ नक्षत्र, तिथि, वार, लग्न एवं गुरु और शिष्य के चंद्रबल में आलोचना करने वाला साधु सर्व चैत्यों में चैत्यवंदन करे। फिर सभी साधुओं को वंदन करे और आयम्बिल तप करे। यदि आलोचना ग्रहण करने वाला गृहस्थ है, तो वह सर्व चैत्यों में बृहत्स्नात्र विधि से महापूजा करे, साधर्मिकवात्सल्य करे, संघपूजा करे एवं साधुओं को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपुल वस्त्र, अन्न, पान, पात्र एवं ज्ञान के उपकरण प्रदान करे। पुस्तक-पूजन एवं मण्डली-पूजन करे। तत्पश्चात् शुभ वेला के आने पर प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला साधु या श्रावक गुरु को प्रदक्षिणा देकर ईर्यापथिकी की आलोचना करके चार स्तुतियों से चैत्यवंदन करे। फिर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना एवं सर्व साधुओं को द्वादशावर्त्तवन्दन करके गुरु के आगे मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन कर कहे -"हे भगवन् ! मुझे आत्मशुद्धि करने की आज्ञा दीजिए। पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहे - "मैं शुद्धि का प्रतिग्रहण करूं ?" पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन कर कहे - "हे भगवन् ! मुझे आलोचना (प्रायश्चित्त) करने की आज्ञा दीजिए।" पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन कर कहे - "हे भगवन् ! मैं आलोचना करूं, इस हेतु आप मुझे आज्ञा दें।" तब गुरु कहे - "आलोचना करे।" "प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि के निमित्त मैं कायोत्सर्ग करता हूँ"- ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर वह कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चार बार चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोले। गुरु के आगे खड़े होकर तीन बार परमेष्ठीमंत्र पढ़े। तत्पश्चात् निम्न तीन गाथाएँ तीन-तीन बार बोले -

"वंदित्तु वद्धमाणं गोयमसामिं च जम्बुनामं च।
आलोअणाविहाणं वुत्थामि जहाणु पुव्वीए।।१।।

आलोयणादायव्वा कस्सवि केणावि कत्थ काले वा। के अ अदाणे दोसा हुंति गुणा के अदाणे वा।।२।।

जे मे जाणंति जिणा अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु। तेहं आलोएमि उवट्ठिओ सव्वकांलपि।।३।।"

- यह गाथा तीन बार बोले। यह गाथा बोलकर गुरु के आगे विनयपूर्वक आसन में बैठकर मुख को मुखवस्त्रिका से आच्छादित करके, आगे की तरफ हाथ करके अंजलिबद्ध करे, अर्थात् कली के समान हाथ जोड़कर जो भी दुष्कृत किए हैं तथा जो भी याद हैं, उन दुष्कृतों का कथन करे। गुरु भी समभावपूर्वक उन्हें सुनकर हृदय में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनका अवधारण करें। शिष्य भी कुछ न छिपाए। जैसा कि कहा गया है -

"जिस प्रकार बाल्यावस्था में बालक किए गए कार्य एवं अकार्य - सब कुछ बता देता है, उसी प्रकार आलोचना करने वाले को आलोचनाकाल में गुरु के समक्ष अपने कार्य एवं अकार्यों की आलोचना करनी चाहिए।"

तत्पश्चात् श्रुतगामी गुरु उसके सर्वदुष्कृतों को सुनकर अपनी मति के अनुसार तथा उसके द्वारा किए गए दुष्कृतों एवं परिस्थिति के अनुसार उसके योग्य कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण, तप आदि दसविध प्रायश्चित्तों को करने का आदेश दे। दसविध प्रायश्चित्त विधि का अनुचरण आगम में जिस प्रकार बताया गया है, गुरु उसी प्रकार से उसे बताए, जैसे -

१. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. उभय ४. विवेक ५. कायोत्सर्ग ६. तपयोग्य ७. छेदयोग्य ८. मूलयोग्य ९. अनवस्थाप्ययोग्य और १०. पारांचिकयोग्य - इस प्रकार आगम में उपर्युक्त दसविध प्रायश्चित्त-विधि बताई गई हैं।

आलोचना के योग्य प्रायश्चित्त निम्न हैं -

मुनि के लिए अवश्यकरणीय मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्बन्धी प्रवृत्तियों में सजग (उपयोगवान्) साधुओं के लिए भी आलोचनारूप शुद्धि आवश्यक है। छद्मस्थ योगीजनों की प्रवृत्तियों में सदैव अतिचार की सम्भावना रहती है, अतः उसकी शुद्धि आवश्यक है। आलोचना के बिना कभी शुद्धि नहीं होती। आहार आदि ग्रहण करने के लिए मल-मूत्र विसर्जन करने के लिए, यात्रा (विहार) हेतु, चैत्यवंदन करने के लिए तथा अन्य उपाश्रयों में रहे हुए साधुओं को वंदन करने के लिए, गृहस्थ को उसके घर पर प्रत्याख्यान कराने हेतु उपाश्रय से बाहर जाने पर, अथवा गुरु के आदेश से प्रयोजन पूर्वक गृहस्थ के घर जाने पर या राजादि के यहाँ किसी शुभ कार्य की मंत्रणा हेतु उपाश्रयभूमि से सौ कदम बाहर जाने पर विचक्षण मुनिजनों को आलोचना करनी चाहिए। इससे विशुद्ध आचार से युक्त मुनिजनों का संयम निर्मल होता है। व्रत, गुप्ति, समिति आदि का पूरी तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिपालन करने वाला भी अपने निर्दोष आचरण के अहंकारवश आलोचना न करे, तो उसके व्रतों की भी कभी शुद्धि नहीं होती है, इसलिए शुभ कार्यों को करने पर आलोचना करनी चाहिए। अन्न एवं उपकरण भिक्षा में प्राप्त करने में, उन्हें किसी समाश्रित मुनि को देने में, अथवा उनसे अपने लिए ग्रहण करने में, अथवा किसी प्रकार की प्रवृत्ति या भाषण आदि करने में जो भी शुभाशुभ भाषण या प्रवृत्ति होती है, वह सब गुरु को बताना चाहिए और उसके प्रायश्चित्त आदि के सम्बन्ध में पूछना चाहिए। उन सबकी आलोचना करना आवश्यक (इष्ट) है। किसी कारणवश किसी तपस्वी साधक को स्वगण को छोड़कर अन्यगण में जाना पड़े, तो उसे उपसम्पदा ग्रहण करने के पूर्व आलोचना करनी चाहिए। - यहाँ आलोचना प्रायश्चित्तपूर्ण होती है।

प्रतिक्रमण के योग्य प्रायश्चित्त निम्न हैं -

प्रमाद के कारण कभी समिति एवं गुप्तियों का भंग होने पर, गुरु की आशातना होने पर, उनके प्रति विनय का भंग होने पर या इच्छाकार आदि दस सामाचारी का सम्यक् पालन न करने पर, पूज्यों का समुचित आदर न करने पर, अल्प मृषावाद करने पर, विधिपूर्वक, अर्थात् मुखवस्त्रिका का उपयोग किए बिना छींकने, खांसने एवं उबासी आने पर तथा दूसरों से वाद करने पर, संक्लेश उत्पन्न करने पर, लेपादि कार्य करने पर, प्रमादवश हास्य, कन्दर्प (कुचेष्टा), परनिन्दा एवं कौत्कुच्य करने पर, राज-कथा, स्त्री-कथा, भक्त-कथा तथा देश-कथा करने पर, प्रमादवश कषाय एवं विषयों का सेवन करने पर किसी के सम्बन्ध में यथार्थ से भिन्न कम या अधिक कहने या सुनने पर, वसति से बाहर द्रव्य तथा भाव से संयम में स्खलना होने पर, असावधानी से या सहसाकार से व्रत का भंग होने पर, अल्पमात्र भी रागादिभाव, हास्य एवं भयसेवन करने पर, शोक, प्रदोष, कन्दर्प, वाद-विवाद और विकथा आदि करने पर - इन सभी कार्यों के लिए प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त बताया गया हैं। शुद्ध चित्तवृत्ति वाले साधक की प्रतिक्रमणमात्र से ही शुद्धि हो जाती है, प्रतिक्रमण किए बिना कभी शुद्धि नहीं होती - यहाँ प्रतिक्रमण योग्य प्रायश्चित्त सम्पूर्ण होता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब आलोचना एवं प्रतिक्रमण उभय के योग्य प्रायश्चित्त बताते हैं -

भ्रमवश, भयवश, सहसा या असावधानी के कारण गुरु आदि के अवरोध या संघ की प्रार्थना के कारण, अथवा संघ के महत् कार्य के लिए व्रत के सर्वथा खण्डित होने पर या अतिचार का आचरण करने या दुष्टभाषण (कटुवचन), दुष्टचिंतन या दुष्टकाय चेष्टा रूप मन-वचन या काया की संयम विरोधी प्रवृत्तियाँ पुनः पुनः करने पर, प्रमादवश, करने योग्य दिन-रात्रि के कर्त्तव्यों का विस्मरण होने पर, आलस्यवश ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का भंग होने पर, अथवा असावधानी के कारण आचार के नियमों का खण्डन होने पर - संयमशील साधुओं को उपर्युक्त दोषों की शुद्धि तदुभय, अर्थात् आलोचना एवं प्रतिक्रमण से करनी चाहिए। इसी प्रकार के अन्य दोषों में तदुभय प्रायश्चित्त करने का निर्देश दिया गया है। - यह तदुभय के योग्य प्रायश्चित्त का कथन हुआ।

अब विवेक के योग्य प्रायश्चित्त बताते है -

अज्ञानतापूर्वक नियम-विरुद्ध भोजन, पानी, वस्त्र, शय्या और आसन का ग्रहण करने पर, सूर्य के उदय एवं अस्त के समय को जाने बिना अशन-पान, उपधि आदि का ग्रहण करने पर, अथवा उक्त समय को जाने बिना कारणवशात् द्रव्यों का भोग-उपभोग करने पर - इन सबको बुद्धिमानों ने विवेक-प्रायश्चित्त के योग्य अतिचार कहें हैं - यह विवेकयोग्य प्रायश्चित्त का कथन हुआ।

अब कायोत्सर्ग के योग्य प्रायश्चित्त बताते हैं -

विहार एवं गमनागमन की क्रिया करने पर, सावद्य (हिंसक) स्वप्न देखने पर या हिंसा आदि की घटना सुनने पर, नाव के द्वारा नदी आदि पार करने पर या तैरने पर - इन सबकी संशुद्धि तत्त्ववेत्ताओं ने कायोत्सर्ग-प्रायश्चित्त द्वारा बताई है। इसमें विशेष यह है कि भोजन, पान, शय्या, आसन का ग्रहण करने पर चाहे उन्हें विशुद्ध रूप से मर्यादापूर्वक ग्रहण किया गया हो, मल-मूत्र का त्याग करने पर, असावधानी से दूसरों के शरीर के अंगों का संस्पर्श या व्याघात होने पर, सौ हाथ परिमाण से अधिक वसति के बाहर जाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर, पूज्य गुरु एवं ज्येष्ठ साधुओं के शय्या एवं आसन का परिग्रहण करने पर पच्चीस श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करें। महाव्रतों का भंग करने वाले, हिंसा आदि के स्वप्न आने पर सौ श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करें, चतुर्थ महाव्रत के खंडनरूप मैथुन का स्वप्न आने पर एक सौ आठ श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करें। आचार-मर्यादा का खण्डन होने पर भी यही प्रायश्चित्त करें। दैवसिक-प्रतिक्रमण में १०० श्वासोश्वास का रात्रिक-प्रतिक्रमण में पचास श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करें। पाक्षिक-प्रतिक्रमण में तीन सौ श्वासोश्वास का, चौमासी-प्रतिक्रमण में पाँच सौ श्वासोश्वास का एवं संवत्सरी-प्रतिक्रमण में एक हजार आठ श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करणीय है। सभी सूत्रों के उद्देश-समुद्देश एवं अनुज्ञा में सत्ताईस श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करने का विधान है। स्वाध्याय एवं प्रतिक्रमण हेतु प्रस्थान के लिए भी आठ श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करें। सभी कायोत्सर्गों में श्वासोश्वास की संख्या की भिन्नता ही विशेष है। - ये कायोत्सर्ग के योग्य प्रायश्चित्त हैं।

तप के योग्य प्रायश्चित्त निम्न हैं -

ज्ञान सम्बन्धी अतिचार, कालमर्यादा का उल्लंघन, महाव्रतों का खण्डन तथा अन्य पापकारी प्रवृत्ति करने पर तपरूप प्रायश्चित्त करने के लिए कहा गया है। विभिन्न तपों की संज्ञाएँ और उनके सांकेतिक नाम इस प्रकार हैं -

१. पुरिमड्ढ - पूर्वार्द्ध, मध्याह्न, कालातिक्रम, लघु, विलम्ब और पितृकाल।

२. एकासना - पाद, यतिस्वभाव, प्राणाधार, सुभोजन, अरोग, परम और शान्त।

३. निर्विकृति - अरस, विरस, पूत, निस्नेह, यतिकर्म, त्रिपाद, निर्मद और श्रेष्ठ।

४. आयम्बिल - अम्ल, सजल, आचाम्ल, कामघ्न, द्विपाद, धातुकृत, शीत और एकान्न।

५. उपवास - अनाहार, चतुपाद, मुक्त, निष्पाप, उत्तम, गुरु, प्रशम और धर्म।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. छट्ठ (निरन्तर दो दिन के उपवास) - पथ्य, पर, सम, दान्त और चतुर्थाख्या।

७. अट्ठम (निरन्तर तीन दिन के उपवास)-प्रमित, सुन्दर, कृत्य, दिव्य, मित्र और सिच।

८. चोला (निरन्तर चार दिन के उपवास) - धार्य, धैर्य, बल और काम्य।

९. पचोला (निरन्तर पाँच दिन के उपवास) - दुष्कर, निर्वृत्ति और मोक्ष।

१०. निरन्तर छः दिन के उपवास - सेव्य, पवित्र, विमल।

११. निरन्तर सात दिन के उपवास - जीव्य, विशिष्ट, विख्यात।

१२. निरन्तर आठ दिन के उपवास - प्रवृद्ध, वर्द्धमान।

१३. निरन्तर नौ दिन के उपवास - नव्य, रम्य, तारक।

१४. निरन्तर दस दिन के उपवास - ग्राह्य, अन्तिम।

- ये तप सम्बन्धी प्रत्याख्यानों के नाम (संज्ञा) हैं। अब स्थूल एवं सूक्ष्म तप - इन दोनों विभागों का वर्गीकरण करते हैं - १. नवकारसी २. अर्द्धपौरुषी (अर्द्धप्रहर) ३. पौरुषी (एकप्रहर) ४. पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ/दो प्रहर) ५. अपराह्न (अवड्ढ/तीन प्रहर) ६. द्विःअशन (दो समय भोजन) ७. एकासन ८. निर्विकृति (नीवि) ९. आचाम्ल (आयम्बिल) और १०. उपवास - इन विभागों की नमस्कारमंत्र के साथ एवं परस्पर संकलना इस प्रकार की गई है -

४४ बार नमस्कारमंत्र का जाप करने से डेढ़ नवकारसी या एक अर्द्धपौरुषी का लाभ मिलता है।

८३ बार नमस्कारमंत्र का जाप करने से दो अर्द्धपौरुषी एवं एक पौरुषी का लाभ मिलता है।

१२५ बार नमस्कारमंत्र का जाप करने से तीन अर्द्धपौरुषी या एक पूर्वार्द्ध का लाभ मिलता है।

२०० बार नमस्कारमंत्र का जाप करने से चार अर्द्धपौरुषी, ढाई पौरुषी, अथवा एक पूर्वार्द्ध का या दो पाद कम एक अपराह्न का लाभ मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५० बार नमस्कारमंत्र का जाप से छः अर्द्धपौरुषी, एक पाद कम तीन पौरुषी, दो पूर्वार्द्ध, डेढ़ अपराह्न या एक बियासने (द्विःअशन) का लाभ मिलता है।

५०० बार नमस्कारमंत्र का जाप करने से सवा छः पौरुषी, चार पूर्वार्द्ध, ढाई अपराह्न, दो बियासने का, अथवा एक एकासने का लाभ मिलता है।

६६७ बार नमस्कारमंत्र का जाप करने से पन्द्रह अर्द्धपौरुषी, आठ पौरुषी, साढ़े पाँच पूर्वार्द्ध, साढ़े तीन अपराह्न या तीन बियासने, डेढ़ एकासने या एक निर्विकृति का लाभ मिलता है।

१००० बार नमस्कारमंत्र के जाप से बाईस अर्द्धपौरुषी, बारह पौरुषी से कुछ अधिक, आठ पूर्वार्द्ध, पाँच अपराह्न, चार बियासना, दो एकासना, डेढ़ निर्विकृति या एक आयम्बिल का लाभ मिलता है।

२००० बार नमस्कारमंत्र के जाप से पैंतालीस अर्द्धपौरुषी, चौबीस पौरुषी, सोलह पूर्वार्द्ध, तीन निर्विकृति, दो आयम्बिल या एक उपवास का लाभ उसी दिन मिलता है।

जिस प्रकार गुरुव्रत के करने पर लघुव्रत का उसी में समावेश हो जाता है, उसी प्रकार लघुव्रत से भी गुरुव्रत पूर्ण हो जाता है। प्रायश्चित्त एवं उपधान सम्बन्धी तपों में यह परिवर्तन अर्थात् गुरुव्रत के स्थान पर लघुव्रत अशक्त होने की दशा में करें तथा शक्ति हो, तो लघुव्रतसहित गुरुव्रत करें। तप सम्बन्धी विधानों में तथा अन्य कार्यों में जो तप कहा गया है, उसे वैसे ही करें - यह तपयोग्य प्रायश्चित्त का कथन हुआ।

काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्वन, व्यंजन, अर्थ और तदुभय - इन आठ प्रकार के ज्ञानाचार में जो अतिक्रमण होता है, उसे ज्ञानाचार संबंधी अतिचार कहते हैं। ज्ञानातिचार सम्बन्धी अतिचारों के प्रायश्चित्त निम्न हैं - अनागाढ़योग में विशेष कारण होने पर उद्देशक के अतिचार के लिए एक नीवि, अध्ययन के सम्बन्ध में अतिचार के लिए पूर्वार्द्ध, श्रुतस्कन्ध के अतिचार के लिए एकासना और अंगसंबंधी अतिचार के लिए आयम्बिल-तप का प्रायश्चित्त आता है। आगाढ़योग में विशेष कारण हो, तो इन्हीं दोषों के लिए क्रमशः

Jain Education International · For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वार्द्ध, एकासना, आयम्बिल और उपवास का प्रायश्चित्त आता है। सामान्य रूप से सूत्र का भंग होने पर आयम्बिल का तथा अर्थ का भंग होने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। उद्देशक आदि वाचना में कदाचित् योग्य एवं अयोग्य का विचार न किया हो, समय पर वाचना का विसर्जन न किया हो, अथवा मण्डली-स्थान का प्रमार्जन न किया हो - इन सभी में निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है।

अनागाढ़योग का भंग किंचित् भी होता है और सर्वथा भी होता है। इसी प्रकार आगाढ़योग का भंग किंचित् भी होता है और सर्वथा भी होता है। अनागाढ़योग का किंचित् और सर्वथा भंग होने पर दोनों ही परिस्थितियों में निरन्तर दो उपवास (बेले) का प्रायश्चित्त आता है तथा आगाढ़योग का किंचित् भंग होने पर आयम्बिल का और सर्वथा भंग होने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। - यह ज्ञानाचार के अतिचारों के तपरूप प्रायश्चित्त का कथन हुआ।

अब दर्शनाचार के निःशंकिता आदि आठ अंगों का प्रायश्चित्त बताते हैं -

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि अतिचारों में उपवास का प्रायश्चित्त आता है। मिथ्या उपबृंहणा का क्रमशः साधुओं को पूर्वार्द्ध, साध्वियों को एकासना, श्रावकों को आयम्बिल एवं श्राविकाओं को उपवास का प्रायश्चित्त आता है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विधसंघ के द्वारा मिथ्याशास्त्र का भाषण करने पर क्रमशः साधु को निर्विकृति, साध्वी को पूर्वार्द्ध, श्रावक को एकासना और श्राविकाओं को आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। दर्शनाचार में मुनिधर्म में दीक्षित व्यक्ति के परिवार का पालन करने में तथा व्रत आदि की अपेक्षा साधर्मिक का पालन करने में किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं आता है। - यह दर्शनाचार के अतिचारों के तपरूप प्रायश्चित्त का कथन हुआ।

अब चारित्राचार में प्रणिधान (अप्रमत्तता) योग आदि के उल्लंघन करने का प्रायश्चित्त बताते हैं -

एकेन्द्रिय जीवों का संस्पर्श, परितापन, महासंतापन तथा उत्थापन करने पर क्रमशः निर्विकृति, पूर्वार्द्ध, एकासना तथा आयम्बिल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रायश्चित्त आता है। विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) एवं अनंतकाय का संस्पर्श, परितापन, महासंतापन तथा उत्थापन करने पर क्रमशः पूर्वार्द्ध, निर्विकृति, आयम्बिल तथा उपवास का प्रायश्चित्त आता है। पंचेन्द्रिय जीव का संस्पर्श, परितापन, महासंतापन तथा उत्थापन करने पर क्रमशः एकासना, आयम्बिल, निरन्तर दो उपवास (बेले) तथा पुनः निरन्तर दो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। मृषावाद, अदत्तादान - इन दोनों का द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव की अपेक्षा आचरण करने पर जघन्यतः एकासना, मध्यमतः आयम्बिल एवं उत्कृष्टतः उपवास का प्रायश्चित्त आता है। रात्रि में पात्र वगैरह भोज्यपदार्थ से लिप्त रह जाएं, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार रात्रि में शुष्क भोज्य वस्तुओं के रखने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। कदाचित् रात्रि में अशन-पान का सेवन किया हो, तो सत्त्वशाली मुनिजनों को उसके प्रायश्चित्त के लिए अट्ठम तप, अर्थात् निरन्तर तीन उपवास करना चाहिए।

अतिदारुण फल देने वाले पिण्डैषणा के निम्न सैंतालीस अतिचार हैं। पिण्ड के उद्गम के सोलह दोष, उत्पादना के सोलह दोष, गवैषणा के दस दोष तथा ग्रासैषणा के पाँच दोष - इस प्रकार कुल सैंतालीस दोष हैं।

अब पिण्डैषणा के इन सर्व दोषों की प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं। पिण्ड के उद्गम के समय लगने वाले निम्न सोलह दोष बुद्धिमानों के द्वारा बताए गए हैं -

१. आधाकर्मी २. औद्देशिक ३. प्रतिकर्म ४. विमिश्रक ५. स्थापना ६. प्राभृत ७. प्रादुःकरण ८. क्रीत ९. प्रामित्य १०. परिवर्तित ११. अभ्याहृत १२. उद्भिन्न १३. मालापहृत १४. आच्छेद्य १५. अनिसृष्ट और १६. अध्यवपूरक।

पिण्ड के उत्पादन के निम्न सोलह दोष बताए गए हैं -

१. धात्री २. दूती ३. निमित्त ४. जीविका ५. वनीपक ६. चिकित्सा ७. क्रोध ८. मान ९. माया १०. लोभ ११. संस्तव १२. विद्या १३. मंत्र १४. चूर्ण १५. योग और १६. मूलक (मूलकर्म)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहणैषणा के निम्न दस दोष बताए गए हैं -

१. शंकित २. म्रक्षित ३. निक्षिप्त ४. पिहित ५. संहृत ६. दायक ७. उन्मिश्र ८. अपरिणत ९. लिप्त और १०. छर्दित (परिभ्रष्ट) - ये दस दोष साधु एवं गृहस्थ-दोनों के निमित्त से लगते हैं।

पाँच ग्रासैषणा के निम्न पाँच दोष बताए गए हैं -

१. संयोजना २. अप्रमाण ३. अंगार ४. धूम ५. अकारण

इस प्रकार पिण्डैषणा के ये सैंतालीस दोष कहे गए हैं। अब इन सबका यथा योग्य प्रायश्चित्त बताते हैं। उद्गम, उत्पादन, ग्रहणैषणा और ग्रासैषणा के दोष के प्रायश्चित्त प्रायः समान बताए गए हैं।

कर्मऔद्देशिकपिण्ड, परिवर्तितपिण्ड, स्वग्रहपाखण्डमिश्रपिण्ड, बादर प्राभृतिकपिण्ड, सत्प्रत्यवायाहृतपिण्ड के ग्रहण करने पर अथवा लोभवश अतिमात्रा में पिण्ड का ग्रहण करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार प्रत्येक वनस्पतिकाय, अथवा अनंतवनस्पतिकाय से निक्षिप्त पिण्ड के ग्रहण करने पर भी उपवास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार भिक्षा सम्बन्धी संहृतदोष, उन्मिश्रदोष, संयोजनदोष, अंगारदोष आदि दोषों से युक्त पिण्ड एवं निमित्तपिण्ड का उपभोग करने पर भी एक उपवास का प्रायश्चित्त आता है। पुनः कर्मणी, औद्देशिकदोष, मिश्रदोष, धात्रीदोष, प्रकाशकरणदोष, पूर्व-पश्चात्- संस्तवदोष आदि कुत्सित दोषों से युक्त आहार का स्पष्ट रूप से सेवन करने पर तथा उपर्युक्त कुत्सित दोषों से युक्त हाथ या पात्र से पिण्ड ग्रहण करने पर, अथवा इन दोषों से संसक्त, लिप्त, संलग्न, निक्षिप्त, विहित, सहृतपिण्ड का उपभोग करने पर या इन कुत्सित दोषों से मिश्रित पिण्ड का उपभोग करने पर भी मुनि को दोषानुसार आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार धूमदोष एवं अकारण दोष से युक्त पिण्ड का उपभोग करने पर भी आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। कृतदोष, अध्यवपूरकदोष एवं पूतिदोषों से युक्त आहार परस्परदोष से युक्त आहार, पात्र में कुछ भी शेष न रहे - इस प्रकार से लेने पर, अथवा मिश्रदोष से युक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिण्ड तथा अनंतर-अनंतरागत दोष से युक्त पिण्ड ग्रहण करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। ओघ-औद्देशिकदोष (सामान्य रूप से साधुओं के लिए बनाया गया आहार), औद्देशिकदोष (किसी विशेष साधु के लिए बनाया गया आहार), उपकरण पूतिदोष, स्थापनादोष, प्राभृतदोष, लोकोत्तरप्रामित्यदोष, लोकोत्तरपरिवर्तनदोष, परभावक्रीतदोष, स्वग्रामआहृतदोष, मालोपहृतदोष, जघन्यदर्दरादिकदोष, सूक्ष्मचिकित्सादोष, सूक्ष्मसंस्तवदोष, म्रक्षितत्रिकदोष, दायकपिहितदोष, प्रत्येकपिहितदोष, परम्परपिहितदोष, दीर्घकालीनस्थापितदोष, अनंतरस्थापितपिहितमिश्रदोष तथा इसी प्रकार अन्य दोषों की शंका होने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। इनके अतिरिक्ति स्थापित सूक्ष्मदोष, सरजस्कदोष, स्निग्धदोष, म्रक्षितदोष, परम्परमिश्रदोष, स्थापितदोष, परिष्ठापनदोष एवं इसी प्रकार के अन्य दोषों का प्रायश्चित्त उत्तमजनों ने निर्विकृति बताया है।

इन सभी दोषों की विस्मृति होने पर तथा इनका प्रतिक्रमण किए बिना यदि उस आहार को ग्रहण कर लिया हो, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। दौड़ने, लांघने, शीघ्र गति से चलने, संघर्षण करने, क्रीड़ा करने, कौतुक करने, वमन करने, गीत गाने, ज्यादा हँसने, ऊँचे स्वर से बोलने या कठोर वचन बोलने तथा प्राणियों की आवाज निकालने में - इन सब कृत्यों के लिए गीतार्थों ने बेले, अर्थात् निरन्तर दो उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। तीन प्रकार की उपधि भ्रांति के कारण या विस्मृति के कारण प्रतिलेखना के बिना रह जाएं तो उन तीनों प्रकार की उपधियों के लिए क्रमशः निर्विकृति, पूर्वार्द्ध एवं एकासन का प्रायश्चित्त बताया गया है। ज्येष्ठ को निवेदन किए बिना कोई किसी की उपधि उठा ले जाए, उसका हरण कर ले या उसे धोए, अन्य किसी को दे, दूसरे के द्वारा बिना दिए ही उसका भोग करे या उसे ले ले, तो उसके प्रायश्चित्त के लिए क्रमशः जघन्य से एकासन, मध्यम से उपवास एवं उत्कृष्ट से निरन्तर दो उपवास (बेले) का तप बताया गया है। ये सभी क्रियाएँ स्वयं करने पर मुनिजनों ने उसके लिए बेले का प्रायश्चित्त बताया है। मुखवस्त्रिका अथवा धर्मध्वज (रजोहरण) में से किसी एक के गिरने पर नीवि का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और दोनों के गिर जाने या नष्ट हो जाने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। अविधिपूर्वक भोजन करने पर तथा भोजन में काल का ध्यान न रखने पर क्रमशः निर्विकृति एवं उपवास का प्रायश्चित्त आता है। भोजन-पानी ढंके नहीं, मल-मूत्र एवं कालभूमि का प्रतिलेखन न करे, तो निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। नवकारसी-पोरसी वगैरह प्रत्याख्यान नहीं करे, या प्रत्याख्यान लेकर तोड़ दे, तो उसके लिए पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार तप-प्रतिमा का अभिग्रहण ग्रहण नहीं करे, अथवा लेकर तोड़ दे, तो उसका भी प्रायश्चित्त पूर्वार्द्ध ही बताया गया है। पाक्षिक, चातुर्मासिक या सांवत्सरिक प्रतिक्रमण न करे, तो क्रमशः नीवि, आयम्बिल तथा उपवास का प्रायश्चित्त आता है। गुरु से पहले ही कायोत्सर्ग पूर्ण कर ले, कायोत्सर्ग में पाठ उच्चारण जल्दी-जल्दी करे, अथवा कायोत्सर्ग का मध्य में ही भंग करे, वन्दन एवं शक्रस्तव में भी इसी प्रकार करे, तो क्रमशः निर्विकृति, पूर्वार्द्ध एवं एकासन का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु जानबूझकर इन सभी दोषों का सेवन करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है - ये सब चारित्राचार के तप प्रायश्चित्त बताए गए हैं।

अब तपाचार सम्बन्धी प्रायश्चित्त-तप बताते हैं -

तप नहीं करने पर या उसका भंग होने पर जघन्यतः पूर्वार्द्ध, मध्यमतः आयम्बिल एवं उत्कृष्टतः उपवास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार दिन में प्रतिलेखन किए बिना कार्य करने पर, पूर्व में अप्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र आदि विसर्जित करने पर तथा दिन में शयन करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। लम्बे समय तक क्रोधित या भयभीत रहने पर, सुगन्धित पदार्थों का सेवन करने पर तथा मद्यादि का सेवन करने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। ज्ञातिबन्धन के कारण स्वजनों के घर में रहे, तो निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है और अन्य लोगों के घर में रहे, तो पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है - ये तपाचार सम्बन्धी प्रायश्चित्त बताए गए हैं।

अब वीर्याचार में लगने वाले दोषों का तप-प्रायश्चित्त बताते हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमादवश अप्रतिलेखित घास के आसन पर बैठे, तो उसका वही प्रायश्चित्त आता है, जो एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा का बताया गया है। गुरु की सभी वस्तुओं को उनसे पूछे बिना स्थापित करने आदि सर्व कार्यों में निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। शक्ति का गोपन करने से, अर्थात् तप, सेवा आदि न करने पर एकासने का प्रायश्चित्त आता है। कपटपूर्वक कार्य करें या अहंकारपूर्वक पंचेन्द्रिय आदि को पीड़ा दे, संक्लिष्ट कर्म करे, अपने शरीर के पोषण हेतु लम्बे समय तक ग्लान व्यक्ति के साथ रहे तथा प्रथम एवं अंतिम पोरसी के समय सर्व उपधि की प्रतिलेखना नहीं करे - इन सब दोषों की शुद्धि चौमासी या संवत्सरी पर भी नहीं करने पर साधुओं को दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु गर्व के कारण इसकी तरफ कोई ध्यान न दे या इसकी उपेक्षा करें, तो उसको छेदरूप प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है।

जीतकल्प के अनुसार यदि आचार्य (गणाधिपति) को छेद प्रायश्चित्त आता हो, तो भी उसे तपयोग्य प्रायश्चित्त ही दें। जिन-जिन पापों की आलोचना-विधि यहाँ नहीं कही गई है, उनकी उत्कृष्ट छः मास तक की छेदप्रायश्चित्त-विधि यहाँ बताई जा रही है -

विशिष्ट छेद-प्रायश्चित्त चार मास या छः मास का होता है। इसके लघु और गुरु - ऐसे दो भेद हैं। लघु विरस, अर्थात् निर्विकृति पर आश्रित है। लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त नीवि आदि के द्वारा पूर्ण होता है। सिद्धान्त के अनुसार पाप के क्रम को जानकर उन पापों के हो जाने पर विरसादिरूप उक्त तप प्रायश्चित्त में दें। यह जो सब कहा गया हैं, वह सब सामान्य विधि के आधार पर कहा गया है। बुधजनों द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के अनुसार प्रायश्चित्त देना विभाग-विधि है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष और प्रतिसेवना, अर्थात् जिस रूप में उस दोष का आचरण किया है, उसको सम्यक् प्रकार से ध्यान में रखकर अधिक या कम प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है। अशन आदि की अपेक्षा से द्रव्य का, देश, नगर आदि की अपेक्षा से क्षेत्र का, सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि की अपेक्षा से काल का, तथा ग्लान या स्वस्थ आदि की अपेक्षा से भाव का विचार करना चाहिए। शास्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में विचार करने की ये चार अपेक्षाएँ हैं। शास्त्र में पुरुष प्रतिसेवना चार प्रकार की कही गई है - १. आवृत्ति २. प्रमाद ३. दर्प एवं ४. कल्प।

द्रव्य की अपेक्षा - जहाँ आहार आदि की सुलभता हो, वहाँ अधिक प्रायश्चित्त दें और जहाँ आहार आदि दुर्लभ हो, वहाँ परिस्थिति के आधार पर कम या अधिक प्रायश्चित्त दें।

क्षेत्र के अनुसार - क्षेत्र स्निग्ध हो, तो अधिक प्रायश्चित्त दें, किन्तु निर्जल एवं रूक्ष क्षेत्र में मनीषियों को अल्प प्रायश्चित्त देने के लिए कहा गया है।

काल के अनुसार - वर्षा और शीतकाल में जघन्यतः निरन्तर तीन उपवास, मध्यमतः निरन्तर चार उपवास एवं उत्कृष्टतः निरन्तर पाँच उपवास का प्रायश्चित्त दें। इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु में क्रमशः जघन्यतः पूर्वार्द्ध, मध्यमतः आयम्बिल एवं उत्कृष्टतः निरन्तर दो उपवास का प्रायश्चित्त दें। परिस्थिति की अपेक्षा विभागानुसार किसी तप का प्रायश्चित्त दें।

भाव के अनुसार - निरोग व्यक्ति को देखकर निश्चित रूप से अधिक एवं तीव्र तप का प्रायश्चित्त तथा ग्लान की अवस्था को देखते हुए काल का अतिक्रमण करके अल्प प्रायश्चित्त दें।

पुरुष प्रतिसेवना के अनुसार - व्यक्ति अगीतार्थ और गीतार्थ, अक्षमावान् और क्षमावान्, अशठ (ऋजु) और शठ (मायावी), दुष्ट और सज्जन, अपरिणामी और परिणामी आदि अनेक प्रकार की प्रकृति के होते हैं, अतः उनकी प्रकृति के अनुसार जघन्यतः, मध्यमतः या उत्कृष्टतः प्रायश्चित्त दें। व्यक्ति को उसकी शारीरिक शक्ति के अनुसार मध्यम, जघन्य या उत्कृष्ट प्रायश्चित्त भी दे सकते हैं। १. ऋजु २. अतिवक्र ३. अल्पवक्र ४. वैयावच्च करने वाला या दया का पात्र - ऐसे चार प्रकार के व्यक्ति पूर्व में कहे गए हैं। इनके अतिरिक्त जो पुरुष हैं, वे मन्द कहे गए हैं। जो शक्ति, धैर्य, कल्पस्थ एवं सर्वगुणों से युक्त हों, उन्हें विचक्षणों द्वारा अधिक तपरूप प्रायश्चित्त दिया जाना चाहिए और हीन गुणवाला हो, तो उसे कम प्रायश्चित्त दें। जो पालित चारित्र वाले हों, अज्ञातार्थ हों, असह,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् सहनशील न हों, उनको विभाजन-अनुसार निर्विकृति से निरन्तर तीन उपवास-तप का प्रायश्चित्त दें। पूर्व में यहाँ प्रायश्चित्त में जो तप-कर्म बताया गया है, वह प्रायश्चित्त मनीषियों द्वारा प्रमाद युक्त व्यक्ति को दिया जाना चाहिए। जो दर्प से युक्त हो, उसे सामान्य से कुछ अधिक प्रायश्चित्त देना चाहिए। जो आवृत्तिभाज हो, अर्थात् दोषों का सेवन बार-बार करता हो, उसे अहंकारी व्यक्ति के समान कुछ अधिक प्रायश्चित्त दें। कल्प प्रतिसेवी, अर्थात् यतनापूर्वक सेवन किया हो, तो प्रतिक्रमण या तदुभय, अर्थात् आलोचना एवं प्रतिक्रमण - दोनों प्रायश्चित्त दें। अजयणा प्रमाद है, बलादि का अहंकार दर्प है, कार्य को पुनः करने की आकांक्षा आवृत्ति है तथा आचार के आश्रित आचरण करना कल्प है।

इन चारों का सेवन करने से कर्मबन्ध होता है। उनको भी पूर्व में कही गई विधि के अनुसार ही प्रायश्चित्त दें। आलोचना के काल तथा कष्ट को सहने करने की क्षमता को जानकर कम-अधिक या मध्यम प्रायश्चित्त दें। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव अनुकूल हो तथा बहुत गुणवान् व्यक्ति हो, तो उसे अधिक प्रायश्चित्त दें। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावहीन, अर्थात् पूर्वापेक्षा कम हो, तो उसे कम प्रायश्चित्त दें। देश-काल आदि एकदम हीन हो, पुन-पुनः वही कर्म करने वाला हो तो उसे अन्य तप सम्बन्धी प्रायश्चित्त दें। इसी प्रकार वैयावृत्यादि करने वाले एवं सुसाधुओं की उपासना करने वाले को भी अन्य तप सम्बन्धी प्रायश्चित्त दें। तप के योग्य प्रायश्चित्त की यह विधि सम्पूर्ण होती है।

अब छेद के योग्य कौन है, यह बताते हैं -

तपगर्वित (तपस्या का गर्व करने वाला) हो या तप करने में असमर्थ हो, तप पर जिसकी श्रद्धा न हो, तप से भी जिसका निग्रह न हो सके, अतिसंक्लिष्ट परिणामी, गुणों का त्याग करने वाला हो - उसे छेद-प्रायश्चित्त दें तथा जो पार्श्वस्थ आदि का संग करे, उसे भी तप-प्रायश्चित्त के स्थान पर छेद-प्रायश्चित्त दें। साथ ही उसे आजन्म निर्विकृति आदि तप कराएं। वह जब से इसे प्रारम्भ करे, तब से लेकर मृत्युपर्यन्त इसकी आराधना करे। गीतार्थों द्वारा ये छेद के योग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्त बताए गए हैं। यहाँ छेद के योग्य प्रायश्चित्त की विधि सम्पूर्ण होती है।

अब मूल-प्रायश्चित्त के योग्य कौन से अपराध हैं, उन्हें बताते हैं -

पंचेन्द्रिय जीव का घात करने वालों, गर्व से मैथुन का सेवन करने वालों तथा समस्त विषयों का आसक्तिपूर्ण सेवन करने वालों को मूल-प्रायश्चित्त दें। इसी प्रकार मूल एवं उत्तर गुणों में दोष लगाने वाले को, तप गर्विष्ठ को, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का घात करने वाले कार्यों में निमग्न रहने वाले को, अवसन्न, पार्श्वस्थ, मूलकर्म आदि करने वाले को, साधु को प्रायश्चित्त के रूप में जो तप दिया गया हो, उस तप से वह भ्रष्ट हो गया हो तथा जो पारांचित-प्रायश्चित्त के योग्य है, उसे सर्वप्रथम पूर्व दीक्षापर्याय का छेद करके मूल-प्रायश्चित्त दें। इस प्रकार जहाँ पारांचित की स्थिति हो, वहाँ तथा जो-जो संयम से भ्रष्ट हों, उन्हें मूल-प्रायश्चित्त दें। इस प्रकार प्रायश्चित्त का वहन करने से उसकी आत्मा निर्मल बनती है। यहाँ मूल-प्रायश्चित्त की विधि संपूर्ण होती है।

अब अनावृत्त (अनवस्थाप्य)- प्रायश्चित्त किसे दें, वह बताते हैं -

जो दुष्ट प्रकृति वाला हो, जीवों की हिंसा करने वाला हो, चोरी करने वाला हो, पारांचित-प्रायश्चित्त का बिल्कुल भी भय न रखने वाला हो तथा जो दुष्ट प्रवृत्तियों का सतत (बारंबार) सेवन करता हो, उसे लिंग, क्षेत्र, काल एवं तप का विचार कर अनवस्थाप्य-प्रायश्चित्त दें। लिंग से, अर्थात् वेश से दुष्कर्म किया हो, उसका द्रव्य की अपेक्षा से मुनिवेश ले लेना चाहिए और भाव की अपेक्षा से पुनः उस कार्य को न करे - ऐसा निर्देश देना चाहिए। उसे भावलिंग का धारण करते हुए अन्य क्षेत्र में स्थापित करें। अन्यत्र रखकर जितने समय तक उसने पाप किया है, उतने समय से भी अधिक उसे तप कराएं। पाप अल्पमात्रा में हो, तो छःमासी तप करे, किन्तु जिसने परमात्मा की आशातना की हो, वह एक वर्ष तक तप करे। पाप के आधार पर अधिक से अधिक बारह वर्ष तक यह तप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे। उज्झितभिक्षा का ग्रहण करने वाला हो और कम से कम उपकरण रखे या सर्व उपधि का त्याग करके पाणिपात्र हो जाए, वह ज्येष्ठ को वंदन करे, किन्तु कनिष्ट उसे वंदन न करें। वह यतियों के बीच रहता तो है, किन्तु यतिजन उसके साथ श्रावकवत् व्यवहार करते हैं, उसके साथ बातचीत नहीं कर सकते हैं, किन्तु अर्हत्-स्तवन वगैरह बोल सकते हैं।

आगम को रचने वालों ने अनावृत्त-प्रायश्चित्त की यह विधि बताई है, यहाँ अनावृत्त-प्रायश्चित्त की विधि संपूर्ण होती है।

अब पारांचित-प्रायश्चित्त किसे दें, वह बताते हैं -

अत्यन्त अहंकार एवं क्रोध के कारण जो हमेशा अरिहंत परमात्मा, आगम, आचार्य, श्रुतज्ञ, गणनायक एवं गुणिजनों की आशातना करे, उसे पारांचित-प्रायश्चित्त दें। स्वलिंग या परलिंग में स्थित होने पर भी जो दुष्ट प्रकृति वाला हो, अत्यधिक कषायी हो, इन्द्रिय विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखता हो, गुरु आदि की आज्ञा का लोप करने वाला हो, अवध्य, अर्थात् मुनि, राजा आदि जो अवध्य कहे गए हैं, उनका वध करने वाला हो, राजा की रानी (अग्रमहिषी) तथा गुरु की पत्नी को भोगने वाला हो, जिसके दोष जन-सामान्य में प्रकट हो चुके हों तथा जो स्त्यानगृद्धि-निद्रा के उदय से महादोष वाला हो, अनंगसेवा, अर्थात् काम-भोग सम्बन्धी प्रवृत्तियों में निरत हो, कुस्थान, अर्थात् दुराचरण का आदर करने वाला हो, सप्त व्यसनों में संसक्त (संलग्न) हो, परद्रव्य को ग्रहण करने के लिए तैयार हो, परद्रोह करने वाला हो, नित्य पैशुन्य का सेवन करने वाला हो - उसे पारांचित-प्रायश्चित्त दें। वह चार प्रकार से दिया जाता है - लिंग की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से, काल की अपेक्षा से एवं आचार की अपेक्षा से।

सर्वप्रथम उसे वसति, निवास (निवेश), वाटक, वृन्द, नगर, ग्राम, देश, कुल, संघ, गण से बाहर करे तथा इनमें प्रवेश न करने दें। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से जिसने जिस दोष का सेवन जहाँ किया हो, उसे वहीं पारांचित-प्रायश्चित्त दें। पूर्व में जितने काल तक उसने पाप का सेवन किया है, उतने समय का उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारांचिक-प्रायश्चित्त दें तथा इस बीच उससे तपस्या कराएं। गण के लोगों से बाहर किया हुआ वह (मुनि) मौनपूर्वक एवं एकाकी रहे। ध्यान करे, फैंकने योग्य आहार को ग्रहण करे तथा चिन्ता से रहित बने। - यहाँ पारांचिक-प्रायश्चित्त की यह विधि संपूर्ण होती है।

अनवस्थाप्य तपकर्म और पारांचिक - ये दोनों प्रायश्चित्त अन्तिम चौदह पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के समय से विच्छेद हैं। शेष प्रायश्चित्त जब तक जिन शासन है, तब तक रहेंगे। - जीतकल्पानुसार नानाविध प्रायश्चित्तों की यह विधि यहाँ समाप्त होती है।

जीतकल्प[1] के अनुसार पूर्व में आगारों के प्रायश्चित्त की विधि संक्षेप में कही गई है। अब सम्यग्दृष्टि श्रावकों की तपरूप प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं। वह इस प्रकार है -

मन से जिनेश्वर परमात्मा के वचनों में शंका होने पर, अन्य धर्म की इच्छा रखने पर, धर्मकरणी के फल में संदेह रखने पर, मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करने पर तथा उनके साथ परिचय रखने पर, मन से इन दोषों का सेवन करने पर आयम्बिल का तथा उससे अधिक तीव्रता से इन दोषों का सेवन करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। परमात्मा को वन्दन न करने पर तथा पूजा के लिए पत्र आदि तोड़ने पर तथा परमात्मा की प्रतिमा हाथ से गिर जाने पर या प्रतिमा का विधिपूर्वक प्रमार्जन न करने पर - इन सभी दोषों के प्रायश्चित्त को क्रमशः बताया जा रहा है। प्रत्येक के लिए पच्चीस-पच्चीस नमस्कारमंत्र के जप से इन पाँचों दोषों की शुद्धि करें। इन चारों प्रकार के दोषों की शुद्धि एकासन से भी होती है। पार्श्वस्थ आदि मुनियों को गुरुबुद्धि से दान देने पर पच्चीस नमस्कारमंत्र के जप से उस दोष की शुद्धि होती है। पाटी, पुस्तक, आदि ज्ञान के उपकरण हाथ से गिर जाने पर, उन पर पैर लग जाने पर - इन दोषों की शुद्धि पाँच बार नमस्कारमंत्र का जप करने से होती है। मंत्र, ग्रन्थि एवं मुष्ठियुक्त प्रत्याख्यानों के भंग हो जाने पर उस दोष की शुद्धि तीन सौ नमस्कारमंत्र के जप से करें। इनकी शंका

---

[1] टिप्पणी : मुद्रित प्रति में 'जीवकल्प' छपा है, उसे जीतकल्प होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर, अर्थात् प्रत्याख्यान का भंग हुआ है या नहीं हुआ - ऐसी शंका होने पर पूर्व में कहे गए जप से त्रिगुणा, अर्थात् नौ सौ नमस्कारमंत्र का जप करें। त्यागने योग्य एवं विकृत आहार का दान देने पर भी पूर्ववत् प्रायश्चित्त आता है। कुछ आचार्यों ने शंका आदि के पाँच अतिचारों के आगाढ़रूप में और अनागाढ़रूप में सेवन करने पर प्रत्येक के लिए विशेष रूप से उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का संस्पर्श होने पर उन्हें अल्पतः संतापित करने पर एकासन का प्रायश्चित्त बताया गया हैं। किन्तु उन्हें अत्यधिक परितापित करने पर आयम्बिल का तथा उन्हें मार देने पर, अर्थात् प्राण रहित कर देने पर विद्वानों ने उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। पंचेन्द्रिय जीवों का संस्पर्श करने पर एकासन, उन्हें अल्पतापित करने पर आयम्बिल तथा प्रगाढ़ रूप से परितापित करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है एवं उन्हें मारने पर निरन्तर दो उपवास का प्रायश्चित्त आता है।

यह प्रथम व्रत की प्रायश्चित्त-विधि है। स्थूलमृषावाद, व्रत का अतिचार लगने पर जघन्यतः एकासन, मध्यमतः आयम्बिल एवं उत्कृष्टतः उपवास-तप का प्रायश्चित्त आता है। अचौर्यव्रत के अतिचारों का प्रायश्चित्त भी मृषावाद-व्रत के अतिचारों के प्रायश्चित्त की भाँति ही है।

अब श्रावकों के स्वपत्नी संतोषव्रत के अतिचारों की प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं। गृहीता स्त्री के साथ संभोग करने का प्रायश्चित्त विद्वानों ने उपवास बताया है। इसी प्रकार वेश्या के साथ संभोग करने पर उस दोष की शुद्धि के लिए निरन्तर दो उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। हीन जाति की स्त्री या परस्त्री का अज्ञानता से या स्वप्न में भोग करने पर उसके लिए मुनिजनों ने एकासन का प्रायश्चित्त बताया है, किन्तु विशुद्ध कुल की विवाहिता स्त्री का भोग करने पर मूल-प्रायश्चित्त आता है, अर्थात् उसका स्वपत्नी संतोषव्रत भंग हो जाता है। पुरुष द्वारा पुरुष के साथ संभोग करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। पूर्व में भोगे गए संभोग का चिन्तन करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु सम्भोग के प्रति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सघन राग रखने पर निरन्तर तीन दिन के उपवास (अट्ठम) का प्रायश्चित्त आता है।

स्थूल परिग्रहव्रत के परिमाण के भंगरूप अतिचार लगने पर बुद्धिमानों ने जघन्यतः, मध्यमतः एवं उत्कृष्टतः क्रमशः एकासन, आयम्बिल एवं उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। दिग्व्रत के अतिक्रमण तथा रात्रिभोजन के दोषों की शुद्धि के लिए पण्डितों ने क्रमशः उपवास एवं निरन्तर दो उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। मांसाहार तथा मद्यपान के पापों का नाश करने के लिए दस उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। अनंतकाय का भक्षण करने पर उस पाप के क्षय के लिए उपवास का प्रायश्चित्त आता है। त्यक्त प्रत्येक वनस्पतिकाय का भक्षण करने पर विद्वानों ने उसके लिए आयम्बिल का प्रायश्चित्त बताया है। कर्मदानों, अर्थात् त्याज्य व्यवसायों के करने पर निरन्तर दो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अनर्थदण्डविरमणव्रत का अतिक्रमण करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। सामायिकव्रत के अतिचारों का सेवन करने पर तथा देशावगासिकव्रत एवं पौषधव्रत का भंग होने पर तथा अतिथिसंविभागव्रत का सम्यक् रूप से परिपालन न करने पर क्रमशः उपवास, आयम्बिल, आयम्बिल एवं उपवास तप का प्रायश्चित्त आता है। - ये सब श्रावकों के द्वादशव्रतों के अतिचारों के प्रायश्चित्त बताए गए हैं। श्राविकाओं के द्वादशव्रतों के अतिचारों की विधि भी यही है, किन्तु उनके लिए विशेष क्या है, यह बताते हैं -

सामायिकव्रत या पौषधव्रत में स्त्री का यदि पुरुष से संस्पर्श हो जाए, तो प्रायश्चित्त के रूप में पच्चीस बार नमस्कारमंत्र का जप करे। बालक का संस्पर्श होने पर भी तुरन्त प्रायश्चित्त करे। पाँचों अणुव्रतों के भंग होने पर स्त्रियों को दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। प्रत्याख्यान होने पर भी कारणवशात् उन अतिचारों का सेवन करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। सूर्यास्त पूर्व दिवस चरिम, अर्थात् रात्रि में चतुर्विध आहार के त्याग की प्रतिज्ञा नहीं लेने पर या लेकर उसका भंग होने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। पानी के जीवों को संतापित करने पर तथा षट्पदी (जूं) को मारने पर, मठ या चैत्य में निवास करने पर - इन दोषों की शुद्धि के लिए दस उपवास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रायश्चित्त बताया गया है। श्राविका ने जिस तप का नियम (प्रत्याख्यान) लिया है, उसमें यदि वह कुछ खा लेती है, अर्थात् प्रत्याख्यान का भंग हो जाता है, तो उसे पुनः वही तप करना चाहिए, जिस प्रत्याख्यान का भंग हुआ हो। श्रावक-श्राविकाओं के अन्तकर्म, अर्थात् मरणांतिक संलेखना में आलोचना, व्रतग्रहण, क्षमापणा, जिनपूजा, स्वाध्याय एवं अनशन - ये षट्कर्म होते हैं। प्रायश्चित्त-अधिकार में यहाँ श्रावकजीतकल्प की प्रायश्चित्त-विधि सम्पूर्ण होती है।

अब लघुजीतकल्प के अनुसार प्रायश्चित्त की विधि बताते हैं -

साधुओं एवं श्रावकों के प्रायश्चित्त की यह दूसरी शुद्ध विधि भी शास्त्र के आधार पर ही प्रतिपादित की गई है। प्रमादवश पंचाचार का उल्लंघन करने पर पूर्व में यतियों के जो प्रायश्चित्त बताए गए हैं, उनके अनुसार उन्हें प्रायश्चित्त दें। सूत्रों की आशातना करने पर, उसके प्रायश्चित्त के लिए विद्वानों ने आयम्बिलतप बताया है, किन्तु सूत्रों का सम्यक् अर्थ न करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट आशातना में क्रमशः पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ), एकासन एवं आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। सामान्यतः शास्त्र (जिनवाणी) की आशातना करने पर पाँच एकासने का प्रायश्चित्त आता है। समय पर आवश्यक क्रिया न करने पर तथा स्वाध्याय-प्रस्थापना करके उसे बीच में छोड़ने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। व्याख्यान के समय स्थापनाचार्य का परित्याग करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। गुरु के आसन की आशातना करने पर, अथवा गुरु के आसन से ऊँचे आसन पर स्थित हो गुरु को वन्दना करने रूप आशातना करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। कायोत्सर्ग एवं गुरु को वन्दन न करने पर भी उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अनागाढ़ योगों का देशभंग (आंशिक रूप से भंग) होने पर आयम्बिल तथा सर्वभंग होने पर उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। आगाढ़ योगों का देशतः भंग होने पर उपवास तथा सर्वभंग होने पर निरन्तर तीन उपवास (तेले) का प्रायश्चित्त आता हैं। सद्गुणों की, अर्थात् गुणीजनों की निन्दा करने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। मुनिजनों द्वारा ज्ञानाचार के ये प्रायश्चित्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताए गए हैं। देव, गुरु तथा स्थापनाचार्य की आशातना करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। स्थापनाचार्य का नाश करने पर पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ) तप का प्रायश्चित्त आता है। अवतारणक (द्रव्य आदि से पूजा) करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। सम्यक्त्व को दूषित करने वाले शंका आदि दोषों का अंशमात्र भी सेवन करने पर सामान्य मुनि को पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ) का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु आचार्य को एकासन का, पाठक को आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। कुछ लोगों के अनुसार आचार्य एवं उपाध्याय (पाठक) द्वारा इन दोषों का सेवन करने पर क्रमशः उपवास तथा एकासन का प्रायश्चित्त आता है। - इस प्रकार दर्शनाचार के ये प्रायश्चित्त बताए गए हैं।

अब प्राणातिपात-व्रत सम्बन्धी (दोषों की) प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं -

पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायुकाय एवं प्रत्येक वनस्पतिकाय का संस्पर्श होने पर इस दोष की शुद्धि के लिए विद्वानों ने निर्विकृति-तप का प्रायश्चित्त बताया है। इन जीवों को अल्प संतापित करने पर तथा गाढ़ संतापित करने पर श्रुतज्ञ-प्रायश्चित्त के रूप में क्रमशः पूर्वार्द्ध एवं एकासन करने के लिए कहते हैं। सूक्ष्म अप्काय एवं तेजस्काय का स्पर्श होने पर उसके प्रायश्चित्त के रूप में भी पूर्वार्द्ध करें। बादर, अप्काय एवं तेजस्काय का स्पर्श करने पर उसके प्रायश्चित्त हेतु विद्वानों ने आयम्बिल करने का निर्देश दिया है। जलचरों का संस्पर्श करने पर एकासन करने के लिए कहा है। गीले वस्त्रों का संस्पर्श होने पर भी एकासन-तप बताया है। ऊनी कम्बल से अप्काय एवं तेजस्काय का स्पर्शन करने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। तेजस्काय का स्पर्शन होने पर भी मन में शंकित होना की स्पर्शन हुआ या नहीं आयम्बिल (सजल) का प्रायश्चित्त आता है। यात्रा में अंकुरित वनस्पति को कुचलने पर प्रत्येक कोश के लिए उपवास का प्रायश्चित्त आता है। हरी वनस्पति का संस्पर्श करने पर तथा अत्यधिक मात्रा में बीजों को कुचलने पर निरन्तर तीन उपवास का प्रायश्चित्त आता है। पल्लवित कोपलों को कुचलने पर जितने दिन तक कुचले, उतने दिन के उपवास का प्रायश्चित्त आता है। नदी पार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने पर उस दोष की शुद्धि के लिए उपवास का प्रायश्चित्त बताया गया है। अनंतकाय एवं विकलेन्द्रिय जीवों को अल्प परितापित करने पर प्रायश्चित्त के रूप में एकासन-तप बताया है। उन्हें अत्यधिक संतापित करने पर उसके प्रायश्चित्त हेतु विद्वानों ने आयम्बिल-तप बताया है तथा उनका घात करने पर उपवास का या कभी-कभी बेले का प्रायश्चित्त आता है। असंख्य द्वीन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर दो बेले का प्रायश्चित्त आता है। असंख्य त्रीन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर विद्वानों ने उसकी शुद्धि के लिए तीन बेले का प्रायश्चित्त बताया है। असंख्य चतुरिन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर चार बेले का प्रायश्चित्त आता है। असंख्य असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर पाँच बेले का प्रायश्चित्त आता है। अधिक मात्रा में षट्पदी (जूं) का नाश करने पर भी पाँच बेले का प्रायश्चित्त आता है। पंचेन्द्रिय जीवों का संस्पर्श होने पर उस दोष की शुद्धि हेतु एकासन-तप करे। उनको अल्प संतापित करने पर उस पाप को प्रणाश करने के लिए आयम्बिल-तप करे। उनको अत्यधिक संतापित करने पर उस दोष को नष्ट करने के लिए उपवास करे तथा उनका घात करने पर बेले का प्रायश्चित्त बताया गया है। अधिक मात्रा में पंचेन्द्रिय जीवों का घात करने पर पंचेन्द्रिय जीवों की संख्या के अनुसार बेले करने का निर्देश दिया गया है। प्रमादवश जीव का घात करने पर ही यह प्रायश्चित्त होता है। क्रोधपूर्वक जीव का घात करने पर यह प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है, अर्थात् अन्य प्रायश्चित्त दिया जाता है। अंग का प्रमार्जन किए बिना खुजलाने पर निर्विकृति-तप का प्रायश्चित्त बताया है। प्रमार्जन किए बिना भित्ति, स्तम्भ, आसन का संस्पर्श करने पर, युवती के वस्त्र का संस्पर्श होने पर तथा शरीर एवं भूमि का प्रमार्जन न करने पर - इन सर्व दोषों की शुद्धि के लिए विज्ञजनों ने निर्विकृति का प्रायश्चित्त बताया है। गीले आंवलों का तथा पृथ्वीकाय का मर्दन करने पर, चुल्लूमात्र सचित्त जल का स्पर्श करने पर, पूर्व एवं पश्चात् कर्म दोष लगने पर, मात्र दो कोश लकड़ी के बने हुए बेड़े या नाव से जल को तैरने पर, नदी आदि पार करते समय नाभि तक जल का स्पर्श होने पर, अधिक मात्रा में अग्निकाय का स्पर्श होने पर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजकथा-देशकथा-स्त्रीकथा एवं भक्तकथा करने पर, क्रोध, मान एवं माया करने पर, अत्यधिक मात्रा में प्रमाद करने पर, भिक्षा में मिला हुआ आहार किसी अन्य को देने पर, उसका संचय करने पर, काल-बेला के समय जल-पान करने तथा पैर धोने पर - इन सभी दोषों की शुद्धि के लिए उत्कृष्टतः आयम्बिल-तप बताया गया है तथा जघन्यतः पूर्वार्द्ध-तप भी बताया गया है। भिक्षा के समय (४७ दोषों का) उपयोग न रखने पर तथा गोचरी की प्रतिलेखना न करने पर या अविधिपूर्वक ये दोनों क्रियाएँ करने पर, नदी आदि पार करने पर प्रमार्जन किए बिना पैर फैलाने पर, गृहस्थ के सामने पैर फैलाने पर, मल-मूत्र आदि का विसर्जन करते समय बोलने पर, गृहस्थों की भाषा में बोलने पर, अरिहंत-प्रतिमा के समीप कफ आदि का त्याग करने पर, मात्रा आदि रोकने पर, ग्लान आदि की सेवा न करने पर, श्रावकों से, अथवा सहवासियों से अंग का मर्दन करवाने पर, अकाल में अंग-मर्दन करने पर, शय्या की प्रतिलेखना न करने पर, द्वार में प्रवेश करने तथा निकलने की भूमि का प्रतिलेखन न करने पर, स्वाध्याय किए बिना आहार-पानी ग्रहण करने पर, मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना किए बिना आहार-पानी करने पर, गुरु के समक्ष आलोचना किए बिना आहार ग्रहण करने पर, अकाल में आहार-पानी ग्रहण करने पर, अकाल के समय अकारण मलोत्सर्ग-भूमि में जाने पर, चैत्य एवं साधुओं को वन्दन आदि न करने पर, गृहस्थ के आसन का उपयोग करने पर, गमनागमन की आलोचना न करने पर, मुखवस्त्रिका के द्वारा सचित्त वस्तु ग्रहण करने पर, क्षणमात्र के लिए जूते, वाहन आदि का उपयोग करने पर, अज्ञातमार्ग में परिभ्रमण करने पर, पात्र, उपधि आदि में से बीज आदि निकलने पर - इन दोषों की शुद्धि के लिए पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ) करना आवश्यक है। लम्बे (दीर्घ) समय तक चलने पर, इसी प्रकार दीर्घसमय तक श्रम करने पर, वर्षा के प्रारम्भ में वस्त्रशुद्धि करने पर - इन तीनों दोषो के लिए आयम्बिल का प्रायश्चित्त बताया गया है। कुछ आचार्य इन दोषों की शुद्धि के लिए बेले का प्रायश्चित्त बताते हैं। संवत्सरी एवं चातुर्मास के अन्त में दोष लगने पर भी दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चातुर्मास के अन्त में सर्व अतिचारों की शुद्धि के लिए कुछ मुनिजन बेले का प्रायश्चित्त बताते हैं, तो कुछ मुनिजन दस उपवास का प्रायश्चित्त भी बताते हैं।

अब तप के अतिचारों की शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं-

जिस तप का भंग हुआ हो, प्रायश्चित्त हेतु पुनः वही तप करे। ग्रंथि आदि नियम का भंग होने पर पूर्व में कही गई तप-विधि का तथा एक सौ आठ बार नमस्कारमंत्र का जाप करें। प्रायश्चित्त हेतु किए जाने वाले तप के भंग होने पर तथा कदाचित् विस्मृति के कारण उस दिन उस तप का प्रत्याख्यान न किया हो, तो जिस तप का प्रत्याख्यान लिया है, उस तप के प्रत्याख्यान का त्याग न करे, अर्थात् उसमें ही लीन रहें। जानबूझकर नियम का भंग करने पर उसकी शुद्धि प्रायश्चित्त से नही होती है। प्रत्याख्यान का विस्मरण होने पर तथा उनका भंग होने पर उसका प्रायश्चित्त गुरु के कथनानुसार करें। शक्ति होने पर भी किंचित् भी ज्ञानाभ्यास या तप न करे, इसी प्रकार संयम के साधनरूप वैयावृत्य एवं सेवा-सुश्रुषा न करे - तो इन दोषों की शुद्धि के लिए एकासन का प्रायश्चित्त बताया गया है।

अब योग करने वाले मुनियों के (योगोद्वहन के समय लगने वाले दोषों के) प्रायश्चित्त की विधि बताते हैं -

योगसाधक अप्रासुक (असंघट्टित) अन्नादि का भक्षण करे, रात्रि के समय अन्न-पान को पात्र से ढंककर रखे, अथवा उसे स्वयं के पास में रखकर रात्रि में उसका क्वाथ बनाए, अकाल में मलमूत्र का विसर्जन करे, अप्रतिलेखित स्थण्डिलभूमि पर मलमूत्र का विसर्जन करे तथा शरीर-शुद्धि करे, मधुकरीवृत्ति से गोचरी ग्रहण न करे। प्रगाढ़ रूप से क्रोध, मान, माया एवं लोभ करे, पंचमहाव्रतों का पूर्ण रूप से विराधन करे, किन्तु उसकी अंशमात्र आलोचना ही करे, दूसरों की चुगली और निंदा करे या पुस्तक भूमि पर या बगल में रखे या उसे दूषित हाथों से ग्रहण करे तथा पुस्तक की आशातना करने वाली अपवित्र वस्तु से लेप करे - तो इन सब दोषों की शुद्धि हेतु उपवास का प्रायश्चित्त आता है। शुभ या अशुभ शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप के प्रति क्रमशः राग करने पर आयम्बिल का तथा द्वेष करने पर उपवास का प्रायश्चित्त बताया गया है। बैठकर आवश्यकक्रिया करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। शक्ति होने पर भी बैठे-बैठे प्रतिक्रमण करे, अथवा आवश्यकक्रिया न करे, तम्बाकू, इलायची, लवंग, सुपारी, चन्द्र जाती के फलों का भक्षण करे, ताम्बूल (पान) आदि पंच सुगन्धी वस्तुएँ खाए, गुरु का संस्पर्श करे, कारण बिना दिन में सोए, वाहन से एक योजन तक जाए, जूते पहनकर एक योजन तक जाए या अज्ञातमार्ग पर साधु एक योजन तक जाए, मधुकरवृत्ति से गोचरी ग्रहण न करे, गुरु, ज्येष्ठ मुनि आदि को अविधिपूर्वक वंदन करे, एक योजन तक नौका द्वारा नदी आदि में जाए या अल्पमात्रा में पानी से भींगे, रात्रि में एक योजन तक जाए, स्त्रीकथा करे, प्रमादवश चारों कालों में, अर्थात् स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करे, पैरो से एक योजन तक नदी के मध्य में जाए, नदी, दीर्घिका आदि में जाने के पश्चात् प्रतिक्रमण न करे, (भोजन) मण्डली का त्याग करे तथा साधुओं को आहार करने हेतु निमंत्रित न करे - इन सब दोषों की शुद्धि के लिए उपवास का प्रायश्चित्त आता है। प्रासुककाय (जैसे - प्रवाल-पिष्टी) का भक्षण करने पर पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ) का प्रायश्चित्त आता है। अत्यधिक विकृति का सेवन करने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। अहंकारपूर्वक एक भी पंचेन्द्रिय जीव का घात करने पर उस महापाप की शुद्धि बेले के तप से भी नहीं होती है। जितने पंचेन्द्रिय जीवों को पीड़ित करे, उतनी ही संख्या में बेले का प्रायश्चित्त आता है। पुरुष तथा स्त्री का घात करने पर प्रत्येक के लिए दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। मृषावाद, अदत्तादान और परिग्रह व्रत का भंग करने पर प्रत्येक व्रत के लिए जघन्यतः एकासन, मध्यमतः आयम्बिल तथा उत्कृष्टतः उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अहंकारपूर्वक इन तीनों व्रतों का भंग करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। इन तीनों व्रतों का स्वप्न में भंग होने पर प्रत्येक व्रत के लिए चार लोगस्स के कायोत्सर्ग का प्रायश्चित्त आता है। मैथुन की आकांक्षा करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है, किन्हीं परिस्थितियों में बेले का प्रायश्चित्त भी आता है। हस्तमैथुन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। षंड पुरुष, तिर्यंच और स्त्रियों के साथ मैथुन की अत्यधिक इच्छा होने पर तथा मैथुनयोग्य भाषण करने पर - प्रत्येक के लिए मूल-प्रायश्चित्त आता है। स्त्रियों के स्तन आदि का स्पर्श होने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। स्त्रियों के वस्त्रों का स्पर्श होने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। कुछ लोग इसके प्रायश्चित्त के लिए एक सौ आठ बार नमस्कार-मंत्र का जप भी बताते हैं। अहंकारपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का खंडन करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। स्वप्न में ब्रह्मचर्य का भंग होने पर नमस्कारमंत्र सहित एक चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करें। आहार से लिप्त पात्र रखे तथा शुष्क भोजन का संचय करे, तो प्रत्येक के लिए उपवास का प्रायश्चित्त आता है। रात्रि के समय डोरी मुखवस्त्रिका, पात्र तथा तिर्पणी आदि आहार से लिप्त रह जाएं, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। विकृति का संचय करने पर तथा उसका सेवन करने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। दिन में आहार लाकर रखें और दिन में ही काल का अतिक्रमण करके खाए, रात्रि में लाए और रात्रि में खाए, रात्रि में लाए और दिन में खाए तथा दिन में लाए और रात्रि में ही खाए - इस प्रकार के चारों विकल्प में से प्रथम विकल्प में बेले का प्रायश्चित्त आता है तथा शेष तीनों विकल्पों में अट्ठम, अर्थात् तेले का प्रायश्चित्त आता है। शुष्क वस्तु का संचय करने पर पूर्वार्द्ध का तथा आर्द्रित वस्तु का संचय करने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। कुछ मुनिजन इसके लिए पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त भी बताते हैं। आधाकर्म-दोष से दूषित आहार करने पर उपवास का तथा पूतिकर्म-दोष से दूषित आहार करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। आत्मक्रीत एवं परक्रीत-दोष से दूषित आहार करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। औद्देशिक-दोष से दूषित आहार करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। शेष दोषों से दूषित आहार करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अल्पकालीन स्थापनादोष से दूषित आहार करने पर उत्कृष्टतः निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। दीर्घकालीन-स्थापनादोष से दूषित आहार करने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। सूक्ष्मप्राभृतिकदोष से दूषित आहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने पर भी एकासन का प्रायश्चित्त आता है। बादरप्राभृतदोष से दूषित आहार करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। पृथ्वीकाय को पीड़ित करने पर तथा खाने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। हाथ और पैर कीचड़ से लिप्त होने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। अप्काय (जल), तेजस्काय (अग्नि) और वायुकाय से मिश्रित आहार करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है तथा जानबूझकर इनका भक्षण करने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। परग्रामाहृतदोष से दूषित आहार ग्रहण करने पर क्रमशः आयम्बिल तथा पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ) का प्रायश्चित्त आता है। प्रमादपूर्वक, अप्रासुक वन्यउपज (प्रत्येक वनस्पतिकाय), जल एवं अग्नि का सेवन करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। पश्चात्कर्म से दूषित आहार करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। अन्य मतानुसार एकासन का प्रायश्चित्त भी आता है। सचित्त से पिहित तथा संश्रित आहार का सेवन करने पर उपवास का तथा अल्पदूषित पिण्ड का सेवन करने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। दायक की प्रशंसा करके प्राप्त किए गए आहार का सेवन करने पर सामान्यतया आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है, किंतु उत्कृष्टतः उपवास का प्रायश्चित्त भी आता है। आहार के समय के अतिरिक्त अन्य समय में या आहार करने का समय व्यतीत हो जाने पर आहार करे, तो आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है तथा उस अतिक्रमित आहार का विशेष रूप से परिभोग करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। शय्यातर के पिण्ड का भक्षण करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। बरसती हुई वर्षा के समय लाये गए अन्न का आहार करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। गर्मी में आहार का परिष्ठापन करने पर, अर्थात् प्रातःकाल लाए गए आहार को सन्ध्या तक रखने पर तथा वर्षाऋतु में आहार का त्याग करने पर, अर्थात् उसे फैंकने पर क्रमशः पूर्वार्द्ध एवं उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अन्नादि से लिप्त पात्र रखने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। अकाल के समय मल का विसर्जन करने पर, मलोत्सर्ग के पात्र में कृमि होने पर, मल में कृमि होने पर तथा उल्टी होने पर - प्रत्येक के लिए उपवास का प्रायश्चित्त आता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उपधि कहीं गिर गई हो और पुनः प्राप्त होने पर वह प्रतिलेखन करने से रह गई हो, अर्थात् उपधि की प्रतिलेखना करना भूल गए हों या दूसरों से उस उपधि का प्रतिलेखन करने हेतु कहे, तो जघन्य प्रकार की उपधि के लिए निर्विकृति, मध्यम प्रकार की उपधि के लिए पूर्वार्द्ध तथा उत्कृष्ट प्रकार की उपधि के लिए एकासन का प्रायश्चित्त आता है। सर्व उपधि कहीं गिर जाए और पुनः प्राप्त हो जाए, किन्तु प्रतिलेखन करने से रह जाए, तो चार सौ बारह नमस्कारमंत्र के जप का प्रायश्चित्त आता है। कदाचित् विस्मृतिवश जघन्य उपधि (मुहँपत्ति, पात्र केसरिका, गुच्छा, पात्रस्थापनक) की प्रतिलेखना रह जाए, तो आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है तथा कोई उसे चुरा ले जाए या धोए, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। मध्यम उपधि (पड़ला, पात्रबंध, चोलपट्टक, मात्रक, रजोहरण, रजस्त्राण) को कोई चुरा ले जाए या धोने ले जाए या धोये तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। सम्पूर्ण उपधि को चुरा ले जाए तथा आचार्यादिक को निवेदन किए बिना स्वेच्छा से उपधि वगैरह ले ले, तो मुनियों को बेले का प्रायश्चित्त आता है। गुच्छा, पात्रकेसरी, पात्रस्थापनक एवं मुखवस्त्रिका - ये चार जघन्य उपधि हैं। पड़ला, पात्रबन्ध, रजोहरण, चोलपट्ट, रजस्त्राण एवं मात्रक - ये मध्यम उपधि हैं। पात्र, दो सूतीकल्प (चादर) तथा एक ऊनीकल्प (कम्बल) - ये उत्कृष्ट उपधि हैं। वर्षाकाल के समय सर्व उपधि को धोने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। गुरु को दिखाए बिना आहार करने पर तथा अन्य को देने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। गुरु के रजोहरण तथा मुखवस्त्रिका का प्रमादपूर्वक संस्पर्श (संघट्ट) होने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है, कुछ लोग इसके लिए उपवास का प्रायश्चित्त भी बताते हैं। मुखवस्त्रिका कहीं गिर जाने पर मिले या ना मिले, अथवा उसको कोई चुराकर ले जाए, तो आचार्यों ने उसका उत्कृष्ट प्रायश्चित्त उपवास बताया है। यदि रजोहरण कोई चुरा कर ले जाए और पुनः मिले नहीं, तो बेले का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार रजोहरण के लिए अट्ठम का प्रायश्चित्त भी बताया गया है। मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण को नष्ट करने पर नीवि का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण कहीं गिर जाए और पुनः प्राप्त हो जाए, किन्तु प्रतिलेखना करने से रह जाए, तो निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण खो जाने पर पुनः न मिले, तो उसके लिए मनीषियों ने बेले का प्रायश्चित्त बताया है। मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना न करने पर एकासने का प्रायश्चित्त आता है। रजोहरण की प्रतिलेखना न करने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। संध्या के समय प्रत्याख्यान न करने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। प्रत्याख्यान करने के बाद पानी पी ले, अर्थात् प्रत्याख्यान का भंग कर दे, तो उस प्रत्याख्यान के समतुल्य बताए गए नमस्कार-मंत्रों की संख्या का जप करना चाहिए। प्रत्याख्यान करने के बाद भूल जाए कि मैंने प्रत्याख्यान किया था या नहीं, तो उसके लिए एकासन का प्रायश्चित्त आता है। संध्या के समय चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान न किया हो तथा प्रभातकाल में नवकारसी, पोरसी आदि का प्रत्याख्यान न किया हो या प्रत्याख्यान करने पर भी वह प्रत्याख्यान टूट गया हो, तो उसके लिए पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। स्थण्डिलभूमि का प्रतिलेखन न करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। रात्रि में अन्य किसी के द्वारा प्रतिलेखित भूमि पर मलोत्सर्ग करे, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। सर्वपात्रों का भंग करने पर उत्कृष्टतः आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। मांगकर लाई गई सूई के खो जाने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। कुछ लोग इसके लिए दस उपवास का प्रायश्चित्त बताते हैं। बिना प्रतिलेखन किए द्वार खोले या चटाई बिछाए, तो पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। षट्पदी (जूँ आदि) को संस्पर्शित करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। समय पर प्रतिक्रमण न करे, गोचरी का प्रतिक्रमण (आलोचना) न करे, नैषेधिक आदि दसविध सामाचारी का पालन न करे - इन सबके लिए एकासन का प्रायश्चित्त बताया गया है।

वीर्यातिचार सम्बन्धी पाक्षिक आदि में जो करने योग्य तपविधि है, वह तप यथाशक्ति क्षुल्लक आदि के द्वारा किया जाना चाहिए। उन्हें नहीं करने पर जो दोष लगते हैं, उसकी प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाक्षिक-तप से भ्रष्ट होने पर, अर्थात् पाक्षिक हेतु बताया गया तप न करने पर क्षुल्लक को निर्विकृति, यति को एकासन, स्थविर को पूर्वार्द्ध, उपाध्याय को आयम्बिल एवं आचार्य को उपवास का प्रायश्चित्त आता है। निर्दिष्ट चातुर्मासिक-तप न करने पर क्षुल्लक को पूर्वार्द्ध, वृद्धमुनि को एकासन, सामान्यमुनि को आयम्बिल, उपाध्याय को उपवास एवं आचार्य को बेले का प्रायश्चित्त आता है। वार्षिक-तप न करने पर क्षुल्लक को एकासन, स्थविर को आयम्बिल, सामान्यमुनि को उपवास, उपाध्याय को बेले का एवं आचार्य को तेले का प्रायश्चित्त आता है।

अब ज्ञानातिचार की प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं -

अनागाढ़ योगों में योग का एवं उसमें उद्देशक, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध एवं अंगसूत्र की वाचना हेतु की जाने वाली विधि का भंग होने पर, अथवा उसमें अतिचार लगने पर क्रमशः एकासन, पूर्वार्द्ध, एकासन एवं उपवास का प्रायश्चित्त आता है। आगाढ़ योगों में उद्देश, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध एवं अंग की वाचना-विधि का भंग होने पर, अर्थात् उसमें अतिचार लगने पर क्रमशः पूर्वार्द्ध, एकासन, आयम्बिल एवं बेले का प्रायश्चित्त आता है। अयोग्य व्यक्ति को, अथवा मूर्ख या वक्रजड़ को सूत्र की वाचना देने पर क्रमशः आयम्बिल एवं उपवास का प्रायश्चित्त आता है। योग्य पात्र के मिलने पर उसे सूत्र एवं अर्थ की वाचना न दे, तो भी उपवास का प्रायश्चित्त आता है। तपाचार में ग्रंथियुक्त प्रत्याख्यान का भंग हो जाए, मंत्रयुक्त प्रत्याख्यान का भंग हो जाए, पोरसी का प्रत्याख्यान भंग हो जाए, चौविहार प्रत्याख्यान का भंग हो जाए, अन्य कोई नियम भंग हो जाए, पाणाहार आदि का प्रत्याख्यान भंग हो जाए, प्रतिक्रमण अकाल में किया हो, स्वाध्याय-प्रस्थापना के समय कायोत्सर्ग आदि न किया हो, गमनागमन सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण नहीं किया हो, इसी प्रकार आवश्यक क्रिया न की हो तथा कायोत्सर्ग नहीं किया हो - इन सब दोषों के लिए आयम्बिल का प्रायश्चित्त बताया गया है। आवश्यकक्रिया में कायोत्सर्ग न करे, तो पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। तीन आवश्यक न करे, तो एकासने का तथा सर्व आवश्यकक्रिया न करे, तो उपवास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रायश्चित्त आता है। वन्दन-आवश्यक न करने पर भी यही प्रायश्चित्त आता है। सचित्तजल का सेवन (पान) करने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। नैषेधिकी आदि सामाचारी का पालन न करने पर, उत्तरासंग का त्याग करने पर, डण्डे की प्रतिलेखना न करने पर, प्रमार्जन किए बिना ही उसे रखने पर, हाथ एवं वसति को प्रमार्जित किए बिना ही प्रमार्जित सर्व उपकरणों को तथा उपधि, शय्या एवं आसन को करने या रखने पर, चटाई, पाट आदि तथा वस्त्र-आच्छादन आदि की दोनों समय प्रतिलेखना न करने पर, प्रतिदिन दिन का एक प्रहर शेष रहने पर भाण्ड (पात्र) आदि का संपुटीकरण (उन्हें एक के अन्दर एक रखना) तथा उनकी एवं पाट आदि की प्रतिलेखना न करने पर - इन सर्व दोषों में निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। यह सब कथन जीतकल्प के अनुसार कहा गया है। यह यतिजनों की प्रायश्चित्त-विधि कही गई है। लघुजीतकल्प-विधि के अनुसार यहाँ यतिजनों की प्रायश्चित्त-विधि संपूर्ण होती है।

अब व्यवहार-जीतकल्प के अनुसार यतिजनों एवं श्रावकों की प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं -

इसमें सर्वप्रथम श्रावकों के ज्ञानाचार में लगने वाले दोषों की प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं। ज्ञानाचार का भंग करने वाले अकाल, अविनय आदि आठ अतिचारों के लगने पर प्रत्येक अतिचार की शुद्धि हेतु एकासन का प्रायश्चित्त बताया गया है। ज्ञानी एवं ज्ञान के साधनों के प्रति उपेक्षाभाव रखने या उनकी आशातना करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। अध्ययन करते समय तथा व्याख्यान के समय कोई विघ्न उत्पन्न करने पर भी एकासन का प्रायश्चित्त आता है। पुस्तक आदि नीचे जमीन पर रखे, कांख (बगल) में रखे, खराब हाथ से उठाए या उस पर अपवित्र वस्तु का लेप करे - तो इन दोषों के लगने पर प्रत्येक के लिए आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। ज्ञान की जघन्य आशातना करने पर पूर्वार्द्ध का, मध्यम आशातना करने पर एकासन का तथा उत्कृष्ट आशातना करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। कुछ लोग इसके लिए उपवास का प्रायश्चित्त भी बताते हैं। सामान्यतः आगम की आशातना करने पर आयम्बिल आता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, किन्तु उसके किसी सूत्रविशेष की आशातना करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। दर्शनाचार के शंकादि पाँच अतिचारों का देशतः (आंशिक) सेवन करने पर प्रत्येक अतिचार के लिए आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है तथा उनका सर्वतः (पूर्णतया) सेवन करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। संयम का त्याग करने की भावना रखने पर, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करने पर, पार्श्वस्थ आदि के साथ वात्सल्यभाव रखने पर - इन दोषों का आंशिक रूप से सेवन करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है तथा सम्पूर्ण रूप से इन दोषों का सेवन करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। उन्हें आंशिकरूप से असंयमी कहने पर आयम्बिल का तथा पूर्णरूप से असंयमी कहने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। यति के प्रवचन श्लाघनीय होने पर भी उसकी प्रशंसा न करे, साधर्मिकवात्सल्य न करे तथा सामर्थ्य होने पर भी शासन की प्रभावना न करे - इनमें अंशतः दोष लगने पर प्रत्येक दोष के लिए एक आयम्बिल का तथा समग्रतः दोष लगने पर प्रत्येक के लिए एक-एक उपवास का प्रायश्चित्त आता है। सामान्यरूप से अरिहंत परमात्मा के बिम्ब की आशातना करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है, किन्तु परमात्मा के बिम्ब पर अपवित्र लेप लगाने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। धूपदानी, कुम्पिका आदि तथा स्वयं के वस्त्रादि जिनबिम्ब के लगने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। विधिपूर्वक प्रमार्जन न करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। नीचे जमीन पर बिम्ब गिरे, तो पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। कितने ही लोग प्रतिमा की जघन्य आशातना में पूर्वार्द्ध, मध्यम आशातना में आयम्बिल तथा उत्कृष्ट आशातना में उपवास का प्रायश्चित्त बताते हैं।

अब चारित्राचार सम्बन्धी अतिचारों के प्रायश्चित्त बताते हैं -

बिना किसी प्रयोजन के अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय का स्पर्श करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। इन्हें अल्प पीड़ा देने पर पूर्वार्द्ध तथा अत्यधिक पीड़ा देने पर उपवास का तथा उन पर उपद्रव करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। अनंतकाय एवं विकलेन्द्रिय जीवों का स्पर्श करने पर पूर्वार्द्ध का तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनको कष्ट देने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। एक द्वीन्द्रिय जीव का भी घात करे, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है, दो द्वीन्द्रिय जीवों का विनाश करने पर दो उपवास तथा तीन द्वीन्द्रिय जीवों का विनाश करने पर तीन उपवास का प्रायश्चित्त आता है। संक्षेप में जितने द्वीन्द्रिय जीवों का घात करे, उतनी ही संख्या में उपवास का प्रायश्चित्त आता है। त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीवों का घात करने पर भी इसी प्रकार का प्रायश्चित्त आता है। असंख्य द्वीन्द्रिय जीवों का घात करने पर दो बेले का, असंख्य त्रीन्द्रिय जीवों का घात करने पर तीन बेले का तथा असंख्य चतुरिन्द्रिय जीवों का घात करने पर चार बेले का प्रायश्चित्त आता है। पंचेन्द्रिय जीवों का स्पर्श करने पर एकासन का, उन्हें अल्प संतापित करने पर आयम्बिल का, अत्यधिक संतापित करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। प्रमादवश एक पंचेन्द्रिय जीव का घात होने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार प्रमादवश जितने पंचेन्द्रिय जीवों का घात करे, उतने ही बेले का प्रायश्चित्त आता है। अहंकारपूर्वक एक पंचेन्द्रिय जीव का घात करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार दर्पपूर्वक जितनी संख्या में पंचेन्द्रिय जीवों का घात करे, उतनी ही मात्रा में दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है।

अब तप के अतिचारों की प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं -

कोई तप करे और उसमें यदि कोई विघ्न करे, उसकी निंदा करे, तो निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। इन दोनों अतिचारों का प्रत्याख्यान न करने पर, अर्थात् इनकी प्रतिज्ञा के अभाव में यति को उपवास का प्रायश्चित्त आता है। श्रावक को इनका प्रत्याख्यान न करने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। नवकारसी, पोरसी, पूर्वार्द्ध, एकासना, निर्विकृति, आयम्बिल एवं उपवास का प्रत्याख्यान भंग होने पर पुनः उसी प्रत्याख्यान का प्रायश्चित्त आता है। वमन आदि के कारण प्रत्याख्यान का भंग होने पर एकासना का या निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। ग्रन्थिसहित या मुष्टिसहित प्रत्याख्यान का भंग होने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। प्रतिदिन नवकारसी आदि के प्रत्याख्यान नहीं करने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। नवकारसी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पोरसी एवं ग्रन्थि सहित प्रत्याख्यान का भंग होने की दशा में प्रायश्चित्त हेतु कुछ लोग एक सौ आठ नमस्कार-मंत्र का जाप करने के लिए भी कहते हैं।

अब वीर्यातिचार की प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं -

अत्यधिक सामर्थ्य होने पर भी परमात्मा की पूजा, स्वाध्याय, तप, दान आदि उत्साहपूर्वक न किया हो, शक्ति होने पर भी आवश्यकक्रियारूप कायोत्सर्ग आदि अल्पमात्रा में भी न किया हो, तो प्रत्येक दोष के लिए एकासन का प्रायश्चित्त आता है। कपटपूर्वक तप एवं ज्ञान की आराधना करे, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से शक्ति होने पर भी किंचित्, अर्थात् अतिसरल अभिग्रह करे, अभिग्रह आदि न करे तथा अभिग्रह लेकर भी उसे तोड़े, तो पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। नियम होने पर भी परमात्मा की पूजा, वन्दना आदि न करे, तो पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। अंधकार में गुरु के चरणों का पैर आदि से स्पर्श होने पर तथा गुरु की अन्य कोई सूक्ष्म आशातना होने पर पूर्वार्द्ध का, मध्यम आशातना होने पर एकासन का तथा उत्कृष्ट आशातना होने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। अस्थापित (अप्रतिष्ठित) स्थापनाचार्य का पैर से संस्पर्श होने पर निर्विकृति तथा स्थापित (प्रतिष्ठित) स्थापनाचार्य का पैर से संस्पर्श होने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है (?)। स्थापनाचार्य नीचे जमीन पर गिर जाए या टूट जाए और उसकी क्रिया न करे, तो क्रमशः एकासन, निर्विकृति एवं पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। व्रतियों को आसन न देने पर, मुखवस्त्रिका आदि का संग्रह करने पर, उनको पीने के लिए पानी एवं आहार हेतु भोजन का दान न करने पर क्रमशः नीवि, नीवि, एकासन एवं आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। नियम होने पर भी साधुओं को वंदन (नमस्कार) न करे, तो पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। गुरुद्रव्य का गुरु के वस्त्र का तथा साधारण द्रव्य का अपने हेतु उपयोग करने पर विनयपूर्वक उससे अधिक मात्रा में वापस करें (लौटाएं)। देवद्रव्य, जल, आहार का परिभोग करने पर, उससे अधिक द्रव्य का देवकार्य में व्यय करें। देवद्रव्य का भक्षण करने पर जघन्यतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयम्बिल, मध्यमतः उपवास एवं उत्कृष्टतः बेले का प्रायश्चित्त बताया गया है। जल के जीवों का विनाश करने पर, चींटी, मकड़ी एवं इसी प्रकार के अन्य जीवों का अधिक संख्या में नाश करने पर, दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अल्पजीवों का घात करने पर अल्पप्रायश्चित्त दें। एक बार अशुद्ध, अर्थात् जीवों से युक्त पानी पीने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। जीवों से युक्त आहार-पानी का एक बार सेवन करने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है तथा बारंबार उस प्रकार के आहार-पानी का सेवन करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। मृषावादत्याग-व्रत का भंग करने पर जघन्यतः पूर्वार्द्ध मध्यमतः आयम्बिल एवं उत्कृष्टतः दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। किसी पर मिथ्या दोषारोपण करने पर, जैसे - अमुक को खजाना मिला है, उत्कृष्टतः उपवास, मध्यमतः निर्विकृति एवं जघन्यतः पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। स्वयं के घर में अज्ञानतावश चोरी करने पर जघन्यतः पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। जानबूझकर घर में चोरी करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। जानबूझकर ऐसी चोरी करने पर, जिससे घर में कलह हो, दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। कुछ आचार्यों ने इसके लिए दस उपवास तथा शुद्ध मन से एक लाख नमस्कार-मंत्र का जाप करने का भी प्रायश्चित्त बताया है। अहंकारपूर्वक की जाने वाली सभी चोरियाँ चाहे वे जघन्य हो, तो भी उसका प्रायश्चित्त दस उपवास ही बताया गया है। चतुर्थ व्रत में स्व-पत्नी एवं वेश्या के सम्बन्ध में गृहीत नियम का भंग होने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। हीनजाति की परस्त्री से संभोग करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। स्वजाति की परस्त्री से संभोग करने पर एक लाख नमस्कार-मंत्र के जाप सहित दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। उत्तम कुल की परस्त्री के साथ संभोग करने पर भी दस उपवास सहित एक लाख अस्सी हजार नमस्कार-मंत्र के जाप का प्रायश्चित्त आता है। जानबूझकर, अर्थात् बलपूर्वक स्वजाति की परस्त्री के साथ संभोग करने पर मूल प्रायश्चित्त आता है। वेश्या के साथ इस व्रत का भंग करने पर बेले का तथा पत्नी के साथ गृहीत नियम का भंग करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। बलपूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी पत्नी के साथ इस व्रत का भंग करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। शब्दभेद, अर्थात् ध्वनि की समानता के कारण अपनी पत्नी के भ्रम में, अन्धकार में अन्य किसी नारी के साथ इस व्रत का भंग करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। निर्बल स्त्री के साथ बलपूर्वक इस व्रत का भंग करने पर भी दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। विवाहित स्त्री के साथ व्रत की निश्चित काल-मर्यादा का उल्लंघन करने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। उत्तम कुल की स्त्री के साथ मर्यादा का उल्लंघन करने पर मूल-प्रायश्चित्त आता है, किन्तु प्रसिद्धपात्र, अर्थात् ख्यातिप्राप्त व्यक्ति को दस उपवास का प्रायश्चित्त दें, उसे मूल-प्रायश्चित्त न दें। परिग्रहव्रत का भंग होने पर जघन्यतः एकासन, मध्यमतः आयम्बिल एवं उत्कृष्टतः उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अहंकारपूर्वक इस व्रत का भंग करने पर दस उपवास का, अथवा एक लाख अस्सी हजार नमस्कार-मंत्र के जाप का प्रायश्चित्त आता है। कदाचित् पाँचों अणुव्रतों का स्वप्न में भंग हो, तो चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करें। दिग्व्रत एवं भोगोपभोग व्रत का खण्डन होने पर तथा रात्रि में भोजन बनाने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अहंकारवश मक्खन, मदिरा, मांस एवं मधु (शहद) का भक्षण करने पर प्रत्येक के लिए दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। औषधि के रूप में मक्खन एवं शहद का सेवन करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। मदिरालय में मदिरा का सेवन करने पर, अनंतकाय का भक्षण करने पर तथा पाँच उदुम्बर फलों का भक्षण करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। प्रत्येक वनस्पतिकाय का भक्षण करने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है - यह प्रायश्चित्त-विधान साधुओं द्वारा कहा गया है।

सचित्त, द्रव्य, वस्त्र, अन्न, शय्या आदि चौदह प्रकार के नियमों का भंग करने पर प्रत्येक नियम के लिए पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। सचित्तवस्तु-त्याग का नियम होने पर भी प्रत्येक वनस्पतिकायरूप आम्रफल आदि का भक्षण करने पर बेले का प्रायश्चित्त आता है। चुगली, परनिंदा, मिथ्यादोषारोपण एवं राग करने पर प्रत्येक के लिए आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। चार प्रकार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनर्थदण्ड का सेवन करने पर गुरुजनों ने उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। नपुंसक आदि का विवाह करने पर तथा अन्य विवाह कराने पर प्रत्येक विवाह के लिए क्रमशः आयम्बिल एवं पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। नियम होने पर भी सामायिक न करने पर तथा सामायिक का भंग करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। सामायिक में जल एवं अग्नि आदि का स्पर्श करने पर जितनी बार स्पर्श किया हो, उतने पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। राजा तथा धर्म के कारण देशावकाशिक-व्रत का भंग होने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। नियम होने पर भी पौषध न करे, साधुओं को दान न दे, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है।

अब पौषधभंग होने पर उसके प्रायश्चित्त की विधि बताते हैं-

उपाश्रय से बाहर जाते समय निसीही आदि न बोलने पर, स्थण्डिलभूमि का प्रमार्जन न करने पर, अप्रमार्जित स्थण्डिलभूमि पर कफ एवं मल-मूत्र का त्याग करने पर, प्रमार्जन किए बिना वस्तु लेने या रखने पर, प्रमार्जन किए बिना कपाट आदि खोलने या बन्द करने पर, काया का प्रमार्जन किए बिना खुजली करने पर, दीवार, स्तम्भ आदि का प्रमार्जन किए बिना सहारा लेने पर, गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना न करने पर तथा उपधि की प्रतिलेखना न करने पर - इन सब दोषों के लिए निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। दूसरों के अंगों का स्पर्श करने पर, ज्योति का स्पर्श करने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। बिना लोमपटी के विप्रुट[1] का स्पर्श करने पर पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। मुखवस्त्रिका कहीं गिर जाए, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अप्रमार्जित भूमि पर मूत्र का विसर्जन करने पर तथा दिन में सोने पर आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार सामायिक में भी अतिचार लगने पर यथोचित प्रायश्चित्त दें।

अब श्रावक के लिए करणीय आवश्यक में लगे दोषों की प्रायश्चित्त-विधि बताते है-

---

[1] जम्बूविजय जी म.सा. के अनुसार लोमपटी का अर्थ एक छोटा सा रूमाल लगता है तथा विप्रुट का अर्थ मुख की लाला लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य को वन्दन करने पर निर्विकृति का पुनः इसी प्रकार शरीर के पृष्ठ भाग की तरफ से दो बार वन्दन करने पर पूर्वार्द्ध, तीन बार वन्दन करने पर एकासन तथा चार बार वन्दन करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। विधिपूर्वक गुरु को वन्दन न करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। कायोत्सर्ग न करने पर निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। विधिपूर्वक कायोत्सर्ग न करने पर पूर्वार्द्ध का तथा कायोत्सर्ग नहीं करने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है। सामायिक में दूसरों को सामायिक पलाए, अर्थात् पूर्ण कराए या समय से पहले सामायिक पूर्ण करे, तो आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। प्रतिक्रमण न करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। आलस्य के कारण बैठे-बैठे प्रतिक्रमण करे, तो आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। - गृहस्थ के लिए आवश्यकक्रिया में लगे दोषों की यह प्रायश्चित्त-विधि बताई गई है।

मतान्तर से स्थूलमृषावादविरमण-व्रत का भंग करने पर जघन्यतः आयम्बिल, मध्यमतः उपवास एवं उत्कृष्टतः सौ उपवास का प्रायश्चित्त आता है। स्थूल अदत्तादान-विरमण-व्रत का भंग करने पर जघन्यतः निर्विकृति, मध्यमतः बेले तथा जानबूझकर दूसरों की वस्तु ग्रहण करने पर तथा अज्ञात अवस्था में दूसरों की वस्तु ग्रहण करने पर उत्कृष्टतः अर्थात् दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। मैथुनव्रत का भंग करने पर गृहस्थ को मूल-प्रायश्चित्त आता है। परस्त्री के साथ संभोग करने पर, नीचकुल की परस्त्री का संभोग करने पर तथा गुप्त रूप से परस्त्री के साथ संभोग करने पर उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अज्ञानवश मैथुनव्रत का भंग होने पर पाँच उपवास या दस उपवास का तथा जानबूझकर इस व्रत का भंग करने पर मूल-प्रायश्चित्त आता है। अज्ञानतावश स्थूलपरिग्रहविरमण-व्रत का अतिक्रमण होने पर विद्वानों ने उसके लिए उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। दसों दिशाओं में जाने-आने के परिमाणरूप दिग्परिमाणव्रत का भंग होने पर तथा इसी प्रकार अज्ञानतावश तथा अभिमानपूर्वक सभी व्रतों का भंग करने पर प्रत्येक व्रत के लिए पाँच उपवास या दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त-विधि श्रावकों के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताई गई है। यति एवं श्रावकवर्ग की यह विशुद्ध प्रायश्चित्त-विधि व्यवहारसूत्र एवं जीतकल्पसूत्र के पदों के अर्थ का यथाशोधन करके बताई गई है। यह प्रायश्चित्त-विधि शिष्यों के स्व-पर हित के लिए श्रीयशोभद्रसूरी के शिष्य श्री पृथ्वीचन्द्रसूरि द्वारा लिखी गई है। व्यवहारसूत्र एवं जीतकल्प के अनुसार यति एवं श्रावक की यह प्रायश्चित्त-विधि है।

अब प्रकीर्णक-प्रायश्चित्त एवं भाव-प्रायश्चित्त की विधि बताते हैं -

प्रायश्चित्त की अन्य विधि इस प्रकार हैं - पापों के अनुसार, प्रायश्चित्त की अनेक विधियाँ हैं। पुन-पुनः उस पाप की पुनरावृत्ति करने के कारण, प्रमाद के कारण तथा अहंकारपूर्वक पापकार्य की पुनरावृत्ति के कारण, आत्मा को बंधन में डालने वाले पाप कर्मों के परिणाम अनेक प्रकार के होते हैं। जीवों के चार से लेकर दस प्राण होते हैं। उनमें से किसी भी एक प्राण की तथा विकलेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने पर उनके प्राणों की संख्या के आधार पर नवकारसी से लेकर उपवास तक के प्रायश्चित्त बताए गए हैं। उसके अतिरिक्त अत्यधिक जीवों का घात करने पर अनुमानपूर्वक प्रायश्चित्त दें। अनेक पापों की आलोचना एक ही प्रायश्चित्त में करके एक ही प्रायश्चित्त दें। दृढ़व्रतधारी एवं सबलदेह वालों को शास्त्रानुसार अधिक (उत्कृष्ट) प्रायश्चित्त दें। मध्यम देह वालों (मध्यमशक्ति वालों) को मध्यम एवं निर्बलदेह वालों को, अर्थात् शक्तिहीनों को जघन्य, अर्थात् अल्प प्रायश्चित्त दें। प्रायश्चित्त के प्रति व्यक्ति का आदरभाव व्यक्ति की शक्ति एवं विशेष परिस्थितियों का विचार करके ही प्रायश्चित्त दिया जाता है। गीतार्थ एवं तत्त्वज्ञों को तो हमेशा ही तीव्र तप करना चाहिए। जिनेश्वर परमात्मा द्वारा तप को प्रायश्चित्त का दसवाँ अंश ही कहा गया है। श्रावकों की प्रायश्चित्त-विधि भी इसी प्रकार की जाननी चाहिए। उस विधि का उपयुक्त रीति से विचार करके लोक में भी उसका पालन किया जाना चाहिए। यहाँ स्याद्वादसिद्धान्त पर आधारित वीतराग के मत में पंचाचार से सम्बन्धित प्रायश्चित्त-विधि बताई गई है। यति एवं श्रावकों की प्रायश्चित्त-विधि में सूक्ष्म भेद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब प्रकीर्णकरूप से दोनों की प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं -

मुनि यदि लोच की पीड़ा से चलायमान हो जाए, तो उपवास का प्रायश्चित्त आता है। बाईस परीषहों को सहन न कर पाए, तो भी उपवास का प्रायश्चित्त आता है। अध्यापन कराते समय श्रावक एवं शिष्य आदि को मारने पर इन दोषों की शुद्धि प्रतिक्रमण से होती है। मुमुक्षु यदि सद्गुरु की आज्ञा का विधिपूर्वक पालन न करे, अर्थात् उनकी आज्ञा का उल्लंघन करे, तो उसे निर्विकृति का प्रायश्चित्त आता है। अविधिपूर्वक गुरु के पास खड़े रहकर वन्दन करे, उनसे बातचीत करे एवं उन्हें निर्देश दे, तो दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। रोग आदि में चिकित्सा कराने पर एकासन का प्रायश्चित्त आता है।

जिनसे पाँच महाव्रतों का भंग होता हो - ऐसे कार्य प्राणान्त का संकट आने पर भी साधुओं के लिए किसी भी रूप में करणीय नहीं हैं। कामभाव के बिना भी स्त्रियों के साथ अत्यधिक संलाप (वार्तालाप) करने पर, राजद्वार पर जाने पर, अन्य तैर्थिकों से वाद-विवाद करने पर, कौतुकवश उन्हें देखने पर तथा मिथ्याशास्त्र का अध्ययन करने पर - इन सब दोषों के लिए मुनियों को आयम्बिल का प्रायश्चित्त आता है। पार्श्वस्थ एवं अवसन्न भिक्षु के साथ रहने पर या उनके जैसा आचरण करने पर साधुओं को मूल-प्रायश्चित्त आता है, कुछ लोग इसके लिए दस उपवास का प्रायश्चित्त बताते हैं। श्रावकों द्वारा लज्जादि के कारण अन्य परम्पराओं के देवताओं तथा साधुओं को नमस्कार करने पर उसकी शुद्धि जिनपूजा द्वारा होती है। बलात्कारपूर्वक सर्वव्रतों का भंग करने पर मुनियों एवं गृहस्थों को दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। श्राविका को प्रसूति होने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। साधुओं की शुश्रूषा करते समय उनकी काया का स्पर्श करने पर तथा शुश्रूषा के पूर्ण होने पर भी देह का स्पर्श करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। जिस प्रकार साधु एवं साध्वियों की प्रायश्चित्त-विधि समान है, उसी प्रकार श्रावक एवं श्राविकाओं की भी प्रायश्चित्त-विधि समान ही बताई गई है। सागर सम गहन महानिशीथ, निशीथ दोनों जीतकल्प (जीतकल्प एवं लघुजीतकल्प/श्राद्धजीतकल्प) तथा प्रायश्चित्त सम्बन्धी अन्य शास्त्रों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखकर प्रायश्चित्त की यह श्रेष्ठ विधि कही गई है। सूक्ष्मरूप से भी व्रत का भंग होने पर, अर्थात् पापरूप अतिचारों के लगने पर जो परमात्मा के तत्त्व को जानते हैं, ऐसे मुनियों को शास्त्र देखकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। मोह या स्वमति के गर्व से मैंने कुछ कम या अधिक कहा हो, तो मेरा वह पाप मिथ्या दुष्कृत हो। कदाचित् यहाँ कोई प्रायश्चित्त-विधि बताने से रह गई हो, तो उसे महासागररूप जिन-आगम से देखें। - प्रायश्चित्त-अधिकार में प्रकीर्ण-प्रायश्चित्त एवं भाव-प्रायश्चित्तों की यह विधि समाप्त होती है।

अब स्नान के योग्य प्रायश्चित्त बताते हैं -

अभी तक सभी पापों के लिए भाव-प्रायश्चित्त की विधि बताई गई। अब बहिर्लेपरूप द्रव्यशुद्धि की विधि बताते हैं। आचारज्ञों द्वारा बहिर्लेप के १. स्पर्श २. कृत्य ३. भोजन ४. दुर्नय एवं ५. ज्ञातिमिश्रण - ये पाँच प्रकार बताए गए हैं।

स्पर्श - चांडाल, शूद्र आदि का स्पर्श करने पर
कृत्य - दुष्टकर्म करने पर
भोजन - दूषित आहार करने पर
दुर्नय - किसी की निन्दा आदि करने पर
विमिश्रण - विवाह-समारोह आदि में अन्य जाति के साथ भोजन करने पर।

- इन पाँच प्रकार के दोषों के प्रायश्चित्त के रूप में पाँच प्रकार की प्रायश्चित्त-विधि बताते हैं। जिस प्रकार भावदोषों के प्रायश्चित्त के रूप में दस प्रकार की प्रायश्चित्त-विधि बताई गई है, उसी प्रकार बाह्य (द्रव्य) दोषों की शुद्धि के लिए पाँच प्रकार के प्रायश्चित्त बताए गए हैं। बाह्यशुद्धि हेतु किए जाने वाले ये पाँच प्रायश्चित्त निम्न पाँच प्रकार के हैं - १. स्नान के योग्य २. करने के योग्य ३. तप के योग्य ४. दान के योग्य ५. विशोधन के योग्य। सभी प्रकार के सुगन्धित पदार्थों से युक्त जल से नख से शिखा पर्यन्त स्नान करते हैं, पंचगव्य तथा देवता के स्नात्रजल से आचमन करते हैं। इसी प्रकार तीर्थों के जल एवं गुरु के चरणों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्शित जल से आचमन करते हैं, उसे स्नान के योग्य प्रायश्चित्त कहा है - यह स्नानार्ह (स्नान योग्य) प्रायश्चित्त की विधि है।

जिन पापों की शान्तिक-पौष्टिक-कर्म, तीर्थयात्रा, देव-गुरु की पूजा, संघ-पूजा आदि कर्म तथा मौन आदि के द्वारा शुद्धि होती हो, उन्हें विचक्षणों ने करणीयार्ह (करने के योग्य) प्रायश्चित्त कहा है।

जिन पापों की एकभक्त, रसत्याग, फलाहारी एकासन द्वारा शुद्धि होती हो, उन्हें तपोर्ह (तप के योग्य) द्रव्य-प्रायश्चित्त कहा गया है।

जिन पापों की शुद्धि देव-प्रतिमा तथा पुस्तक आदि खरीदकर साधुओं को देने से हो, उसे दानार्ह (दान करने योग्य) बाह्य प्रायश्चित्त कहा जाता है।

अब विशोधनयोग्य प्रायश्चित्त-विधि विस्तारपूर्वक बताते हैं -

तीन बार वमन तथा विरेचन द्वारा दोषों की शुद्धि करे, वमन के बाद कुछ न खाए, विरेचन लेने के बाद जौं चबाए, तत्पश्चात् उसे सात दिन तक भूमि के ऊपर काष्ठ और उदुम्बर वृक्ष के फल, पत्ते डालकर जला दे, तत्पश्चात् पुनः उसे सात दिन तक भूमि पर डाले तथा उसके ऊपर गाय एवं बैल से जोता हुआ हल चलाए - इस प्रकार जलाकर तथा हल चलाकर उसको समाप्त करे। चौदह दिन तक मात्र मुष्टिप्रमाण जौ का आहार ले, सिर के बालों का मुण्डन कराए एवं दाढ़ी बनाए, फिर सात दिन तक पंचगव्य से स्नान करे तथा गाय के दूध से ही प्राण को धारण रखें और कुछ न करे, पाँच दिन तक तीन-तीन चुल्लू पंचगव्य से आचमन करे, मुण्डन करे तथा तीर्थोदक के एक सौ आठ घड़ों से स्नान करे, सुदेव एवं सुगुरु को नमस्कार करे, तत्पश्चात् निर्मलबुद्धि से सज्जनों का सत्कार करे एवं संघ की पूजा करे - यह विशोधनरूप प्रायश्चित्त बताया गया है।

चांडाल, म्लेच्छ, भील, नापित, भड़भूँजा, कौआ, मुर्गा, ऊँट, कुत्ता, बिल्ली, व्याघ्र, सिंह, लकड़बग्घा, सर्प, अन्य नीच जाति, कारु (शिल्पी), मांस, अस्थि, चर्म, रक्त, मेद, मज्जा, मल-मूत्र, शुक्र-दन्त, केश एवं अज्ञात व्यक्ति के देह, मृत पंचेन्द्रिय एवं उच्छिष्ट आहारभोजी (भिखारी) का स्पर्श होने पर उसकी शुद्धि स्नानमात्र से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही हो जाती है। मुनिजनों की शुद्धि तो मात्र जल के छिड़काव से होती है। इस प्रकार उक्त प्राणियों का स्पर्श होने पर उसकी शुद्धि स्नान से हो जाती है - स्नान के योग्य प्रायश्चित्त की यह विधि यहाँ सम्पूर्ण होती है।

विरूद्ध आचरण से उत्पन्न दोषों की शुद्धि करने योग्य प्रायश्चित्त से होती है। शूद्र का दान ग्रहण करे, तो ब्राह्मण को गौ प्रदान करने से उस दोष की शुद्धि होती है। शूद्र सेवी क्षत्रिय की शुद्धि भी उसी प्रकार होती है। ब्राह्मण शास्त्र के विरुद्ध व्यवहार करे तथा शास्त्र के विरुद्ध ज्योतिष का कथन करे, तो एक मास का मौन करने मात्र से उसकी शुद्धि हो जाती है। स्वाध्याय न करने वाले विप्र की शुद्धि एक पक्ष का मौन करने से होती है। विप्र, क्षत्रिय एवं वैश्य के कंठ का सूत्र टूट जाए या प्रमादवश कहीं गिर जाए, तो वह न तो बोले और न ही चले। अन्य सूत्र धारण करके ही पैरों से चले और मुहँ से बोले। उसकी शुद्धि के लिए तीन दिन तक जौ का सेवन करे तथा मंत्र का जाप करे। क्षत्रिय दीन-दुःखियों को दान न दे, स्वयं की प्रशंसा करे एवं दूसरों की निंदा करे, तो तीन दिन तक परमात्मा की पूजा एवं उपवास करे तथा सोने का दान देकर उस पाप की विशुद्धि करे। क्षत्रिय संग्राम, गौग्रह (अर्थात् गाय की रक्षा) तथा युद्धस्थान में युद्ध न करे, उससे निवृत्त या शान्त होकर बैठ जाए, तो उसकी शुद्धि दान देने से होती है। युद्ध में शत्रुसैन्य का नाश करने पर उस पाप की विशुद्धि स्नान करने से ही हो जाती है। - करणीय-प्रायश्चित्त की यह विधि यहाँ सम्पूर्ण होती है।

औषधि के निमित्त, गुरु आदि के आदेश से, दूसरो के बन्धन में होने पर, महत्तराअभियोग की दशा में तथा प्राण नाश की संभावना हो - ऐसी दशा में, जिस गोत्र का न तो आहार ही किया जाता है और न ही कभी पानी ही पीया जाता है, उस व्यक्ति के घर का आहार-पानी ग्रहण करने पर तीन उपवास का प्रायश्चित्त आता है। ब्राह्मण यदि किसी अन्य जाति के ब्राह्मण का आहार खाता है, तो उसे पूर्वार्द्ध (दो प्रहर के पश्चात् भोजन) का प्रायश्चित्त आता है। ब्राह्मण क्षत्रिय का आहार ग्रहण करता है, तो एक बार एकासन का प्रायश्चित्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आता है। ब्राह्मण वैश्य का आहार ग्रहण करता है, तो उसे उपवास का प्रायश्चित्त आता है तथा शूद्र का आहार ग्रहण करने पर पाँच उपवास का प्रायश्चित्त आता है। शिल्पी का आहार ग्रहण करने पर दस उपवास का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार क्षत्रिय यदि शूद्र का अन्न खाए, तो उसकी शुद्धि भी उसी प्रकार होती है। वैश्य यदि शूद्र एवं कारु (शिल्पी) का अन्न खाए, तो आयम्बिल करने से शुद्ध होता है। शूद्र यदि कारु का अन्न खाए, तो पूर्वार्द्ध करने से शुद्ध होता है। म्लेच्छ से संस्पर्शित भोजन का सेवन करे, तो उपवास करने से शुद्धि होती है। अन्य गोत्र के व्यक्ति के यहाँ सूतक का अन्न खाने पर भी उपवास करने से ही शुद्धि होती है। ब्राह्मण, स्त्री, भ्रूण, गाय एवं साधु का घात करने वाले के यहाँ का अन्न खाने पर विद्वानों ने उसकी शुद्धि के लिए दस उपवास का प्रायश्चित्त बताया है। आहार के मध्य में प्राणियों के शरीर के अंग (जीवांग) दिखाई देने पर भी वह आहार उसी प्रकार कर ले, तो दूसरे दिन एकासना करने से उस पाप की शुद्धि होती है। इसी प्रकार भोजन के समय कुत्ता, बिल्ली, रजस्वलास्त्री, चर्म, अस्थि एवं अन्य जाति के लोगों का स्पर्श होने पर भी उसकी शुद्धि जीवांग की शुद्धि के समान ही करे - तप के योग्य प्रायश्चित्त की यह विधि यहाँ समाप्त होती है।

यतियों के सत्कार्यों का विरोध करे, पापकार्यों में उनकी सहायता करे, उनसे यौन सम्बन्ध स्थापित करे, अर्थात् संभोग करे, प्रमादवश साधु की निंदा करे, शक्ति होने पर शरणागत जीवों की रक्षा न करे, निंदनीय कर्म का सेवन करे, गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करे तथा माता-पिता को संतापित करे, तीर्थयात्रा से बीच में ही लौट आए, मस्करी हेतु शुद्धधर्म का उपहास करे, दूसरों पर क्रोध करे - इत्यादि दोषों की शुद्धि शक्ति अनुसार दान देने से होती है। झूठी साक्षी दे, तो उस पाप की विशुद्धि के लिए विप्रों को दान दे एवं गुरुओं को आहारादि प्रदान करे। - दान के योग्य द्रव्य-प्रायश्चित्त की यह विधि यहाँ समाप्त होती है।

म्लेच्छदेश में उत्पन्न म्लेच्छस्त्री का परिग्रहण करे, म्लेच्छ बन्दीजनों के साथ निवास करे, प्रमाद के कारण अभक्ष वस्तुओं का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्षण करे, अपेयद्रव्य का पान करे, म्लेच्छ आदि के साथ भोजन करे, अन्य जाति में प्रवेश करे तथा अन्य जाति में विवाह करे, कुप्रतिग्राही (दुराचारी) के साथ महाहत्या का षडयंत्र रचे, महाहत्या करे, कुप्रतिग्राही (दुराचारी) का साथ करे - ऐसे कुप्रतिग्रह की शुद्धि पूर्व में बताई गई विशोधन-विधि से करे - विशोधन के योग्य द्रव्य-प्रायश्चित्त की विधि यहाँ सम्पूर्ण होती है। विद्वानों ने सर्व द्रव्य दोषों की विशुद्धि के लिए राजा के छत्र के नीचे स्नान करने एवं धर्मचर, अर्थात् धार्मिक व्यक्ति का स्पर्श करने की विधि बताई है। इन विधियों के अतिरिक्त शेष शुद्धि की विधियाँ पूर्व में कथित भाव-प्रायश्चित्त की विधियों से जानें। समस्त प्रायश्चित्त दो प्रकार के हैं - द्रव्य-प्रायश्चित्त और भाव-प्रायश्चित्त। जितनी बार दोषों का सेवन करे, उतनी ही बार विशोधन करे मुनिजनों ने बारह वर्ष की आयु वाले को बालक तथा ६० वर्ष की आयु वाले को वृद्ध कहा है, उन्हें उनकी आयु के अनुसार ही तप आदि के प्रायश्चित्त कम-अधिक मात्रा में दें। अन्य आचार्यों के मतानुसार द्रव्य-प्रायश्चित्त कर लेने पर पुनः भाव-प्रायश्चित्त दें। आलोचना कभी भी एक हजार उपवास से अधिक की नहीं होती है। एक सौ उपवास से कम उपवासों का पिण्डीकरण, अर्थात् अन्तर्भाव नहीं किया जाता है। गुरु को ज्ञानाचार आदि के क्रम से तथा व्रतादि के क्रम से उनसे सम्बन्धित दोषों के लिए साधु एवं श्रावकों से पूछना चाहिए। घातीकर्मसहित छद्मस्थ मूढ़ मन वाला यह जीव किंचित्मात्र स्मरण कर सकता है (सब नहीं), अतः जो मुझे स्मरण है उनकी तथा जो स्मरण नहीं हो रहें हैं, वे सब मेरे दुष्कृत (पाप) मिथ्या हों। उनके लिए मुझे बहुत पश्चाताप हो रहा है। मैंने मन से जो-जो अशुभ चिंतन किया हो, वचन से जो-जो अशुभ बोला हो तथा काया से जो-जो अशुभ किया हो, मेरा वह सब दुष्कृत मिथ्या हो। जो अहंकार के कारण समुदाय से बहिष्कृत हो गया है, वह दर्प का त्याग करके पुनः समुदाय में प्रवेश करे तथा कंदर्प का त्याग करके पुनः अप्रमत्तभाव से कल्प, अर्थात् आचार-नियमों का पालन करे। आचार्य यदि एकांकी बहिर्भूमि पर जाता है, तो शिष्यों को उपवास का प्रायश्चित्त आता है। गुरु यदि गोचरी के लिए जाए, तो भी शिष्यों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपवास का प्रायश्चित्त आता है। मुख्य साधु भिक्षाटन के लिए जाते हुए गुरु को न रोके, तो मुख्य साधु को उपवास का प्रायश्चित्त आता है। गीतार्थ यदि भिक्षाटन के लिए जाते हुए गुरु को न रोके, तो उन्हें पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। अगीतार्थ साधु यदि भिक्षाटन के लिए जाते हुए गुरु को न रोके, तो उनको भी पूर्वार्द्ध का प्रायश्चित्त आता है। गुरु यदि उनके रोकने से न रुके, तो गुरु को उपवास का प्रायश्चित्त आता है। यदि आचार्य त्रिकालगण की देखभाल न करे, तो उन्हें लघुमास (पूर्वार्द्ध) का प्रायश्चित्त आता है। मार्ग में ग्लान की सेवा करने के लिए, दुर्भिक्ष में बाल-वृद्ध आदि के कार्य के लिए दुर्लभ द्रव्य की प्राप्ति होने पर भी यदि ऐसा दुराग्रह रखे - "मैं आचार्य हूँ, मैं क्यों भिक्षाटन करुं ?", तो ऐसी स्थिति में उसे उपवास का प्रायश्चित्त आता है। कोई साधु गुरु से पृथक् वसति में रहे या उपाश्रय के बाहर रहे, तो लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। एक उपाश्रय में ही शिष्य सौ हाथ की दूरी पर निःकृष्ट वसति में रहे, तो भी लघुमास का प्रायश्चित्त आता है। आलोचना के समय गीतार्थ ज्ञानाचार सम्बन्धी गाथा के बोलने के बाद आलोचनाग्राही ने यदि पुस्तक आदि की आशातना की हो, तो उस सम्बन्ध में पूछे। दर्शनाचार सम्बन्धी गाथा के अनन्तर शंका, कांक्षा आदि मिथ्यात्व का सेवन किया हो, तो उसके सम्बन्ध में पूछे। चारित्राचार सम्बन्धी गाथा के अनन्तर पंचमहाव्रत, द्वादशव्रत आदि का भंग हुआ हो, तो उसके सम्बन्ध में पूछे। तपाचार सम्बन्धी गाथा के अनन्तर द्वादश विधि तप का भंग किया हो, तो उसके सम्बन्ध में पूछे। वीर्याचार सम्बन्धी गाथा के अनन्तर शक्ति होने पर भी तप न किया हो एवं आचार का पालन न किया हो, तो उसके सम्बन्ध में पूछे। तत्पश्चात् क्रोध आदि कषाय एवं अठारह पापस्थानकों का सेवन किया हो, तो उसके सम्बन्ध में पूछे। आलोचना में प्राचीनशास्त्रों में तप की जो संज्ञाएँ, अर्थात् नाम बताए गए हैं, उनका तात्पर्य इस प्रकार है - लघुमास, मासलघु या भिन्नमास शब्द से पूर्वार्द्ध, मासगुरु, गुरुमास शब्द से एकासन, पणग शब्द से निर्विकृति तप, चउलघु शब्द से आयम्बिल-तप, चउगुरुमास शब्द से उपवास तप का ग्रहण करे - ऐसा शास्त्रज्ञों ने कहा है। एगकल्लाण का अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छट्ठ (निरंतर दो उपवास) तप एवं षट्मासगुरु का अर्थ तेला (निरंतर तीन उपवास) तप एवं पंचकल्याण का अर्थ दस उपवास बताया है।

आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के उभयधर्म-स्तम्भ में प्रायश्चित्त-कीर्तन नामक यह सैंतीसवाँ उदय समाप्त होता है।

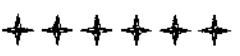

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अड़तीसवाँ उदय
आवश्यक-विधि

अब आवश्यक विधि बताते हैं -

आचारों के आख्यापन के लिए साधु एवं श्रावकवर्ग के हित की इच्छा से मनोहर आवश्यक-विधि को संक्षेप में कहूँगा। आवश्यक छः होते हैं - १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वंदन ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान।

इन सब की व्याख्या आदि इसी क्रम से करेंगें। सर्वप्रथम सामायिक-आवश्यक की व्याख्या करते हैं। जिसके माध्यम से मणि एवं तृण में, सोने और लोहे में, कुरूपता और सुरूपता में समत्व की प्राप्ति होती हो, अर्थात् समभाव की प्राप्ति हो, उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक के दो प्रकार हैं - १. सर्वविरति और २. देशविरति।

सर्वविरतिरूप सामायिक में पंचमहाव्रतों एवं छठवें रात्रिभोजनत्यागव्रत का ग्रहण किया जाता है। पंच भावनाओं तथा पंचसमिति एवं त्रिगुप्तिरूप अष्टप्रवचन माता से युक्त सर्वसावद्ययोग के त्यागपूर्वक पंचमहाव्रत का धर्मवीरों द्वारा आमरणकाल तक ग्रहण कर उनका निरतिचारपूर्वक पालन करना सर्वविरति-सामायिक है। सर्वविरति-सामायिक-व्रत उच्चारने का दण्डक, अर्थात् सामायिक ग्रहण करने का पाठ निम्नांकित है -

"करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करन्तंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

हे भगवन् ! मैं सामायिक-व्रत ग्रहण करता हूँ। अतः सावद्य प्रवृत्तियों का, अर्थात् पापकर्म वाले व्यापारों का त्याग करता हूँ। जीवनपर्यन्त मन, वचन और कायारूप - इन तीनों योगों से पापकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न मैं स्वयं करूंगा, न करवाऊंगा और न करने वालों का अनुमोदन करूंगा।

हे भगवन् ! पूर्वकृत पापों से निवृत्त होता हूँ। आपकी साक्षी से उनकी गर्हा-निन्दा करता हूँ और पूर्वकृत पापों के प्रति जो ममत्ववृत्ति है, उसका भी पूर्ण रूप से परित्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

भदंत - भदंत शब्द गुरु के प्रति पूज्यताभाव का वाचक है।

देशविरतिरूप सामायिक को श्रावक बारह व्रतों के मध्यगत शिक्षाव्रत के रूप में मुहूर्तमात्र के लिए हृदय में धारण करते हैं। देशविरति-सामायिक उच्चारने का दण्डक निम्न हैं -

"करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावनियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

देशविरति-दण्डक की व्याख्या - 'करोमि भदंत सामायिकं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि' - गृहस्थधर्म की अपेक्षा से गृहस्थ हिंसक प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण रूप से त्याग नहीं करता, अर्थात् जीवनपर्यन्त उसके परिपालन का नियम नहीं लेता, अपितु देशविरति ग्रहण करने के कारण एक निश्चित काल तक ही उन सावद्ययोगों का त्याग करता हैं, जबकि साधु तो जीवनपर्यन्त सामायिक में रहकर सर्वविरतिव्रत का ग्रहण करते हैं। गृहस्थ तो हमेशा सावद्यकारी प्रवृत्तियों में निरत रहता है। नियम ग्रहण करने से वह आंशिक समय के लिए ही पापकारी प्रवृत्तियों से रहित होता है। "द्विविधं-त्रिविधेन" का तात्पर्य मन-वचन एवं काया से न करूंगा न करवाऊंगा। अनुज्ञा से पूर्ण निवृत्ति गृहस्थों के लिए पूर्णतः सम्भव नहीं होती है। शेष दण्डक की व्याख्या पूर्वानुसार ही है। सामायिकव्रत में साधु जीवनपर्यन्त आरंभ (हिंसा) के त्यागी तथा संयम का पालन करने वाले होते हैं। श्रावक सामायिककाल में प्रतिक्रमण, स्वाध्याय एवं परमेष्ठी मंत्र का जप करते हैं, जिन्हें प्रतिक्रमण-विधि के अन्तर्गत कहा जाएगा।

सामायिक का फल - सामायिक का फल तो सर्व पापों को हरने वाला है, अतः वह महाफलदायक है। जैसा कि आगम में कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है -"कोई करोड़ सोने की मुद्राएँ प्रतिदिन दान में दे, अथवा उत्तुंग शिखरयुक्त जिनमंदिर बनवाए, तो भी उसे उतना पुण्य नहीं मिलता, जितना पुण्य सामायिक करने से मिलता है।"

करोड़ों वर्षों तक तपश्चरण की निरन्तर साधना करने वाला जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर पाता, उन कर्मों को समभावी साधक कुछ ही क्षणों में नष्ट कर लेता है। कर्म से लिप्त जीव भी इस सामायिक व्रत की साधना के माध्यम से निश्चित रूप से आत्मा को जान लेता है। विभिन्न साधु-जनों एवं शलाका पुरुषों द्वारा इस सामायिक-व्रत का आचरण किया गया है। सामायिक का आचरण करने से, सामायिक की साधना से रागादि परिणाम ध्वस्त हो जाते हैं तथा योगीजन आत्मा के परमात्मस्वरूप का दर्शन करते हैं, अर्थात् स्वस्वरूप का दर्शन करते हैं। स्वस्वरूप में स्थित समभाव के साधक साधुओं के प्रभाव से हमेशा एक-दूसरे से वैर रखने वाले जन्तु भी परस्पर स्नेही बन जाते हैं।

स्वाध्याय चार प्रकार का होता है - १. वाचना २. पृच्छना ३. आम्नाय एवं ४. आगम। सप्ततत्त्वों एवं जिनाज्ञारूप जिन-आगम की परिपाटियों के प्रकथन को वाचना कहते हैं। बहुश्रुत गुरु द्वारा आगम का अर्थ जानने एवं उससे सम्बन्धित प्रश्न पूछने को पृच्छना कहते हैं। गुरु परम्परा से सूत्र के अर्थ का अभ्यास करने को आम्नाय कहते हैं। सर्वरहस्यों से गर्भित सूत्रपाठों को आगम कहते हैं। इस प्रकार सामायिक का काल चतुर्विध स्वाध्याय द्वारा परिपूर्ण करते हैं। परमेष्ठीमंत्र का जाप तो सर्वदोषों का, अर्थात् पापों का नाश करने वाला है। वह इस प्रकार है -

"नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं, एसो पंचनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।"

भावार्थ -

अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सभी साधुओं को नमस्कार - इन पाँच (परमेष्ठियों) को किया गया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमस्कार सब पापों का पूर्ण रूप से नाश करने वाला है और सब मंगलों में प्रथम मंगल है।

विशिष्टार्थ -

अरिहंत - जो समस्त सुर एवं असुरेन्द्रों द्वारा पूजनीय हैं, उन्हें अरिहंत कहते हैं। जैसा कि आगम में कहा गया है -"जो वंदन, नमस्कार एवं सिद्धिगमन के योग्य होते हैं, उन्हें अरिहंत कहते हैं। अरिहंत चौबीस अतिशय तथा वाणी के पैंतीस गुणों से युक्त एवं अठारह दोषों से रहित होते हैं।"

सिद्ध - जो मुक्ति को प्राप्त करते हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं, अथवा जिन्होंने दीर्घकाल के बद्ध कर्मों को जलाकर भस्मीभूत कर दिया है, उन्हें सिद्ध कहते हैं। जैसा कहा गया है -"जो दीर्घकाल से संचित कर्मों को ध्वस्त करके सिद्धों के सिद्धि स्थान को प्राप्त करते हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं।"

आचार्य - जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वीर्यरूप पंचाचारों का स्वंय पालन करने वाले हैं, दूसरों के समक्ष उसका प्ररूपण करने वाले हैं, तथा शैक्ष्य आदि मुनियों को भी पंचाचार बताने वाले है, उन्हें आचार्य कहते हैं। जैसा कि आगम में कहा गया है -"जो पंचविध आचार का पालन करते हुए दूसरों को भी आचार-मार्ग बताते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय - जिनके समीप द्वादशांगी का अध्ययन या पठन किया जाता है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं। जैसा कि आगम में कहा गया है -"बारह अंग आगमों, जिन्हें अर्थ से जिनेश्वर परमात्मा ने प्ररूपित किया है और जिन्हें गणधरों ने सूत्ररूप से ग्रंथित किया हैं, का शिष्यों को अध्ययन कराने के कारण, उन्हें उपाध्याय कहा जाता है।

सर्वसाधु - जो मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, उन्हें साधु कहते हैं। जैसा कि कहा गया है - साधुजन "निर्वाण में साधक यौगिक क्रियाओं की साधना करते है और सर्वजीवों पर समवृत्ति धारण करते हैं, इसी कारण से उन्हें साधु कहा जाता हैं। आचार्य, उपाध्याय एवं साधु लोक में ही होते हैं, इसलिए यहाँ लोक शब्द का ग्रहण किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। अरिहंत भी लोक में एवं सिद्ध लोकान्त में स्थित हैं, इसलिए भी यहाँ लोक शब्द का ग्रहण किया गया है। सर्व शब्द का ग्रहण केवली एवं छद्मस्थ मुनियों का समावेश करने के लिए किया गया है।

ऐसे नाम, स्थापना, द्रव्य, भावरूप पंचपरमेष्ठियों को मन-वचन-काया से नमस्कार हो।

"इन पाँचों को किया गया नमस्कार सर्वपापों का नाश करने वाला है तथा सभी मंगलों में प्रथम मंगल है"- यहाँ इस पद का ग्रहण पूर्वोक्त पद के महत्त्व को विवेचित करने के लिए किया गया है। इन पंचपरमेष्ठियों को किया गया नमस्कार सर्वपापों का नाश करने वाला है तथा इसके स्मरणमात्र से ही पाप दूर हो जाते हैं। जैसा कि कहा गया है - "नमस्कारमंत्र का एक अक्षर सात सागरोपम के पाप का नाश करता है, नमस्कारमंत्र का एक पद पचास सागरोपम के पाप का नाश करता है तथा सम्पूर्ण नमस्कारमंत्र पाँच सौ सागरोपम के पाप का नाश करता है।" इन पाँच परमेष्ठियों को किया गया नमस्कार सर्वपापों का नाश करने वाला है। इस महामंत्र का आराधन करने से दुःखदायक पापों का नाश होता है, संपदा की प्राप्ति होती है तथा जीव अपने स्वस्वभाव की प्राप्ति कर लेता है। हजारों पाप करने वाले तथा सैंकड़ों जंतुओं का नाश करने वाले तिर्यंच भी इस नमस्कारमंत्र का विधिपूर्वक आराधन करके मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं और यह मंत्र सभी मंगलों में प्रथम मंगल है। जैसा कि आगम में कहा गया है -

"मनुष्य, असुर (व्यंतर आदि), सुर (देवता), खेचर आदि संसार के सभी प्राणियों के मंगल का हेतु होने से इसे सर्वमंगलों में प्रथम महामंगल कहा गया है।" इस मंत्रराज के प्रभाव को कहने में कौन सक्षम है ? अर्थात् कोई समर्थ नहीं है। पाँच हेतुओं से युक्त होने के लिए अर्हत् आदि पाँच सर्वश्रेष्ठ पदों का स्मरण किया जाता है। वे पाँच हेतु निम्न हैं - १. मार्ग को जानने के लिए अरिहंतों का २. सर्वकर्मों का क्षय करने के लिए सिद्धों का ३. आचारमार्ग में प्रवृत्ति करने के लिए आचार्यों का ४. विनय, अर्थात् आचारमार्ग को जानने के लिए उपाध्यायों का एवं ५. स्वभाव में रमण करने हेतु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुओं का स्मरण करते हैं - इन पाँच हेतुओं से ही पंचविध परमेष्ठीमंत्र का स्मरण किया जाता है।

महामंत्र के प्रभाव को बताने के लिए निम्न पाँच दृष्टान्त बताए गए हैं -

इहलोक सम्बन्धी - १. त्रिदंडी २. सादित्य एवं ३. मातुलिंग का

परलोक सम्बन्धी - १. चंडपिंगल एवं २. हुंडिययक्ष का

आचारशास्त्र में इसे इसी विधि या क्रम से कहा गया है - इनके पूर्ण कथानक महागम, अर्थात् भगवतीसूत्र की टीका से जानें। यहाँ इसके विधिक्रम को ही बताया गया है। पूर्व में सामायिक-दण्डक में कहा गया है, कि सामायिक से सावद्य-प्रवृत्तियों से विरति होती है और इसी प्रकार परमेष्ठीमंत्र के नवपदों से पग-पग पर संपदा की प्राप्ति होती है।

अब चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरे आवश्यक का स्वरूप बताते हैं -

चतुर्विंशतिस्तव में क्रमशः शक्रस्तव एवं भगवत्-प्रार्थना का कथन किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम शक्रस्तव की व्याख्या करते हैं -

"नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं।।१।। आइगराणं तित्थयराणं सयं-संबुद्धाणं।।२।। पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं।।३।। लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहिआणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं।।४।। अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं।।५।। धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंत चक्कवट्टीणं।।६।। अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टछउमाणं।।७।। जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं।।८।। सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिव मयल मरूअ मणंत मक्खय मव्वावाह मपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जिअभयाणं।।९।। जे अ अईआ सिद्धा, जे अ भविस्संतिऽणागए काले संपइ, अ वट्टमाणा सव्वे तिविहेण वंदामि।।१०।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

अरिहंत भगवान् को नमस्कार हो। (अरिहंत भगवान् कैसे हैं? तो कहते है कि) धर्म की आदि करने वाले हैं, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, स्वयं ही सम्यग्बोध को पाने वाले हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, बल की अपेक्षा से पुरुषों में सिंह के समान हैं, पुरुषों में पुण्डरीक (कमल) के समान निर्लेप हैं, पुरुषों में प्रधान गंधहस्ती के समान हैं। लोक में उत्तम हैं, लोक के नाथ हैं, लोक के हितैषी हैं, लोक में प्रदीप के समान हैं, लोक में प्रद्योत (परमप्रकाश) करने वाले हैं। अभयदान देने वाले हैं, ज्ञानरूपी नेत्रों के देने वाले हैं, मोक्षमार्ग को बताने वाले हैं, सर्वजीवों को शरण देने वाले हैं, जीवन प्रदाता है अर्थात् अभय देने वाले हैं, बोध-बीज को देने वाले हैं। धर्म को देने वाले हैं, धर्म का उपदेश देने वाले हैं, धर्म के नायक, अर्थात् धर्म के नेता हैं, धर्मरूप रथ के सारथी हैं, धर्म में प्रधान चार गति का अंतर करने वाले हैं, चक्रवर्ती के समान हैं। अप्रतिहत ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले हैं। छद्मस्थ अवस्था से रहित हैं। स्वयं राग-द्वेष को जीतने वाले हैं, दूसरों को जिताने वाले हैं, स्वयं संसार सागर से तर गए हैं, दूसरों को तारने वाले हैं, स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध कराने वाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को कर्म से मुक्त कराने वाले हैं। सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं तथा कल्याणरूप, अचल, भवरोग से रहित, अनंतज्ञानादियुक्त, अक्षय, बाधा-पीड़ादि से रहित, पुनरागमन से रहित, अर्थात् जन्म-मरण से रहित सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, भय को जीतने वाले हैं, सिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं, जो भविष्य में होने वाले हैं और वर्तमान में है - उन अरिहंतो को मेरा नमस्कार हो।

विशिष्टार्थ -

नमोत्थुणं में णं वाक्यालंकार है। नमोस्तु "नमस्कार करता हूँ" का सूचक है। कितने ही लोग इसका अर्थ पंचांग प्रणाम, अष्टांग प्रणाम एवं दण्डवत् प्रणाम ऐसा करते हैं।

अर्हताणं - जो चौसठ इन्द्रों द्वारा पूजने के योग्य हैं, उन्हें अरिहंत कहते हैं। कितने ही लोग अरूहंत या अरहंत पाठ भी बोलते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। जो वापस (पुनः) संसाररूपी कीचड़ में उत्पन्न नहीं होते हैं, वे अरूहंत कहलाते हैं, अथवा जिनके लिए जगत् में जानने जैसा कुछ भी रह नहीं गया हैं, जिनके केवल ज्ञान, दर्शन से कुछ भी छिपा नहीं है, वे अरहन्त कहलाते हैं।

भगवंताणं - भगवंत शब्द का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है, जो ज्ञान, माहात्म्य, यश, वैराग्य, मुक्ति, वीर्य, श्री, धर्म एवं ऐश्वर्य से युक्त हो।

आइगराणं - अपने-अपने तीर्थों (समय में) में सर्वप्रथम धर्म, आगम, गणधर एवं संघ की स्थापना करने के कारण परमात्मा को आदि करने वाले कहा है।

तित्थयराणं - तीर्थरूप चतुर्विध श्रमणसंघ या प्रथम गणधर की स्थापना करने के कारण तीर्थंकर कहा गया है।

सयंसंबुद्धाणं - अन्य किसी गुरु के उपदेश के बिना स्वयं ही आत्म-अवबोध को प्राप्त करने के कारण उन्हें स्वयंसंबुद्ध कहा है।

पुरिसुत्तमाणं - पुरुषों में बल, कांति, श्रुत एवं ज्ञान - इन सब के प्रभावों एवं अतिशयों से सर्वोत्तम होने के कारण उन्हें पुरुषोत्तम कहा गया है।

पुरिससीहाणं - जिस प्रकार सिंह तिर्यंच पशुओं में अत्यन्त बलशाली होता है, उसी प्रकार पुरुषों में अतिशय बल को धारण करने के कारण उन्हें पुरुष सिंह कहा गया है।

पुरिसवर पुण्डरीयाणं - श्वेत कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, जल से वृद्धि को प्राप्त करता है, फिर भी उन दोनों को छोड़कर उनसे ऊपर रहता है। उसी प्रकार भगवान् भी संसाररूपी कीचड़ में उत्पन्न होते हैं और भोगरूपी जल से वृद्धि को प्राप्त करते हैं, किन्तु फिर भी उन दोनों से अलिप्त रहते हैं, इसलिए उन्हें पुरुषवर पुण्डरीक कहा गया है।

पुरिसवर गन्धहत्थीणं - पुरुषों में श्रेष्ठ, प्रधान, बलवान्, सर्वऋद्धिशाली, सर्वोत्कृष्ट एवं स्वभाव में रमण करने के कारण तथा गन्धहस्ती के समान ही दूसरों के बल का पराभव करने के कारण उन्हें पुरुषवरगन्धहस्ती कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगुत्तमाणं - चौदह राजलोक के सुर, नर, तिर्यंच एवं दैत्य-सभी में पूजनीय होने के कारण तथा अतिशय प्रभाव होने के कारण, उत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट हैं, इसलिए उन्हें लोकोत्तम कहा गया है।

लोगनाहाणं - चौदह राजलोक के शासक, रक्षक, आश्रयदाता एवं (मोक्ष) मार्ग के निवेशक होने के कारण वे नाथ हैं, स्वामी हैं, इसलिए उन्हें लोकनाथ कहा गया है।

लोगहियाणं - लोक की रक्षा करने एवं उन्हें सन्मार्ग में स्थित करने के कारण कल्याणकारी तथा विश्वसनीय हैं, इसलिए उन्हें लोक का हित करने वाला कहा गया है।

लोगपइवाणं - दीपक के समान लोक की सद्-असद् वस्तु एवं तत्त्व का बोध कराने के कारण उन्हें लोक प्रदीप कहा गया है।

लोगपज्जोयगराणं - मोहान्धकार में निमग्न लोक के भावों को केवलज्ञानरूपी प्रकाश के माध्यम से प्रकाशित करने के कारण उन्हें लोक-प्रद्योतकर कहा गया है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि प्रदीप एवं प्रद्योत में क्या अन्तर है ? तो कहते हैं कि दीपक उसके समक्ष रही हुई वस्तु को ही प्रकाशित करता है, किन्तु प्रद्योत तो सूर्योदय के समान भव्य एवं अभव्य-सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है। (इसीलिए यहाँ ये दोनों शब्द अलग-अलग भावों की पुष्टि करने के लिए दिए गए है।)

अभयदयाणं - दयाधर्म का उपदेश एवं दयाधर्म के आचरण से सभी जीवों को अभयदान देने के कारण उन्हें अभयदाता कहा गया है।

चक्खुदयाणं - मोहान्ध से ग्रसित जीवों को ज्ञानरूपी चक्षु, श्रद्धारूपी चक्षु देने के कारण उन्हें चक्षु देने वाला कहा गया है।

मग्गदयाणं - स्वर्ग तथा सर्वइच्छित की पूर्ति करने-वाले ऐसे मोक्षमार्ग को दिखाने के कारण उन्हें मार्गदाता कहा गया है।

शरणदयाणं - भव-भय से पीड़ित तथा राग-द्वेष आदि शत्रुओं से पराभूत प्राणियों को शरण देने के कारण, उन्हें शरणदाता कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोहिदयाणं - भव्य जीवों को बोधज्ञान या सम्यक्त्व की प्राप्ति कराने के कारण उन्हें बोधिदाता कहा गया है।

धम्मदयाणं - प्रभावशाली दृष्टान्तों के माध्यम से प्राणियों को निर्मल बुद्धि प्रदान करने के कारण उन्हें धर्म का दाता कहा गया है।

धम्मदेसयाणं - दसविध (यतिधर्म) का उपदेश देने के कारण उन्हें धर्मोपदेशक कहा गया है।

धम्मनायगाणं - धर्म का प्रसार एवं रक्षण करने के कारण उन्हें धर्म का नायक कहा गया है।

धम्मसारहीणं - मोक्ष-गमन में (साधनभूत) धर्मरूपी रथ के सुख-संचरण में (निर्विघ्न संचरण में) सारथी के समान सहायक होने के कारण उन्हें धर्म का सारथी कहा गया है।

धम्मवरचाउरंत चक्कवट्टीणं - ऐसा धर्म जो श्रेष्ठ है, प्रधान है तथा चार गतियों को अन्त करने वाला है, उस धर्म के चक्रवर्ती एवं विश्वाधीश होने के कारण उन्हें श्रेष्ठ धर्म के चतुरंत चक्रवर्ती कहा गया है।

अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं - ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण से अनावृत्त श्रेष्ठज्ञान एवं दर्शन को अस्खलित रूप से धारण करने के कारण, उन्हें अप्रतिहत केवलज्ञान-दर्शन का धारक कहा गया है।

यहाँ श्रेष्ठज्ञान केवलज्ञान का तथा श्रेष्ठदर्शन केवलदर्शन, अर्थात् जगत् के दर्शन का सूचक है।

वियट्टछउमाणं - छद्मस्थ अवस्थारूप ज्ञानावरण आदि आवृत्तों से रहित होने के कारण उन्हें छद्मस्थ अवस्था से रहित कहा गया है।

जिणाणं - रागादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण उन्हें जिन कहा गया है।

जायवाणं - भक्तों को राग आदि शत्रुओं पर विजय दिलवाने के कारण उन्हें जीतने वाले कहा गया है।

तिण्णाणं - स्वयं संसार-सागर से पार हो चुके हैं, इसलिए उन्हें तीर्ण कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तारयाणं - भक्तों को संसार-सागर से मुक्ति दिलाने के कारण उन्हें तारक कहा गया है।

बुद्धाणं - बिना किसी के उपदेश के स्वयंबोधित होने के कारण उन्हें बुद्ध कहा गया है।

बोहयाणं - शुद्ध उपदेश द्वारा विश्व को बोध कराने के कारण उन्हें बोध कराने वाले कहा गया है।

मुत्ताणं - कर्मबन्धनरूप चारगति के चक्र का नाश करने के कारण उन्हें मुक्त कहा गया है।

मोयगाणं - भक्तों को कर्मबन्धन से मुक्त कराने के कारण उन्हें मोचक कहा गया है।

सव्वन्नूणं - केवलज्ञान के माध्यम से जीव-अजीवरूप सातों तत्त्वों को पूर्ण रूप से जानने के कारण उन्हें सर्वज्ञ कहा गया है।

सव्वदरसीणं - दर्शनकाल के अभाव से सम्पूर्ण लोकाकाश के दृष्टा होने के कारण, अर्थात् सर्वदृष्टापणे का स्वभाव होने के कारण उन्हें सर्वदर्शी कहा गया है।

शिव - उपद्रव से रहित होने के कारण जो शिव है।

मयल - चलित (अस्थिरता) के गुणों से रहित जो स्थिर है।

मरूय - व्याधि और वेदनारूप शरीर और मन से रहित जो अरूज है।

मणंत - काल की अपेक्षा से जो अंतरहित है।

मक्खय - प्रलय होने पर भी जिसका कभी क्षय नहीं होगा।

मव्वाबाह - सर्व संकटों से जो रहित है।

मपुणरावित्ति - पुनरागमन से जो रहित है।

सिद्धिगई नामधेयं ठाणं संपत्ताणं - सर्वकर्मों का क्षय होने पर जो प्राप्तव्य है, अर्थात् लोक के अन्त में स्थित सिद्धिगति नामक जो स्थान है।

नमो जिणाणं - जिनेश्वरों को नमस्कार हो।

पूर्व में 'अर्हत्' शब्द का तथा अन्त में 'जिन' शब्द का ग्रहण विशिष्ट अर्थ में किया गया है। यहां पुनरूक्त दोष नहीं लगता है। जैसा कि आगम में कहा गया है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"स्वाध्याय, ध्यान, तप, औषधि, उपदेश, स्तुति, दान देने एवं संतजनों के गुणकीर्तन पुन-पुनः करने में पुनरूक्त दोष नहीं लगता है।"

जियभयाणं - सात भयों से विजीत होने के कारण उन्हें जिअभयाणं कहा गया है।

यह शक्रस्तव शक्र द्वारा बनाया गया है तथा अग्रलिखित गाथा गीतार्थ मुनिजनों द्वारा बनाई गई है।

जे अ अईया सिद्धा - भूतकाल के अनेक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल में जो तीर्थ का प्रवर्तन कर सिद्ध एवं मुक्त हुए हैं।

जे अ भविस्संतिणागएकाले - अनागतकाल की उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी में सिद्ध एवं मुक्त होंगे।

संपइअवट्टमाणा - वर्तमानकाल में लोगों द्वारा आराधित होते हुए तीर्थ का प्रवर्तन कर रहे हैं, या विचरण कर रहे हैं, या शाश्वत जिनप्रतिमा के रूप में विराजमान हैं, उन सबको मैं मन, वचन एवं कायारूप त्रिविध योग से वंदन करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

शक्रस्तव में दस विश्राम (स्थल), अर्थात् संपदा कही गई है, वह इस प्रकार है -

१. अरिंह २. आइग ३. पुरिसे ४. लोगो ५. भय ६. धम्म ७. अप्प ८. जिण ९. सव्वा।

शक्रस्तव की जो संपदाएँ पूर्व में बताई गई हैं, वे उन पदों की उपदर्शक हैं। यह शक्रस्तव की संस्कृत टीका का भावार्थ है।

अब चतुर्विंशतिस्तव बताते हैं, वह इस प्रकार है -

"लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे। अरिहंते कित्तइस्सं चउवीसं पि केवली।।१।। उसभमजिअं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च। पउमप्पहं सुपासं जिण च चंदप्पहं वंदे।।२।। सुविहिं च पुप्फदंतं सीअल सिज्जंस वासुपूज्जं च। विमल मणंतं च जिणं धम्म संति च वंदामि।।३।। कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च। वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च।।४।। एवं मए अभिथुआ विहुयरयमलापहीणजरमरणा। चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।।५।। कित्तिय वंदिय महिया जे अ लोगस्स उत्तमा सिद्धा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरुग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तम दिंतु।।६।। चंदेसुनिम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा। सागरवरगंभीरा सिद्धा-सिद्धिं मम दिसंतु।।७।।"

भावार्थ -

चौदह राजलोकों में स्थित सम्पूर्ण वस्तुओं के स्वरूप को यथार्थरूप में प्रकाशित करने वाले, धर्मरूप तीर्थ को स्थापन करने वाले, राग-द्वेष के विजेता तथा त्रिलोक पूज्यों - ऐसे चौबीस केवलज्ञानियों की मैं स्तुति करूंगा। ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनंदन स्वामी, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ तथा चन्द्रप्रभ जिनेश्वरों को मैं वन्दन करता हूँ। सुविधिनाथ, जिनका दूसरा नाम (पुष्पदन्त), शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ तथा शान्तिनाथ जिनेश्वरों को मैं वन्दन करता हूँ। कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतस्वामी, नमिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान (श्री महावीरस्वामी) जिनेश्वरों को मैं वन्दन करता हूँ। इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किए गए, कर्मरूपी मल से रहित और जन्म (जरा) एवं मरण से मुक्त चौबीस जिनेश्वर देव तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों। जो समस्त लोक में उत्तम हैं और मन, वचन, काया से स्तुति किए हुए हैं, वे मेरे कर्मों का क्षय करें, मुझे जिनधर्म की प्राप्ति कराएं तथा उत्तम भाव-समाधि प्रदान करें। चन्द्रों से अधिक निर्मल, सूर्यों से अधिक प्रकाश करने वाले, स्वयंभूरमण समुद्र से अधिक गम्भीर - ऐसे सिद्ध भगवन्त मुझे सिद्धि (सिद्धपद) प्रदान करें।

विशिष्टार्थ -

लोगस्स उज्जोअगरे - परमज्ञान का उपदेश देने के कारण, संशयों का छेदन करने के कारण तथा चौदह राजलोक के सर्वपदार्थों को प्रकाशित करने से, अर्थात् उनके स्वरूप का प्रकटन करने से उन्हें लोक-उद्योतकर कहा गया है।

धर्मतित्थयरे - संसार-सागर से पार करने वाले धर्मरूपी तीर्थ की स्थापना करने के कारण उन्हें धर्म-तीर्थंकर कहा गया है।

जिणे - राग-द्वेष आदि शत्रुओं से विजित होने के कारण उन्हें जिन कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवली - केवलज्ञान प्रकटरूप से रहा हुआ होने के कारण उन्हें केवली कहा गया है।

उसभ - जो मोक्ष में जाता है, वह ऋषभ। सभी केवली मोक्ष में जाते हैं, किन्तु इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम ऋषभदेव मोक्ष में गए हैं, ऐसे ऋषभदेव को।

मजिअं - जो राग-द्वेष आदि दोषों से नहीं जीते गए हैं, ऐसे अजितनाथ को।

संभव - जिनके द्वारा मोक्षरूपी सर्व श्रेष्ठदान संभव होता है, ऐसे संभवनाथ को।

अभिनंदन - जो विश्व के जीवों को अभिनंदित (हर्षित) करने वाले हैं, ऐसे अभिनंदन स्वामी को।

सुमइ - जिनकी शुभमति है तथा सर्वजीवों को अभय प्रदान करने की जिनकी सुमति है, ऐसे सुमतिनाथ को।

पउमपप्पहं - लाल रंग, सुगन्ध एवं कीचड़ का त्याग करने से जिनमें पद्म के समान ही कान्ति रही हुई है, ऐसे पद्मप्रभस्वामी को।

सुपासं - गणधर एवं संघ से जिनके दोनों पार्श्व सुशोभित हैं, ऐसे सुपार्श्वनाथ भगवान् को।

जिणं - जिन्होंने राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को जीता है, ऐसे जिन को।

चंदप्पहं - चन्द्र के समान जिनकी प्रभा है, ऐसे चन्द्रप्रभस्वामी को ।

वंदे - वन्दन करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

सुविहिं - जिनकी विधि सुन्दर है, ऐसे सुविधिनाथ को।

पुप्फदंत - पुष्प के समान जिनके दाँत हैं, ऐसे पुष्पदंत को।

सीअल - संसार के ताप से संतप्त जीवों को शीतलता देने वाले हैं, ऐसे शीतलनाथ को।

सिज्जं स - प्रकृष्टरूप से जो कल्याणकारी हैं, ऐसे श्रेयांसनाथ को।

वासुपूज्जं - वसुपूज्य की जो संतान हैं, ऐसे वासुपूज्यस्वामी को।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ तीनों पदों में "आर्ष" सूत्र से बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग किया गया है।

विमल - जिनके कर्म चले गए हैं, अर्थात् नष्ट हो चुके हैं तथा जिनके चित्त का मल जा चुका है, ऐसे विमलनाथ भगवान् को।

मणंतं - जिनमें सम्पूर्ण गुण अनंतरूप में रहे हुए हैं, ऐसे अनंतनाथ भगवान् को।

धम्मं - दुर्गति में पड़ते हुए जीवों की जो रक्षा करते हैं, ऐसे धर्मनाथ भगवान् को।

संतिं - तीनों लोकों में जो शान्ति करने वाले हैं, ऐसे शान्तिनाथ को।

कुंथुं - जिसने स्त्रीरूप पृथ्वी को ढका है, अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया है तथा अभयदान द्वारा जीवों की रक्षा की है, ऐसे कुंथुनाथ भगवान् को।

अरं - जो मोक्ष में जाने वाले हैं, ऐसे अरनाथ भगवान् को।

मल्लिं - जिसने मोह के साथ मल्लयुद्ध किया है, ऐसे मल्लिनाथ भगवान् को।

मुनिसुव्वयं - जो मुनि के व्रतों से सुशोभित हैं, ऐसे मुनिसुव्रत को।

नमि - जिसने अपने दुष्ट अन्तर शत्रुओं को नमा दिया है तथा जो सदा विनम्र है, अर्थात् जिन्होंने अपने अंतरंग शत्रुओं को जीत लिया है, ऐसे नमिनाथ भगवान् को मैं वन्दन करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

रिट्ठनेमिं - उपद्रवों का छेदन करने वाले, जो चक्र की धुरी के समान हैं, ऐसे अरिष्टनेमि को।

पासं - जिन्होंने समीप में रही हुई वस्तु को देखा है, ऐसे पार्श्वनाथ को।

वद्धमाणं - जिनके सभी गुणों का वर्द्धन हुआ है, ऐसे वर्द्धमान को मैं वन्दन करता हूँ।

वन्दे शब्द को सर्वत्र ग्रहण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विविध प्रकार की व्युत्पत्तियों एवं विविध प्रकार की कथा-संप्रदायों के आधार पर इन नामों की व्याख्या की गई है। विस्तृत रूप से इनके सम्बन्ध में जानते हुए भी ग्रन्थ- विस्तार के भय से उन्हें यहाँ प्रकाशित नहीं किया गया है, क्योंकि यह आचारग्रन्थ है, व्याख्याग्रन्थ नहीं। यहाँ समझाने के लिए क्वचित् उनकी व्याख्या कर सकते हैं।

एवं . . . पसीयंतु - इस प्रकार मेरे द्वारा प्रशंसित चौबीस तीर्थंकर तथा अन्य जिनवर, जिन्होंने सर्व प्रकार के रज-मल को दूर किया है तथा सम्पूर्ण रूप से जिनकी जरावस्था एवं मृत्यु नष्ट हो चुकी है, वे मुझ पर कृपा करें।

कित्तीय . . . दिंतु - मेरे द्वारा प्रशंसित, वन्दित तथा पूजित तीर्थंकर परमात्मा, जो लोक में उत्तम हैं, सिद्ध हैं, वे मुझे आरोग्य, बोधिलाभ, सर्वोत्कृष्ट समाधि प्रदान करें।

निम्न गाथा में सिद्धा शब्द से जिनेश्वरों के मुक्तिस्थान का वर्णन किया गया है -

चंदेसु . . दिसन्तु - चंद्र से भी अधिक निर्मल, सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान्, सागर से भी अधिक गंभीर-ऐसे सिद्ध परमात्मा मुझे सिद्धिपद की प्राप्ति कराएं।

"सप्तमी निर्धारणे" इस प्राकृतसूत्र से पंचमी विभक्ति के स्थान पर सप्तमी का उपयोग करते हैं। कुछ लोग सप्तमी विभक्ति के अनुसार भी इसकी व्याख्या करते हैं। चतुर्विंशतिस्तव के प्रत्येक पद में विश्रामरूप संपदा है।

अब अर्हत् चैत्यस्तव की व्याख्या करते हैं -

"अर्हत् चेइआणं करेमि काउसग्गं। वंदण-वत्तियाए पूअण-वत्तियाए सक्कार-वत्तियाए सम्माण-वत्तियाए बोहिलाभ-वत्तियाए निरूवसग्ग-वत्तियाए सद्धाए मेहाए धिईए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउसग्गं।"

भावार्थ -

अरिहंत प्रतिमाओं के आराधन हेतु मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। इनके वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान का अवसर मिले तथा वन्दन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि द्वारा सम्यक्त्व तथा निरूपसर्ग स्थिति (मोक्ष) की प्राप्ति हो - इस उद्देश्य से बढ़ती हुई श्रद्धा, बुद्धि, धृत्ति, धारणा एवं अनुप्रेक्षापूर्वक मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

अरिहंत चेइयाणं - यहाँ चैत्य शब्द का तात्पर्य वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं से है और जहाँ सव्वलोए अरहंत चेइयाणं शब्द है, उसमें तीनों लोकों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं - ऐसे गत, अनागत, वर्तमान तीर्थंकरों एवं विहरमाणों की प्रतिमाओं का समावेश किया गया है।

वंदणवत्तियाए - नमस्कार करने के लिए।

पूयणवत्तियाए - अर्चना करने के लिए।

सक्कारवत्तियाए - सत्कार देने के लिए।

सम्माणवत्तियाए - मन, वचन एवं काया के सहचर्य से लोक में जो प्रत्यक्ष है - ऐसा द्रव्य एवं भाव-पूजारूप सम्मान करने के लिए।

बोहिलाभवत्तियाए - बोधिलाभ एवं सम्यक्त्व-प्राप्ति की जो वृत्ति बताई गई है, उस वृत्ति के माध्यम से बोधिलाभ की प्राप्ति के लिए।

निरूवसग्गवत्तियाए-उपद्रव से रहित होने के लिए (अर्थात् जन्म-मरणरूप उपद्रव से रहित होने के लिए)।

सद्धाए - श्रद्धापूर्वक

मेहाए - बुद्धिपूर्वक

धिईए - संतोषपूर्वक (संतुष्टिपूर्वक)

धारणाए - जो सुना है एवं अध्ययन किया है, उसको स्मृति में रखने के लिए।

अणुप्पेहाए - इच्छित वस्तु का हमेशा स्मरण करना, अर्थात् चिंतन करना अनुप्रेक्षा कहलाती है, ऐसी उस अनुप्रेक्षा के लिए।

वड्ढमाणीए - जो प्रतिक्षण वृद्धि को प्राप्त कर रहा हो, ऐसे गुणों की वृद्धि के लिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(वंदणवत्तियाए से लेकर अणुप्पेहाए तक के सभी पदों के विशेषण के रूप में वड्ढमाणीए शब्द का ग्रहण करें।)

ठामि काउसग्गं - मैं कायोत्सर्ग में स्थित होता हूँ। (कायोत्सर्ग की विशेष व्याख्या कायोत्सर्ग-आवश्यक में की गई है।)

अब इसकी विश्राम-संपदा बताते हैं, जो निम्न प्रकार से है -

१. अरह २. वंदण ३. सद्धा ४. अन्नत्थ ५. सुहम ६. एव ७. जाव ८. ताव - इस प्रकार इस स्तव की उपर्युक्त आठ संपदाए एवं दो सौ उनतीस आलापक हैं। यहाँ अर्हत् चैत्यस्तव की व्याख्या संपूर्ण होती है।

अब श्रुतस्तव की व्याख्या करते हैं -

इसमें सर्वप्रथम निर्विघ्नरूप से कार्य की सिद्धि हो, इसके लिए श्रुत की उत्पत्ति करने वाले तीर्थंकर परमात्माओं को नमस्कार कर मंगलाचरण किया गया है। वह इस प्रकार है -

"पुक्खरवर दीवड्ढे धायइसंडे अ जंबुदीवे अ। भरहेरवय विदेहे धम्माइगरे नमंसामि।।१।। तमतिमिरपडल विद्धं सणस्स सुरगण नरिंदमहियस्स। सीमाधरस्स वंदे पप्फोडिय मोहजालस्स।।२।। जाइजरामरण सोग पणासणस्स कल्लाण पुक्खल विसाल सुहावहस्स। को देव दानव नरिंद गणच्चियस्स, धम्मस्स सार मुवलब्भ करे पमायं।।३।। सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए नंदी सयासंजमे, देवं नाग सुवन्न किन्नर गणस्सब्भूअ- भावच्चिए। लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेल्लुक्कमच्चासुरं, धम्मोवड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ।।४।।"

भावार्थ -

अर्द्धपुष्करद्वीप, धातकीखंड एवं जम्बुद्वीप में (कुल मिलाकर ढाई द्वीप में) आए हुए भरत, ऐरावत तथा महाविदेह क्षेत्रों में श्रुतधर्म की आदि करने वाले तीर्थंकरों को मैं नमस्कार करता हूँ। अज्ञानरूपी अंधकार के समूह का नाश करने वाले, देवसमूह तथा राजाओं से पूजित एवं मोहजाल को सर्वथा तोड़ने वाले, मर्यादा को धारण करने वाले श्रुतधर्म को मैं वन्दन करता हूँ। जन्म-जरा-वृद्धावस्था, मृत्यु तथा शोक को नाश करने वाला, कल्याणकारक तथा अत्यन्त विशाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुखरूप जो मोक्ष है, उसको देने वाला, देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों एवं नरेन्द्रों के समूह से पूजित - ऐसे श्रुतधर्म के सारभूत रहस्य को पाकर कौन बुद्धिमान प्राणी धर्म की आराधना में प्रमाद करे ? अर्थात् कोई भी प्रमाद न करे। हे ज्ञानवान् भव्यजीवों। नय-प्रमाण से सिद्ध - ऐसे जैनदर्शन को मैं आदरपूर्वक नमस्कार करता हूँ। जिसका बहुमान किन्नरों, नागकुमारों, सुवर्णकुमारों और देवों तक ने भक्ति-पूर्वक किया है, ऐसे संयम की वृद्धि जिन-कथित सिद्धान्त से ही होती है। सब प्रकार का ज्ञान भी जिनोक्त-सिद्धांत में ही निःसंदेह रीति से वर्तमान है। जगत् के मनुष्य, असुर आदि सभी प्राणी तथा सकल पदार्थ जिनोक्त-सिद्धान्त में युक्ति एवं प्रमाणपूर्वक वर्णित हैं। यह शाश्वत सिद्धांत उन्नत होकर एकान्तवाद पर विजय प्राप्त करे और इसमें चारित्र-धर्म की भी वृद्धि हो। (पूज्य अथवा पवित्र) ऐसे श्रुतधर्म के आराधन हेतु मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

इस सूत्र में श्रुत शब्द अध्याहार है, उसका यहाँ ग्रहण करना है।

वन्दे शब्द में निहित नमः शब्द के सूचन के लिए चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। प्राकृत में चतुर्थी एवं षष्ठी विभक्ति सभी जगह एक जैसी होती है।

सीमाधरस्स - सभी उत्तम वस्तुओं की सीमा को, अर्थात् मर्यादा को धारण करते हैं, अतः उसे सीमाधरस्स कहा गया है, उत्तम वस्तु किसी अन्य को नहीं, वरन् आगम को ही कहा गया है।

तमः . . . . मोहजालं - इन दो गाथाओं में जिनागम को नमस्कार किया गया है, अतः यहाँ वसंततिलका छंद में आगम के अनुसार धर्म की स्तुति के माध्यम से सारभूत जिनश्रुत की स्तुति की गई है। पुनः इसी प्रकार शार्दूल विक्रीड़ित छंद के राग में "सिद्धे भो.. ..." गाथा द्वारा जिनागम की स्तुति की गई है।

जिणमए - प्राचीन सर्वज्ञ ऋषियों द्वारा कथित होने से जो आगमरूप है। इस पद में "आर्ष" सूत्र से चतुर्थी के स्थान पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तमी का प्रयोग किया गया है। कुछ लोगों ने इसे द्वितीय विभक्ति के रूप में भी माना है।

देवंनागसुवर्णकिन्नरगणस्सब्भूयभावच्चिए - देव - वैमानिकदेव, नाग - नाग का उपलक्षण होने से, इन्हें नागकुमार कहा जाता है। यह भवनपतिदेव का एक प्रकार है। सुवर्ण - उज्ज्वल वर्ण होने से इन्हें सुपर्णकुमार कहा जाता है, यह ज्योतिष्कदेव का एक प्रकार है। किन्नर - किन्नर का उपलक्षण होने से इन्हें किन्नर कहा जाता है। यह व्यंतर जाति के देवों का एक प्रकार है। सब्भूअ - स्वाभाविक विशिष्ट परिणामों द्वारा अर्चित-पूजित।

जिस जिनोक्त-सिद्धान्त में लोक का ज्ञान रहा हुआ है, जो स्थिरीभूत है तथा तीनों लोकों के मनुष्य, असुर, देव, नारक आदि प्राणीमात्र एवं सकल पदार्थ जिनोक्त- सिद्धांत में ही युक्ति एवं प्रमाणपूर्वक वर्णित हैं- ऐसा यह शाश्वतधर्म उन्नति को प्राप्त होकर एकान्तवाद पर विजय प्राप्त करे और जिससे चारित्ररूपी धर्म की भी प्रकृष्ट रूप से वृद्धि हो। "धर्म की प्रकृष्ट रूप से वृद्धि हो"- इस कथन का चारित्रधर्म की भावना को दृढ़ करने के उद्देश्य से पुनः कथन किया गया है। शेष भावार्थ पूर्ववत् है।

अब सिद्धस्तव की व्याख्या करते हैं। सर्वस्तवों के अन्त में सर्वसिद्धिदायक सिद्धों की स्तुति की गई है। परमार्थ से जगत्वंद्य अरहंत परमात्मा भी सिद्ध हैं, क्योंकि वे भी सदैव काया में विचरण नहीं करते हैं।

"सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं। लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्वसिद्धाणं।।१।। जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसति। तं देवदेव महियं, सिरसा वंदे महावीरं।।२।। इक्को वि नमुक्कारो, जिनवर सहस्स वद्धमाणस्स। संसार सागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा।।३।। उज्जिंत सेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स। तं धम्म चक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि।।४।। चत्तारि अट्ठदस दो अ, वंदिया जिणवरा चउव्वीसं परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।५।।"

भावार्थ -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन्होंने सर्व कार्य सिद्ध किए हैं, तथा सर्वभावों (पदार्थों) को जान लिया है, ऐसे बुद्ध (सर्वज्ञ), संसार-समुद्र को पार पाए हुए, गुणस्थानों के अनुक्रम से मोक्ष पाए हुए तथा जो लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं, उन सब सिद्ध परमात्माओं को मेरा निरंतर नमस्कार हो। जो देवों के भी देव हैं, जिनको देवता दोनों हाथ जोड़कर अंजलिपूर्वक नमस्कार करते हैं तथा जो इन्द्रों से भी पूजित हैं, उन महावीरस्वामी को मैं मस्तक झुकाकर वन्दन करता हूँ।

जिनवरों में श्रेष्ठ (तीर्थंकर पदवी को पाए हुए) श्री वर्द्धमानस्वामी को शुद्ध भावों से किया हुआ नमस्कार पुरुषों अथवा स्त्रियों को संसाररूपी समुद्र से त्राण दिला देता है। जिनके दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष गिरनार पर्वत के शिखर पर हुए हैं, उन धर्मचक्रवर्ती श्री अरिष्टनेमि भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ। चार, आठ, दस और दो- ऐसे क्रम से वन्दन किए हुए चौबीस जिनेश्वर तथा जो मोक्ष-सुख को प्राप्त किए हुए हैं, ऐसे सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें।

विशिष्टार्थ -

सिद्धाणं - सिद्धों को। यहाँ सिद्धों की व्याख्या परमेष्ठीमंत्र में किए गए कथनानुसार ही है।

पारगयाणं - संसार-महासागर से पार गए हुओं को।

परंपरगयाणं - चौदह गुणस्थानों की परम्परा को प्राप्त करके मोक्ष में गए हुओं को।

लोअग्ग - मोक्ष।

सव्वसिद्धाणं - यह कथन सर्वसिद्धों का ग्रहण करने तथा सिद्धों के पन्द्रह भेदों के कथनार्थ कहा गया है। सिद्धों के पन्द्रह भेद निम्न हैं -

१. जिणसिद्ध - जिन होकर जो सिद्ध होते हैं, उन्हें जिनसिद्ध कहते है।

२. अजिणसिद्ध - जिनत्व की प्राप्ति किए बिना, अर्थात् तीर्थंकर हुए बिना ही जो गणधर, मुनि आदि के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैवल्य को प्राप्त कर सिद्ध होते हैं, उन्हें अजिनसिद्ध कहते हैं।

३. तीर्थसिद्ध - तीर्थ की विद्यमानता में जो सिद्ध होते हैं, उन्हें तीर्थसिद्ध कहते हैं।

४. अतीर्थसिद्ध - तीर्थ की विद्यमानता बिना अर्थात् स्थापना के पूर्व या तीर्थ के व्यवच्छिन्न होने के पश्चात् जो सिद्ध होते हैं, उन्हें अतीर्थ सिद्ध कहते हैं। जैसे मरूदेवी माता तीर्थ स्थापना के पहले सिद्ध हुई अतः वे अतीर्थसिद्ध है।

५. स्त्रीलिंगसिद्ध - ब्राह्मी, सुन्दरी आदि जो स्त्रीशरीर से सिद्ध हुई हैं, उन्हें स्त्रीलिंगसिद्ध कहते हैं।

६. गृहीलिंगसिद्ध - भरत चक्रवर्ती, इलायचीकुमार आदि जो गृहस्थावस्था में ही, अर्थात् व्रतग्रहण किए बिना ही सिद्ध हुए, उन्हें गृहीलिंगसिद्ध कहते हैं।

७. अन्यलिंगसिद्ध - परिव्राजकादि के वेश में कैवल्य को प्राप्त कर सिद्ध होने के कारण वे अन्यलिंगसिद्ध कहलाते हैं।

८. सलिंगसिद्ध - जो साधुवेष में सिद्ध हुए हैं, उन्हें सलिंगसिद्ध कहते हैं।

९. नरसिद्ध - जो पुरुषलिंग में सिद्ध हुए हैं, उन्हें नरसिद्ध कहते हैं।

१०. नपुंसकसिद्ध - जो नपुंसकलिंग में सिद्ध हुए हैं, उन्हें नपुंसकसिद्ध कहते हैं।

११. प्रत्येकबुद्ध - करकंडु आदि की तरह किसी निमित्त से बोध को प्राप्तकर सिद्ध हुए हों, उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहते हैं।

१२. स्वयंबुद्धसिद्ध - जो गुरु के बिना स्वयं ही बोध का प्राप्त कर सिद्ध होते हैं, उन्हें स्वयंबुद्धसिद्ध कहते हैं।

१३. बुद्धबोधितसिद्ध - जो गुरु से बोध प्राप्तकर सिद्धगति में जाते हैं, उन्हें बुद्धबोधितसिद्ध कहते हैं।

१४. एकसिद्ध - जो एक समय में अकेले ही बिना किसी के साथ सिद्ध हों, उन्हें एकसिद्ध कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५.अनेकसिद्ध - एक समय (समयकाल) में जो अनेक सिद्ध होते हैं, अर्थात् सिद्धगति को प्राप्त करते हैं, उन्हें अनेकसिद्ध कहते हैं।

- इन पन्द्रह भेदों के आख्यापन हेतु नमो सयासव्वसिद्धाणं - इस पद का पुनर्कथन किया गया है। यह प्रथम गाथा का विशिष्टार्थ है।

सिद्धस्तव में गर्भित अन्य दो गाथाओं द्वारा वर्तमान तीर्थ के अग्रणी सिद्ध भगवान् श्री महावीरस्वामी की स्तुति की गई है।

जो देवाण वि - भगवान जो कि विष्णु, शंकर एवं ब्रह्मा आदि देवों के भी देव हैं।

जं देवा - जिनको शक्र आदि देवता।

देवदेवमहिअं - देवों के देव शिव आदि से पूजित।

जिनवरवसहस्स - जिनवरों में श्रेष्ठ, प्रधान होने से जिनवर तथा महाव्रत की धुरा होने के कारण वृषभ कहा गया है, अथवा विशिष्ट अर्थ में स्वयं की जाति में श्रेष्ठ हो, उसके लिए वृषभ शब्द विशेषण के रूप में प्रयोग होता है।

नारी - यहाँ नारी शब्द का ग्रहण नारीमुक्ति के आख्यापनार्थ किया गया है।

निसीहिया - सर्व व्यापार (कर्मों) के निषेध को मोक्ष कहते हैं।

उज्जिंत.....नमंसामि - गोपालपुर नरेश आमराजा ने "जब तक गिरनार पर्वत पर स्थित नेमिनाथ भगवान् की प्रतिमा के दर्शन न करूं, तब तक भोजन नहीं करूंगा"- ऐसा नियम ले रखा था। वह अपने गुरु बप्पभट्टी के साथ रैवतगिरि की तलहटी पर पहुँचे, वहाँ दिगम्बर-संघ ने श्वेताम्बरों को तीर्थयात्रा करने का निषेध कर रखा था। उस अवसर पर बप्पभट्टी सूरि ने अम्बिकादेवी की आराधना की, जिससे देवी ने प्रसन्न होकर समस्या के समाधानरूप कन्या के मुख से निम्न गाथा उच्चारित करवाई, (जिसके परिणामस्वरूप यह तीर्थ दिगम्बर-संघ के हाथ से निकलकर श्वेताम्बर-संघ के हाथ में आ गया) इसीलिए गिरनार की स्तुति के लिए सिद्धस्तव के अन्त में यह गाथा बोली जाती है। "चत्तारि." नामक इस गाथा में अष्टापदतीर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की स्तुति की गई है। अष्टापदगिरि पर भरत द्वारा नानाविध मणियों से निर्मित, चतुर्मुख चैत्य है, उसके पूर्व दिशा के द्वार में चार, दक्षिणदिशा के द्वार में आठ, पश्चिमदिशा के द्वार में दस एवं उत्तरदिशा के द्वार में दो परमात्मा की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। वे सब प्रतिमाएँ चौबीस तीर्थंकरों के वर्ण एवं उनके देहमान के अनुसार मणियों द्वारा निर्मित हैं। - यह सिद्धस्तव की व्याख्या है।

अब समस्त वैयावृत्त्यकर देवों के निमित्त किए जाने वाले कायोत्सर्गसूत्र की व्याख्या करते हैं। वह इस प्रकार है -

"वेयावच्चगराणं, संतिगराणं, सम्मद्दिट्ठि-समाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं।"

भावार्थ -

जिनशासन की वैयावृत्त्य, अर्थात् सेवा-शुश्रूषा करने वालों तथा उपद्रवों की शान्ति करने वालों, सम्यग्दृष्टि जीवों को समाधि प्रदान करने वाले देवों की आराधना के निमित्त मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

वैयावच्चगराणं - जो साधु-साध्वी आदि को वसति एवं ज्ञान-प्राप्ति आदि में सहायक है, उनकी साधना में आने वाले विघ्नों का निवारण करने वाले हैं, उनकी सेवा-शुश्रूषा करने वाले हैं तथा वांछित अर्थ की प्राप्ति कराने में सहायक हैं, उन्हें वैयावृत्त्यकर देव कहा जाता है।

संतिगराणं - सभी उपद्रवों का निवारण करने से उन्हें शान्तिकरा कहा गया है।

समदिट्ठि - सम्यक्त्वं को धारण करने वालों को।

समाहिगराणं - समाधि प्रदान करते हैं, इसलिए उन्हें समाधिकर कहा गया है।

तेषां - उनकी ।

आराधनार्थ करेमि काउसग्गं - आराधना के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

अब चैत्य-स्मरण एवं साधु-स्मरण-सूत्र की व्याख्या करते हैं। वह इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्यस्मरण-सूत्र - जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअ-लोए अ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं।।

भावार्थ -

ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिरछेलोक में जितने भी चैत्य (तीर्थंकरों के बिम्ब) हैं, उन सबको मैं यहाँ रहता हुआ वन्दन करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

ऊर्ध्वलोक - यहाँ उर्ध्वलोक का तात्पर्य कल्प, ग्रैवेयक एवं अनुत्तरविमान से है।

अधोलोक - अधोलोक का तात्पर्य भुवनपति, व्यन्तरभवनों से है।

तिर्यग्लोक - तिर्यग्लोक द्वारा यहाँ द्वीप, सागर, गिरि, ज्योतिष्कविमान आदि का सूचन किया गया है।

साधु-स्मरण-सूत्र - जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविहेदे अ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं।।

भावार्थ -

भरत, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र में स्थित जो कोई साधु मन, वचन और काया से पाप-प्रवृत्ति करते नहीं, कराते नहीं और करते हुए का अनुमोदन नहीं करते, उनको मैं मन, वचन और काया से नमन करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

भरत ऐरावत महाविदेह - भरत, ऐरावत एवं महाविदेह - ये तीनों भूमियाँ कर्मभूमि हैं। शेष क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले यौगलिक मनुष्य भोगाकांक्षा वाले होने से विरति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं, इसलिए उन भूमियों को अकर्मभूमि कहा जाता है।

भगवत्-प्रार्थना-सूत्र -

जय वीयराय !जग-गुरु! होउ ममं तुह पभावओ भयवं।।
भव-निव्वेओ मग्गाणुसारिआ इट्ठफल-सिद्धी।।
लोग-विरूद्ध-च्चाओ, गुरुजण-पूआ परत्थकरणं च।
सुहगुरु-जोगो तव्वयण-सेवणा आभवमखंडा।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

हे वीतराग प्रभो ! हे जगत्गुरु ! तुम्हारी जय हो। हे भगवन्! आपके प्रभाव से मुझे संसार से वैराग्य और सन्मार्ग, अर्थात् मोक्षमार्ग में चलने की शक्ति की प्राप्ति हो तथा वांछित फल की सिद्धि हो। हे प्रभो ! मुझे ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हो, जिससे कि मैं लोकविरूद्ध आचरण का त्याग कर सकूं और माता-पिता, आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनों के प्रति बहुमान रख सकूं तथा उनकी सेवा कर सकूं, साथ ही मैं दूसरों की भलाई करने में सदा तत्पर रहूँ। हे प्रभो ! मुझे सद्गुरु का समागम मिले तथा उनकी आज्ञानुसार चलने की शक्ति प्राप्त हो - ये सब बाते आपके प्रभाव से मुझे जन्म-जन्म में मिलें।

विशिष्टार्थ -

वीतराग - जिनका रागभाव चला गया है, उसे वीतराग कहते हैं। उपलक्षण से जिसका द्वेष भी चला गया है, उसे भी वीतराग कहते हैं।

जगगुरु - स्वर्गलोक, मृत्युलोक एवं पाताललोक के जीवों के मार्गदर्शक होने से, उन्हें जगगुरु कहा गया है।

सुहगुरुजोगो - हेय-उपादेय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरुओ का समागम।

लोकविरूद्धच्चाओ - सामान्यतः सभी लोगों की निंदा एवं विशेष रूप से गुणिजनों की निंदा, सरलचित्त से धर्म करने वालों का उपहास, लोकपूजित जनों का अनादर, असामाजिक व्यक्तियों की संगति, देशाचार का उल्लंघन, अत्यधिक भोग और अतिदान, साधुजनों के विपत्ति में फंसने पर आनंद मानना और सामर्थ्य होने पर भी उसका प्रतिकार न करना - ये सब लोक-विरूद्ध आचार कहे गए हैं।

आवश्यक अधिकार में चतुर्विंशतिस्तव नामक आवश्यक का यही स्वरूप बताया गया है।

अब वन्दनक-आवश्यक का स्वरूप बताते है।

वन्दनक-आवश्यक के १९८ भाग (विकल्प/स्थान) हैं, वे इस प्रकार हैं - मुँहपत्ति-प्रतिलेखना, शरीर-प्रतिलेखना और आवश्यक क्रिया के पच्चीस-पच्चीस स्थान हैं। इच्छा आदि छः स्थान, छः गुण,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छंदेण आदि रूप गुरु के छः वचन, वंदन करने के पाँच अधिकारी, वंदन करने के पाँच अनधिकारी, वंदन की पाँच निषेधावस्थाएँ, एक अवग्रह, वन्दन के पाँच नाम तथा वन्दन के पाँच दृष्टान्त, गुरु की तेंतीस आशातना, वन्दन के बत्तीस दोष, वंदन के आठ कारण तथा अवन्दन के छः दोष - इस प्रकार वन्दन के १९८ स्थान होते हैं। इनका योग निम्न प्रकार से है -

मुँहपत्ति की प्रतिलेखना के स्थान	-	२५
शरीर की प्रतिलेखना के स्थान	-	२५
आवश्यक-क्रिया के स्थान	-	२५
वन्दन के स्थान	-	६
गुरु के वचन	-	६
वन्दन के गुण	-	६
वन्दन के अधिकारी	-	५
वन्दन के अनधिकारी	-	५
वन्दन की निषेधावस्था	-	५
गुरु का अवग्रह	-	१
वन्दन के नाम	-	५
वन्दन के उदाहरण	-	५
गुरु की आशातना	-	३३
वन्दन के दोष	-	३२
वन्दन के कारण	-	८
वन्दन नहीं करने के दोष	-	६
कुल योग	-	१९८

इस प्रकार वन्दन के एक सौ अट्ठानवें स्थान हैं। मुखवस्त्रिका-प्रतिलेखना के पच्चीस स्थान निम्न प्रकार से हैं -

दृष्टि-प्रतिलेखन एक, तीन-तीन के अन्तर से अक्खोडा (पुरिम), नौ अक्खोडा एवं नौ पक्खोडा कुल मिलाकर मुहँपत्ति के २५ बोल होते हैं। कायप्रतिलेखना के २५ बोल इस प्रकार हैं - दो हाथ, सिर, मुँह, हृदय, दो पाँव और पीठ - इन छः अंगों की चार-चार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बार प्रमार्जना - ऐसी चौबीस प्रतिलेखना एवं षट्पदी की एक प्रतिलेखना - इस प्रकार कुल मिलाकर शरीर की २५ प्रतिलेखना होती हैं। किन्तु प्रवचनसारोद्धार में दो हाथ, दो पाँव, एक सिर, एक मुख और एक हृदय - ऐसे सात अंगों की तीन-तीन प्रमार्जना तथा पीठ की चार प्रमार्जना बताई गई हैं। इस प्रकार कुल पच्चीस प्रमार्जना बताईं गईं हैं। इस सूत्र का अर्थ सुखपूर्वक जाना जा सकता है, किन्तु इसकी विधि को अनुभव एवं दृष्टांत द्वारा जानें। वन्दनक के पच्चीस आवश्यक इस प्रकार हैं - दो अवनत, एक यथाजात, बारह आवर्त्त, चार शिरनमन, तीन गुप्ति, दो प्रवेश एवं एक निष्क्रमण - इस प्रकार वन्दन की पच्चीस आवश्यक क्रियाएँ हैं। द्वादशावर्त्तवन्दन में, जिसे कृतिकर्मवन्दन के रूप में भी जाना जाता है, दो बार अवनत होता है और दो बार उन्नत, यानी उठते हैं तथा दो बार यथाजात मुद्रा में बैठते हैं।

जन्म के समय जिस प्रकार शिशु के दोनों हाथ मुख के ऊपर रखे हुए होते हैं, उसी प्रकार वन्दन के समय भी वैसी ही मुद्रा होती है।

प्रथम एवं द्वितीय वन्दन में क्रमशः हाथों के छ-छः आवर्त्त होते हैं, इस प्रकार दोनों वन्दन के कुल बारह आवर्त्त होते हैं। जैसे - १. अहो २. कायं ३. काय ४. जत्ता भे ५. जवणि ६. ज्जंचभे - (इस प्रकार प्रथम वन्दन में छः आवर्त्त होते हैं और वैसे ही छः आवर्त्त द्वितीय वन्दन में होते हैं।) वन्दन के बीच चार बार सिर नमन होता है - दो शिष्य का तथा दो गुरु का। मन, वचन एवं काया की गुप्तिपूर्वक वन्दन त्रिगुप्त वन्दन है। वन्दन करते हुए गुरु के अवग्रह में प्रवेश दो बार होता है। गुरु के अवग्रह में से बाहर निकलना निष्क्रमण-आवश्यक है, यह वन्दन में एक बार ही होता है, अर्थात् प्रथम वन्दन के समय ही यह आवश्यक होता है, द्वितीय वन्दन में यह आवश्यक नहीं होता है। वन्दन के छः स्थान होते हैं - १. इच्छा २. अनुज्ञापना ३. अव्याबाध ४. यात्रा ५. यापनीय एवं ६. अपराध की क्षमायाचना। "इच्छामि खमासमणो" इत्यादि - यह प्रथम इच्छा- स्थान है, "अणुजाणह मे"- यह द्वितीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुज्ञापना-स्थान है, "खमणिज्जो"- यह तृतीय अव्याबाध-स्थान है, "जत्ताभे"- यह चौथा यात्रा-स्थान है, "जवणिज्जंचभे"- यह पाँचवां यापनीय-स्थान है तथा "खामेमि खमासमणो"- यह छठवां अपराधक्षामणा-स्थान है। इस प्रकार वन्दन के ये छः स्थान हैं।

गुरु के छः वचन होते हैं - १. छंदेण २. अणुजाणामि ३. तहत्ति ४. तुब्भंपि ५. वट्टई एवं ६. अहमवि खामेमि तुमे। वंदन के योग्य आचार्यादि के कथन भी छः होते हैं।

षट्गुण इस प्रकार हैं - १. विनयोपचार २. मानभंग ३. गुरुजनों की पूजा ४. तीर्थंकर की आज्ञा का पालन ५. श्रुतधर्म की आराधना तथा ६. क्रियाकारित्व। विनयोपचार से विनय की प्राप्ति होती है। वन्दन-क्रिया से चित्त में रहे हुए अभिमान का नाश होता है। वन्दन-क्रिया से गुरुजनों की भावपूजा होती है। परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट गुरुभक्ति करने से तीर्थंकर की आज्ञा का पालन होता है। श्रुतधर्म की आराधना होती है (क्योंकि श्रुतज्ञान वन्दनपूर्वक ही ग्रहण किया जाता है)। वन्दन की क्रिया करने से सदाचार का निर्वाह होता है। वन्दन के पाँच अधिकारी इस प्रकार हैं - १. आचार्य २. उपाध्याय ३. प्रवर्त्तक ४. स्थविर एवं ५. रत्नाधिक। इनको वंदन करने से कर्मों की निर्जरा होती है। आचार्य और उपाध्याय की व्याख्या तो संसार में प्रसिद्ध ही है, अतः यहाँ प्रवर्त्तक की व्याख्या करते हैं। प्रवर्त्तक गच्छ और संघ में सभी को उपदेश देकर अपनी पुण्यप्रवृत्ति का निर्वाह करता है। कहा भी है - उपस्थापन, प्रभावना, विभिन्न बर्हि क्षेत्रों की यात्रा, श्रुत का प्रसार, श्रुत, अर्थ और दोनों के ज्ञाता प्रवर्त्तकगण में तिलक के समान होते हैं। स्थविर का अर्थ है- जो सभी संयतिजनों को संयम में स्थिर करता है और स्थिर करने के साथ-साथ स्वयं भी विषय-भोगों से विमुख होकर कठिन तप आदि की प्रवृत्ति करता है, वह स्थविर कहा जाता है, अथवा जो साधना में अस्थिर होता है, उसे अपनी साधना के बल से स्थिर करने वाला स्थविर कहा जाता है। रत्नाधिक उसे कहते हैं, जो गुणरूपी रत्नों की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है, अर्थात् जो दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ हो। इन सभी को किया जाने वाला वन्दन निर्जरा, अर्थात् कर्मक्षय का हेतु होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दन के पाँच अनधिकारी इस प्रकार हैं - १. अवसन्न २. पार्श्वस्थ ३. कुशील ४. संसक्त एवं ५. यथाच्छंद।

जो संयम-पालन में सुस्ती एवं खेद को प्राप्त करता है, अर्थात् शिथिलता का अनुसरण करता है, उसे अवसन्न कहते हैं। पूर्णतः एवं अंशतः अवसन्न की व्याख्या आवश्यकसूत्र से जानें। जो बाह्यतः ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना करते हुए भी उससे विमुख रहे, अर्थात् उनका कुछ भी उपयोग न करे, उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। सर्वतः एवं देशतः पार्श्वस्थ की व्याख्या भी आवश्यकसूत्र से जानें। जो कुत्सित आचार का पालन करे तथा सावद्य क्रियाओं में निरत रहे, उसे कुशील कहते हैं। कुसंगति में रहने के कारण जिसका चारित्र दग्धवत् है, उसे संसक्त कहते हैं। गण और संघ से त्यक्त तथा अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने वाले को यथाछंद कहते हैं। इन सब की विस्तृत व्याख्या आवश्यकसूत्र, उपदेशमाला आदि ग्रन्थों से जानें। यह आचारग्रन्थ है, इसलिए यहां इनकी संस्कृत-छाया एवं अर्थ ही बताया गया है। जिनमत में इन पाँचों को वन्दन के अयोग्य माना गया है। जैसा कि कहा गया है - पार्श्वस्थ आदि को वंदन करने से न तो कीर्ति की प्राप्ति होती है और न ही कर्मों की निर्जरा होती है, अपितु मात्र कायक्लेश एवं कर्म का बन्ध ही होता है।

पाँच उदाहरण निम्न हैं - १. द्रव्य और भावसहित वंदन २. रजोहरणवंदन ३. वृत्तवंदन ४. नमनपूर्वक वंदन ५. विनयपूर्वक वंदन - इन पाँचों प्रकार के वंदन के सम्बन्धों में क्रमशः शीतलाचार्य, क्षुल्लक, कृष्ण, सेवक एवं पालक के दृष्टान्त बताए गए हैं। द्रव्य-भाववन्दन में शीतलाचार्य का दृष्टान्त, रजोहरणवंदन में क्षुल्लकाचार्य का दृष्टांत, आवर्त्तवंदन में कृष्ण का दृष्टांत, नमन में सेवक का दृष्टांत एवं विनय में पालक का दृष्टांत दिया गया है। ये सब कथानक विस्तार से आवश्यकवृत्ति में दिए गए हैं।

अवग्रह, अर्थात् स्थान सम्बन्धी अनुमति के पाँच प्रकार हैं - १. इन्द्र की अनुमति २. राजा की अनुमति ३. गृहपति की अनुमति ४. श्रावक की अनुमति और ५. साधर्मिक की अनुमति। गुरु के जीवनपर्यन्त चारों दिशाओं में साढ़े तीन हाथ भूमि पर गुरु का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवग्रह होता है। अवग्रह में प्रवेश करने हेतु अनुज्ञा लेनी होती है। विहार में दक्षिणार्ध भरत के स्वामी इन्द्र की अनुमति से अवग्रह ग्राह्य होता है। विहार के समय किसी स्थान पर रुकना पड़े, तो उसके लिए राजा, पृथ्वीपति, देशपति, नगरपति, ग्रामपति की अनुज्ञा लेनी होती है। गृहपति के आवास में रुकना हो, तो गृहपति, सार्थपति, पुर-प्रमुख आदि की अनुज्ञा लेनी होती है। किसी सार्वजनिक उपाश्रय या आराधनागृह में रुकने के लिए सागारिक, अर्थात् श्रावकों की आज्ञा आवश्यक होती है। जिस स्थान पर ज्येष्ठ या कनिष्ठ साधु ठहरे हुए हों, वहाँ रुकने के लिए साधर्मिक, अर्थात् पूर्व में वहाँ स्थित मुनिजनों की आज्ञा लेनी होती है। वन्दन आदि सर्वकार्यों में गुरु का अवग्रहकाल की अपेक्षा से उनकी आयुष्यपर्यन्त तथा क्षेत्र की अपेक्षा चारों दिशाओं में गुरु के देह-परिमाण का अवग्रह होता है। यदि शिष्य की लम्बाई गुरु से अधिक हो, तो उसे अपने देह के परिमाण-अनुसार, गुरु से दूर खड़े होना चाहिए। वन्दन के निम्न पाँच नाम हैं - १. वंदन २. चितिकर्म ३. कृतिकर्म ४. पूजाकर्म एवं ५. विनयकर्म।

वंदन - प्रशस्त मन, वचन, काया द्वारा नमन करने को वन्दनकर्म कहते हैं।

चितिकर्म - जिस क्रिया द्वारा सुकृत का संचय होता है, उसे चितिकर्म कहते हैं।

कृतिकर्म - पुण्यक्रिया करने को कृतिकर्म कहते हैं।

पूजाकर्म - पूजा की क्रिया को पूजाकर्म कहते हैं।

विनयकर्म - विनय की प्रवृत्ति को विनयकर्म कहते हैं।

इस प्रकार वंदन के ये पाँच नाम बताए गए हैं।

वन्दन के पाँच प्रतिषेध स्थान निम्न हैं - जब गुरु १. व्यग्र (व्याक्षिप्त) हो, २. पराभूत हो ३. प्रमत्त हो ४. आहार कर रहे हों ५. मल-मूत्र का विसर्जन कर रहे हों या करने को तत्पर हों, तो उस समय गुरु को वन्दन नहीं करें।

व्यग्र (व्याक्षिप्त) - गुरु पठन (अध्ययन), पाठन (अध्यापन) करते हों, उपधि-निर्माण में लगे हों, दूसरे से बातचीत कर रहे हों,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिख रहे हों, परमेष्ठीमंत्र का जप कर रहे हों, ध्यान आदि कर रहे हों, अर्थात् इन कार्यों में व्यस्त हों, तो उन्हें वंदन नहीं करना चाहिए।

पराभूत - जिस समय गुरु मिथ्यादृष्टिदेव, दानव एवं मानवों के दुर्वचनों एवं उपसर्गों से पराभूत बने हुए हों, उस समय भी उन्हें वंदन नहीं करना चाहिए। मतान्तर से इसका अर्थ परांमुख, अर्थात् सम्मुख बैठे हुए न हों - ऐसा भी लिया गया है।

प्रमत्त - गुरु निद्रा, हास्य, कलह, तृष्णा आदि प्रमाण से युक्त हो, तो उस समय भी उन्हें वन्दन नहीं करना चाहिए।

आहार - गुरु जिस समय आहार कर रहे हों, पानी पी रहे हों, औषधि आदि का सेवन कर रहे हों, उस समय भी उन्हें वंदन नहीं करना चाहिए।

नीहार - गुरु जिस समय मल-मूत्र का उत्सर्ग कर रहे हों, या करने के लिए जा रहे हों, पैर धो रहे हों, वस्त्र-प्रक्षालन आदि कार्य कर रहे हों तो, उस समय भी उन्हें वंदन नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त पाँच प्रतिषेधित स्थितियों में कभी भी वन्दन नहीं करना चाहिए।

गुरु सम्बन्धी तेंतीस आशातना का विवेचन निम्नांकित है -

(१-३) पुरओ - गुरु के आगे चलना, खड़े रहना या बैठना

(४-६) पक्खासन्न - गुरु के पीछे अति समीप चलना, खड़े रहना या बैठना

(७-९) गंता चिट्ठण निसीयण - गुरु के दाएं/बाएं चलना, खड़े रहना या बैठना

(१०) आयमण - गुरु के साथ स्थण्डिलभूमि हेतु बाहर जाने पर उनके आने के पूर्व ही हाथ-पैर मुँह आदि धो लेना।

(११) आलोअण - स्थंडिलादि बहिर्भूमि से लौटकर गुरु से पहले गमनागमन विषयक आलोचना कर लेना।

(१२) अप्पडिसुणण - रात्रि में गुरु पूछे कि कौन सो रहा है? कौन जाग रहा है? तब जाग्रत होने पर भी जवाब न देना।

(१३) पुव्वालवण - आए हुए साधुओं एवं श्रावकों आदि के साथ गुरु से पूर्व शिष्य का बातचीत करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१४) आलोए - भिक्षादि लाकर पहले अन्य के समक्ष आलोचना करना और पश्चात् गुरु के समक्ष आलोचना करना।

(१५) उवदंस - गोचरी आदि पहले अन्य मुनि को बताकर पश्चात् गुरु को दिखाना।

(१६) निमंतण - गोचरी आदि लाकर गुरु को निमंत्रण देने से पहले अन्य साधुओं को निमंत्रण देना।

(१७) खद्धा - गोचरी लाने के बाद आचार्य गुरु आदि के योग्य अशनादि उनसे पूछे बिना ही अन्य साधुओं को उनकी रुचि के अनुसार प्रचुर मात्रा में दे देना।

(१८) णयणे - भिक्षा में से गुरु को थोड़ा-बहुत रूक्षादि, अर्थात् रूखा-सूखा आहार देकर शेष स्निग्ध, मधुर, मनोज्ञ भोजन, शाक आदि स्वयं खा लेना।

(१९) अपडिसुणण - गुरु पूछे "यहाँ कौन है ?" उस समय जानते हुए भी जवाब न देना। (यह आशातना दिवस सम्बन्धी है। पूर्व में जो अप्पडिसुणण रूप आशातना कही गई है, वह रात्रि सम्बन्धी है।)

(२०) खद्धति - गुरु के साथ कर्कश एवं तीखी (ऊंची) आवाज में बोलना।

(२१) तत्थगय - गुरु के बुलाने पर आसन पर बैठे-बैठे ही प्रत्युत्तर देना।

(२२) किं - गुरु के बुलाने पर, क्या है? क्या कहते हो? - ऐसा बोलना।

(२३) तम्हं - गुरु को 'तू'- ऐसे एकवचन से सम्बोधित करना।

(२४) तज्जाय - यदि गुरु कहे -"तुम यह कार्य करो", तो शिष्य यह जवाब दे कि 'तुम ही क्यों नहीं कर लेते हो', इस प्रकार गुरु जिन शब्दों में कहे, पुनः उन्हीं शब्दों में गुरु के सामने जवाब देना।

(२५) नोसुमण - गुरु के व्याख्यान देते समय शिष्य द्वारा मन में विकृत भावों को लाना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२६) नोसरसि - गुरु बोलते हों, उस समय शिष्य बीच में कहे - "आपको स्मरण नहीं है, इसका अर्थ इस तरह नहीं है।"

(२७) कहं छित्ता - गुरु द्वारा दिए जा रहे व्याख्यान के बीच स्वयं के कथन द्वारा, अर्थात् 'अब मैं कथन कहूँगा' - ऐसा कहकर गुरु का व्याख्यान भंग करना।

(२८) परिसंभित्ता - अब गोचरी का समय हो गया है, इत्यादि कहकर गुरु के समक्ष बैठी पर्षदा का भंग करना, अर्थात् उन्हें उठा देना।

(२९) अणुट्ठियाएकहे - गुरु के प्रवचन के बीच अपनी विद्वता बताने हेतु शिष्य द्वारा सभा को प्रवचन देना।

(३०) संथारपायघट्टण - गुरु की शय्या, आसन आदि को पैर लगाना।

(३१) चिट्ठ - गुरु के आसन एवं शय्या पर सोना या बैठना।

(३२) उच्चासण - गुरु के सम्मुख ऊँचे आसन पर बैठना।

(३३) समासण - गुरु के सम्मुख समान आसन पर बैठना।

- इस प्रकार गुरु सम्बन्धी ये तेंतीस आशातनाएँ बताई गई हैं।

अब वन्दन के बत्तीस दोष बताते हैं -

(१) अणाढिय (अनादृतं) - अनादरपूर्वक वन्दन करना। यह दोष (शिष्य को) बत्तीस ही दोषों से युक्त कर देता है।

(२) थद्धं (स्तब्ध) - अविनयपूर्वक देह एवं मन से, अर्थात् द्रव्य और भाव से वंदन करना।

(३) पविद्धं (प्रवृद्धं) - वन्दन करते हुए इधर-उधर चले जाना।

(४) परिपिंडित - साथ में बैठे हुए सभी आचार्यों को एक ही विधि से वन्दन करना, अथवा घुटनों पर हाथ टेककर वन्दन करना।

(५) टोलगई (टोलगति) - टिड्डी की तरह आगे-पीछे कूदते हुए वन्दन करना।

(६) अंकुस (अंकुश) - कार्य में व्यस्त गुरु को हाथ पकड़कर अवज्ञा से खींचते हुए जबरदस्ती बैठाकर वन्दन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) कच्छ वरंगिय (कच्छपरंगित) - कछुए की तरह आगे-पीछे खिसकते हुए वन्दन करना।

(८) मत्सुवत्त (मत्स्योद्वृत्त) - एक आचार्य को वन्दन करके वहीं बैठे-बैठे ही मत्स्य की तरह शरीर पलटकर दूसरे आचार्य को वन्दन करना।

(९) मणसापउट्ठ (मनसाप्रद्विष्टं) - गुरु के प्रति द्वेष रखकर वन्दन करना।

(१०) वेइयाबद्ध (वेदिकाबद्धं) - वेदिकाबद्ध-वन्दन के दोष पाँच प्रकार के होते हैं-

१. दोनों घुटनों पर दोनों हाथ टेककर वन्दन करना।
२. दोनों हाथ नीचे रखकर वन्दन करना।
३. गोद में हाथ रखकर वन्दन करना।
४. दायां या बायां घुटना दोनों हाथ के मध्य रखकर वन्दन करना।
५. दोनों पसलियों पर हाथ रखकर वन्दन करना।

(११) भयसा (भयेन) - यदि मैं वन्दन नहीं करूंगा, तो गुरु मुझे गच्छ से बाहर कर देंगे - इस भय से वन्दन करना।

(१२) भयन्त (भजमान) - गुरु की सेवा करते हुए उन पर ताना मारना, अथवा चूँकि गुरु लोकपूज्य हैं- यह जानकर उपेक्षाभाव से उन्हें आदर देना।

(१३) मित्ती (मैत्री) - आचार्य के साथ मैत्री (प्रीति) चाहते हुए वन्दन करना।

(१४) गारव (गौरवं) - "वन्दनादि सामाचारी में मैं कुशल हूँ"- इसे बताने के लिए वन्दन करना।

(१५) कारण - विद्या (मंत्र-विद्या) वस्त्र आदि वस्तुओं की अभिलाषा से गुरु को वन्दन करना।

(१६) तेणिय (तैनिक) - लघुता के भय से चोरी-छुपे वन्दन करना। दूसरा कोई श्रावक या साधु न देखे, इस तरह चोरी-छुपे वन्दन करना। दूसरे यदि देखेंगे, तो कहेंगे कि अहो ! ये विद्वान होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए भी वन्दन करते हैं। इससे मेरा मानभंग होगा, अर्थात् मैं लघुता को प्राप्त करूंगा।

(१७) पडिणीय (प्रत्यनीक) - गुरु के आहार आदि ग्रहण करते समय या उनके कार्य में विक्षेप पड़े, इस प्रकार से वन्दन करना।

(१८) रूट्ठ (रुष्ट) - गुरु के क्रोधित होने पर, अथवा उनसे रुष्ट होने पर आवेश- पूर्वक वंदन करना।

(१९) तज्जिय (तर्जित) - आप न तो वन्दन करने से प्रसन्न होते हो, न नाराज, फिर तुम्हें वन्दन करने से क्या लाभ ? - इस प्रकार तर्जना करते हुए वन्दन करना।

(२०) सढ (शठ) - लोकों में विश्वास पैदा करने के लिए भावरहित कपटपूर्वक वन्दन करना।

(२१) हीलिय (हीलित) - गणि, वाचक, ज्येष्ठार्य आदि का हास्य करते हुए वन्दन करना।

(२२) विपलियउंचिय (विपरिकुंचित) - वन्दन करते हुए देशकथादि (विकथा) करना।

(२३) दिट्ठमदिट्ठ (दृष्टादृष्टं) - वन्दन करते समय अंधकार में, अर्थात् कोई देखे नहीं इस तरह सबसे पीछे जाकर बैठ जाए और आवर्त्त आदि पूर्वक वन्दन नहीं करना।

(२४) सिंग (शृंग) - 'अहो-कायं-काय' आदि बोलते हुए आवर्त्त के समय हाथ ललाट के मध्य न करते हुए बाएं, दाएं भाग पर करना।

(२५) कर - राज्य के कर की तरह वन्दन को भी गुरु का "कर" समझकर करना।

(२६) मोयण (मोचन) - मुझे इनसे कब मुक्ति मिलेगी या कब ये मुझे मुक्त करेंगे - ऐसा विचार करते हुए वन्दन करना।

(२७) आलिट्ठमणालिट्ठ (आश्लिष्टामाश्लिष्ट) - आवर्त्त देते समय रजोहरण एवं मस्तक को हाथ से स्पर्श न करना। यह आश्लिष्टामाश्लिष्ट दोष चार प्रकार का होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२८) उण (ऊण) - स्वर, व्यंजन आदि न्यूनाधिक बोलते हुए वन्दन करना।

(२९) उत्तरचूलिय (उत्तरचूलिक) - वन्दन करने के बाद "मत्थएण वंदामि" इत्यादि जोर से बोलना।

(३०) मूय (मूक) - गूंगे की तरह मन में बोलते हुए वन्दन करना।

(३१) ढड्ढर - वन्दन करते समय सूत्रपाठ जोर-जोर से बोलना।

(३२) चुडुलिय (चुडुलिक) - रजोहरण को उल्मुक, अर्थात् मशाल की तरह हाथ में गोल-गोल घुमाते हुए वन्दन करना।

उपर्युक्त बत्तीस दोषों से रहित शुद्ध वन्दन करना चाहिए।

जैसा कि आगम में कहा गया है, बत्तीस एवं इसी प्रकार के अन्य दोषों से युक्त गुरु की विराधना करके यदि कोई गुरु को वन्दन या उनकी सेवा करता है, तो वह कर्म-निर्जरा के फल का भागी नहीं होता है, अपितु कर्म-बन्धन का ही भागी होता है। जो व्यक्ति बत्तीस दोषों से रहित होकर गुरु को वन्दन करता है, वह अल्पसमय में ही मोक्ष को, अथवा वैमानिक देवलोक को प्राप्त करता है।

आठ करण (वन्दन करने के अवसर) -

१. प्रतिक्रमण - प्रतिक्रमण में चार बार वन्दन करना।
२. स्वाध्याय - स्वाध्याय करने हेतु या स्वाध्याय-प्रस्थापन के समय वन्दन करना।
३. कायोत्सर्ग - विगय (विकृति) के परिभोग के लिए कायोत्सर्ग करने हेतु वन्दन करना।
४. अपराध - अपराध की क्षमा माँगने से पूर्व वन्दन करना।
५. प्राघूर्णक (अतिथि) - प्राघूर्णक, अर्थात् अतिथि मुनि के आने पर यदि प्राघूर्णक दीक्षापर्याय में बड़ा हो, तो वहाँ स्थित लघु साधुओं द्वारा उन्हें वन्दन करना और प्राघूर्णक मुनि छोटे हों तो उनके द्वारा वहाँ स्थित ज्येष्ठ मुनियों को वन्दन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. आलोचना - प्रायश्चित्त-विधि में गुरु के समक्ष आलोचना करते समय वन्दन करना।

७. संवरण - एकासण आदि के प्रत्याख्यान करते समय, अथवा दिवसचरिमादि के प्रत्याख्यान लेते समय, अथवा एकासन आदि के प्रत्याख्यान लेने के पश्चात् उपवास की भावना हो जाए, तो उपवास का प्रत्याख्यान लेते समय पुनः वन्दन करना।

८. उत्तमार्थ (अनशन-संलेखना हेतु) - संलेखना आदि करते समय वन्दन करना।

इस प्रकार वन्दन के एक सौ बानवे स्थान होते हैं।

वन्दन न करने के छः दोष -

१. मान - शिष्य गुरु को वन्दन नहीं करता है, तो वह अहंकारी होता है।

२. अविनय - गुरु को वन्दन न करने से शिष्य अविनीत होता है।

३. अबोधि - गुरु को वन्दन न करने से शिष्य को बोधि की प्राप्ति नहीं होती है।

४. खिंसा - गुरु को वन्दन न करने से शिष्य गुरु की अवहेलना एवं निंदा करने वाला बनता है।

५. नीच गोत्र - गुरु को वन्दन न कर उनकी अवहेलना करने से नीच गोत्र की प्राप्ति होती है।

६. भववृद्धि - गुरु को वन्दन नहीं करना भववृद्धि का हेतु बनता है।

इस प्रकार वन्दन न करने के इन छः दोषों सहित वन्दन के कुल १९८ स्थान हैं।

अब वन्दन की व्याख्या करते हैं -

शिष्य या श्रावक विधिवत् मुखवस्त्रिका एवं अंग की प्रतिलेखना करके मुनि दोनों हाथ से मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण ग्रहण करके, अथवा श्रावक मुखवस्त्रिका को धारण कर कुछ नीचे झुकते हुए निम्न वन्दन-सूत्र बोले -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए
निसीहिआए मत्थएण वंदामि।"

भावार्थ -

हे क्षमाशील गुरु महाराज ! मैं सभी पापकार्यों का निषेध करके शक्ति के अनुसार मस्तक झुकाकर आपको वंदन करना चाहता हूँ।

"इच्छामि खमासमणो। वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए।।१।। अणुजाणह मे मिउग्गहं।।२।। निसीहि, अहो-कायं, काय, संफासं खमणिज्जो भे किलामो ?

अप्पकिलंताणं बहसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ?।।३।। जत्ताभे !।।४।। जवणिज्जं च भे !।।५।। खामेमि खमासमणो ! देवसिअं वइक्कम्मं।।६।। आवस्सिआए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तिसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए, मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए। कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालिआए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइआरो, कओ तस्स खमासमणो पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।।७।।"

भावार्थ -

हे क्षमाक्षमण। मैं अन्य सब प्रकार के कार्यों से निवृत्त होकर अपनी शक्ति के अनुसार आपको वन्दन करना चाहता हूँ। मुझे परिमित अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए। सब अशुभ व्यापारों के त्यागपूर्वक आपके चरणों को अपने उत्तमांग (मस्तक) से स्पर्श करता हूँ। इससे आपको जो कोई खेद-कष्ट हुआ हो, उसके लिए मुझे क्षमा प्रदान करें। क्या आपका दिन शुभभाव से सुखपूर्वक व्यतीत हुआ है ? हे पूज्य ! आपका तप, नियम, संयम और स्वाध्यायरूप यात्रा निराबाध चल रहे हैं ? आपका शरीर इंद्रियाँ तथा मन कषाय आदि उपघात से एवं पीड़ा रहित हैं ? हे गुरु महाराज ! सारे दिन में मैंने जो कोई अपराध किया हो, उसकी मैं क्षमा मांगता हूँ। आवश्यक-क्रिया के लिए अब मैं अवग्रह से बाहर आता हूँ। दिन में आप क्षमाश्रमण की तेंतीस आशातनाओं में से कोई भी आशातना की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, तो उसकी मैं क्षमा मांगता हूँ और जो कोई भी आशातना एवं अतिचार मिथ्याभाव के कारण हुआ हो, मन, वचन और काया से, क्रोध-मान-माया एवं लोभ के वश होकर जो कोई दुष्प्रवृत्ति हुई हो, अथवा सर्वकाल में सर्वप्रकार के मिथ्या उपचारों से, अष्ट-प्रवचन मातारूप सर्वधर्म कार्यों में अतिक्रमण हुआ हो, आशातना से हुई हो ; हे क्षमाश्रमण ! आपके समीप मैं उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति अपनी ममत्ववृत्ति का त्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

खमासमणो - जो मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है और क्षमा आदि गुणों से युक्त दसविध धर्म का पालन करता है, वह श्रमण महाश्रमण कहलाता है।

जावणिज्जाए - जो काल व्यतीत हो चुका है, उससे सम्बन्धित सुख-सुविधा पूछने को यापनीय कहते हैं।

निसीहियाए - प्राणातिपात आदि पाप-व्यापारों से निवृत्ति करने को नैषेधिकी कहते हैं।

यह प्रथम इच्छा-निवेदन स्थान है। इसके बाद में यदि गुरु किसी कार्य में व्यस्त होते हैं, तो "प्रतीक्षस्व"- ऐसा शब्द कहते हैं, अर्थात् त्रिविध-मन, वचन और काया से संक्षेप में वन्दन करने की आज्ञा देते हैं। उस समय शिष्य संक्षिप्त वन्दन द्वारा "मत्थेण वंदामि" कहकर पुनः अपने कार्य में लग जाता है। यदि गुरु किसी कार्य में व्यस्त नहीं होते, तो उस समय वे "छंदेण"- ऐसा शब्द बोलते हैं, अर्थात् मुझे किसी भी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। "जैसी तुम्हारी इच्छा" - इन शब्दों के माध्यम से वे शिष्य को वंदन की अनुज्ञा प्रदान करते हैं।

तब शिष्य कहता है -"अणुजाणह मे मिउग्गहं निस्सीही" - मुझे आपके परिमित अवग्रह (क्षेत्र) में आने की अनुमति दीजिए।

मिउग्गहं - गुरु के आसपास के शरीर-परिमाण क्षेत्र (गुरु-क्षेत्र) को कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह द्वितीय स्थान है। तत्पश्चात् गुरु कहते हैं -"अणुजाणामि", अर्थात् मैं तुम्हें अवग्रह में प्रवेश करने की अनुमति देता हूँ। तत्पश्चात् शिष्य नैषिधिकी का कथन, अर्थात् सर्व पापरूप व्यापारों का निषेध करके अवग्रह में प्रवेश करे। गुरु के शरीर से चारों दिशाओं में पुरुष-परिमाण आस-पास की जगह को अवग्रह कहते हैं। इस क्षेत्र में अनुज्ञापूर्वक गुरु के चरणों के निकट आकर, गुरु के आगे बैठकर, गुरु के पैरों पर शिष्य अपना ललाट लगाए तथा हाथों से पैरों को स्पर्श करके "अहोकायं-कायसंफासं" बोले।

अहोकायं - गुरु के चरणों का।

कायसंफासं - स्वयं के हाथ और ललाट से किया गया स्पर्श। यहाँ पूर्वपद अनुज्ञा का भी अर्थग्रहण किया गया है। "अ" का उच्चारण करते ही गुरु के पैरों पर अपने दोनों हाथों को रखे।

"हो" का उच्चारण करते ही दोनों हाथों को अपने ललाट पर लगाए, इसी प्रकार कायं एवं काय शब्द का उच्चारण करते हुए करे - इस प्रकार तीन आवर्त्त होते हैं। 'संफासं' शब्द बोलकर गुरु के पैरों पर अपना सिर रखे। तत्पश्चात् उन्नत, अर्थात् सीधे होकर बैठ जाए तथा ललाट पर अंजलीबद्ध करके गुरु के मुख की तरफ देखते हुए "खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो" पद बोले।

खमणिज्जो - क्षमा करें।

किलामों - स्पर्श करने से उत्पन्न खेद को।

दिवस अप्पकिलंताणं - दिन बाधा से रहित निकला।

दिवसो - यहाँ दिवस शब्द का ग्रहण रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक आदि के सूचन हेतु किया गया है, किन्तु यहाँ दिवस शब्द का मुख्य अर्थ दिन ही है। यह वन्दन का तृतीय स्थान है। यहा गुरु "एवंतहत्ति" शब्द कहते हैं, अर्थात् जैसा तुम कह रहे हो, वैसा ही है। पुनः शिष्य गुरु के चरणों को अपने ललाट से स्पर्श करते हुए "जत्ता भे" शब्द बोले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जत्ता भे - आपकी संयम-यात्रा सुखपूर्वक चल रही है। यह वन्दन का चतुर्थ स्थान है। यहाँ गुरु कहते हैं-"एवं", अर्थात् तुम्हारी भी संयम-यात्रा सम्यक् प्रकार से चल रही है।

"ज" शब्द का उच्चारण करते हुए गुरु के पैरों का स्पर्श करे "त्ता" शब्द का उच्चारण करते समय हाथ मध्य में (बीच में) रखे तथा "भे" शब्द का उच्चारण करते समय दोनों हाथ अपने ललाट पर लगाए। "जवणिज्जं च भे"- इन दो शब्दों का उच्चारण करते समय भी इसी प्रकार से करे - इस प्रकार तीन आवर्त्त होते हैं तथा पहले के तीन आवर्त्त मिलाकर कुल छः आवर्त्त होते हैं। वन्दनकसूत्र का दो बार उच्चारण करने पर द्वादशावर्त्त वन्दन होता है। पुनः शिष्य कहता है -"खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कम्मणं"- यह वन्दन का छठवां स्थान है। यहाँ गुरु "अहमवि खामेमि तुब्भे", अर्थात् तुम सब वन्दन करने वालों से मैं भी क्षमा-याचना करता हूँ। तुम सब मुझे भी क्षमा करो।

यह कहकर शिष्य उठता है और खड़े होकर आगे का शेष सूत्र बोलता है।

पडिक्कमामि - प्रायश्चित्त द्वारा अपनी आत्मा का शोधन करने के लिए मैं आपके अवग्रह में से बाहर निकलता हूँ।

आवसियाए - आसेवना द्वारा जो कुछ (कोई) भी अशुभ क्रिया की है, उसकी आलोचना करे। अवश्य करने योग्य क्रिया को आवश्यक-क्रिया कहते हैं।

आसायणाए - पूर्व में जो तेंतीस आशातनाएँ बताई गई हैं, उनमें से किसी का भी।

मणदुक्कडाए - मन में दुर्विचार किया हो या द्वेष किया हो।

वयदुक्कडाए - वचन से कठोर बोला हो।

कायदुक्कडाए - आसन, स्थिति (खड़े होना) आदि के निमित्त काया दुष्प्रवर्तन किया हो।

यहाँ निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि की व्याख्या पूर्ववत् जानें। इसी प्रकार द्वितीय वन्दन करे। वहाँ मात्र "आवसियाए" शब्द का, अर्थात् अवग्रह में से बाहर निकलने का कथन नहीं होता है। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार आवश्यक-अधिकार में वन्दन-आवश्यक की व्याख्या पूर्ण होती है।

अब प्रतिक्रमण-आवश्यक की व्याख्या करते हैं -

प्रतिक्रमण-आवश्यक में ईर्यापथिकी, अतिचार-आलोचना, क्षामणा एवं प्रतिक्रमणसूत्र कहे गए हैं। यहा सर्वप्रथम ईर्यापथिकीसूत्र की व्याख्या करते हैं -

"इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! इरियावहियं पडिक्कमामि ? इच्छं।

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए।

गमणागमणे। पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसाउत्तिंगपणगदगमट्टीमक्कडा संताणासंकमणे। जे मे जीवा विराहिया। एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया।

अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।।"

भावार्थ -

हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो तो ईर्यापथिकी-प्रतिक्रमण करने की मुझे आज्ञा दीजिए। मार्ग में चलते समय हुई विराधना का प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् उससे निवृत्त होना चाहता हूँ। मार्ग में जाते-आते प्राणियों को पैरों से दबाया हो, बीजों को दबाया हो, हरी वनस्पति को दबाया हो, ओस की बूंदों को, भूमि के छिद्रों में से निकलने वाले गदैयादि जीवों को, पांच रंग की काई (लीलन-फूलन) को, सचित्त पानी, मिट्टी, कीचड़ तथा मकड़ी के जाल आदि को कुचलकर जो कोई भी एकेन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले, अथवा पाँच इन्द्रिय वाले जीवों को पीड़ित किया हो, उन्हें चोट पहुँचाई हो, धूल आदि से ढका हो, आपस में, अथवा जमीन पर मसला हो, इकट्ठे किए हों, अथवा परस्पर शरीर द्वारा टकराए हों, छुआ हो, पूर्णरूप से पीड़ित या परितापित किया हो, थकाया हो, प्राणों से रहित किया हो - वे सभी दुष्कृत्य निष्फल हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्टार्थ -

इरियावहिअं - ईर्या का अर्थ गमन है, गमन-प्रधान जो मार्ग है, वह ईर्यापथ कहलाता है और ईर्यापथ में होने वाली क्रिया ऐर्यापथिकी कहलाती है।

गमणागमणे - किसी कार्य के लिए जाने तथा उस कार्य की समाप्ति होने पर लौटने को गमनागमन कहते हैं। यहाँ इस पद में समाहार द्वन्द्व समास है।

पाणक्कमणे - द्वीन्द्रिय जीवों को दबाया हो।

बीयक्कमणे - वनस्पति की उत्पत्ति हेतु बीज, समूर्च्छिन बीजाग्र (अंकुर), मूल, पर्व, स्कन्ध को दबाया हो।

हरियक्कमणे - कोपलों को दबाया हो।

यहाँ क्रमण का तात्पर्य दबाना तथा आक्रमण का तात्पर्य पीड़ा पहुचाना है।

ओसा - रात्रि के समय शीत के कारण जो हिम, अर्थात् जलकण गिरते हैं तथा जो सूर्य की प्रथम किरणों से अशोषित होते हैं (उसे ओस भी कहते हैं)।

दगमट्टी - जल से मिश्रित मिट्टी जिसमें पादप (पेड़, पौधे आदि) नहीं होते हैं।

एगिंदिया - जिनमें मात्र स्पर्शेन्द्रिय होती हैं, उन जीवों को एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु एवं वनस्पतिकाय के जीव।

बेइंदिय - जिन जीवों में स्पर्श एवं रसना- ये दो इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें बेइन्द्रिय (द्वीन्द्रिय) जीव कहते हैं। जैसे - कृमि, शंख, जलौक, कौड़ी, प्रवाल, शुक्ति आदि।

तेइंदिय - जिन जीवों में, स्पर्शन, रसन एवं घ्राण- ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें तेइन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे - चींटी, मकोड़ा, जूं, लीख, गदैया, खटमल, अत्कण, इन्द्रगोप आदि।

चउरिन्द्रिय - जिन जीवों में स्पर्श, रसन, घ्राण एवं चक्षु- ये चार इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं, जैसे - मकड़ी, टिड्डी, मच्छर, भँवरा, मक्खी आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचिदिया - जिन जीवों में स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत - ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें पंचिदिया जीव कहते हैं, जैसे - जलचर, स्थलचर रूप तिर्यंच, मुनष्य, देव एवं नारक। सम्पूर्ण गर्भज के असंज्ञि एवं संज्ञि- ये दो भेद होते हैं।

अभिहया - सम्मुख आते हुए जीवों को पैर से कुचला हो, ऊपर उठाकर फैंका हो।

वत्तिया - जीवों को इकट्ठे करके धूलि से ढंका हो, अर्थात् आच्छादित किया हो।

किलामिया - मरणतुल्य किए हों।

ठाणाओठाणं संकामिया - जीवों को स्वस्थान से हटाकर अन्य स्थान पर रखा हो।

निर्युक्ति में कहा गया है -

मैत्री मृदुता और मार्दव - ये गुण शिष्य के दोषों के आच्छादन में छत्र के समान हैं। मैत्री और मर्यादा में होने से आत्मा शीघ्र ही अपनी आलोचना करती हैं। कृतिकर्म से पापों का नाश होता है और उनके उपशमन से उनसे मुक्ति मिलती है - इस प्रकार मिच्छामिदुक्कडं शब्द का संक्षिप्त अर्थ बताया गया है।

"तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्त करणेणं विसोही करणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।"

भावार्थ -

ईर्यापथिकी-क्रिया से लगने वाले पाप के कारण आत्मा मलिन हुई थी। उसकी शुद्धि मैंने "मिच्छामि दुक्कडं" द्वारा की है, तो भी आत्मा के परिणाम पूर्ण शुद्ध न होने से वह अधिक निर्मल न हुई हो, तो उसको अधिक निर्मल बनाने के लिए उस पर बार-बार अच्छे संस्कार डालने चाहिए। इसके लिए प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। प्रायश्चित्त भी परिणाम की विशुद्धि के सिवाय नहीं हो सकता, इसलिए परिणाम-विशुद्धि आवश्यक है। परिणाम की विशुद्धता के लिए शल्यों का त्याग करना जरूरी है। शल्यों का त्याग और अन्य सब पापकर्मों का नाश कायोत्सर्ग से ही हो सकता है, इसलिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्टार्थ -

प्रायच्छित्त करणेणं - प्रायश्चित्त शब्द प्रायः एवं चित्त- इन दो शब्दों से मिलकर बना है। इसमें प्रायः का अर्थ अधिकतर और चित्त का अर्थ मन या जीव होता है, अर्थात् मन के मलिन भावों का शोधन करने वाली या पापों का छेदन करने वाली क्रिया को प्रायश्चित्त कहते हैं।

विसोही करणेणं - आत्मा को निर्मल करने के लिए।

इरियावहिसूत्र में निम्न आठ संपदा हैं -

१. इच्छ २. गम ३. पाण ४. ओसा ५. जे मे ६. एगिंदिया ७. अभिहया एवं ८. तस्सउत्तरी। इस सूत्र में आठ संपदा तीन आलापक एवं १६६ अक्षर हैं। कायोत्सर्ग की व्याख्या कायोत्सर्ग आवश्यक में की जाएगी (गई है)। अब अतिचार-आलोचनासूत्र की व्याख्या करते हैं -

"इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ अइयारो कओ, काइओ वाइओ माणसिओ, उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असमण पाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीवनिकायणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयण मायाणं नवण्हं बंभचेर गुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खण्डिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं।"

भावार्थ -

हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आज्ञा प्रदान करें। मैं दिवस संबंधी आलोचना करूं ? दिवस सम्बन्धी मुझसे जो अतिचार हुआ हो, उसकी आलोचना करता हूँ। ज्ञान, दर्शन, सर्वविरतिचारित्र, श्रुतधर्म तथा सामायिक के विषय में मैंने दिन में जो कायिक-वाचिक और मानसिक अतिचारों का सेवन किया हो, उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो। सिद्धान्त-विरूद्ध, मार्ग-विरूद्ध तथा कल्प-विरूद्ध, नहीं करने योग्य दुर्ध्यान किया हो, दुष्ट चिंतन किया हो, नहीं आचरण करने योग्य, अथवा श्रमण के लिए सर्वथा अनुचित- ऐसे व्यवहार से (इनमें से) जो कोई अतिचार सेवन किया हो, तत्संबंधी मेरा पाप मिथ्या हो एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन गुप्ति, चार कषाय की निवृत्ति, पाँच महाव्रत, छः जीवनिकाय की रक्षा, सात पिंडैषणा, सात पाणैषणा, अष्ट प्रवचनमाता, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति, दस प्रकार के क्षमा आदि श्रमणधर्म सम्बन्धी कर्त्तव्य यदि खण्डित हुए हों, अथवा विराधित हुए हों, तो मेरे वह सब पाप निष्फल हों।

विशिष्टार्थ -

देवसियं - दिवस सम्बन्धी जो कोई अपराध किए हों, अर्थात् जिससे संयम की विराधना हो - ऐसे कार्य किए हों।

आलोएमि - यहाँ आसमन्तात, अर्थात् पूर्णतः के अर्थ में और लोकृ धातु देखने के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका अर्थ है- गुरु के समक्ष मैं सर्व अपराधों को प्रकट करता हूँ।

देवसियं - यहाँ दिवस शब्द से रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

देवसिओ - दिवस के मध्य जो अतिचार लगे हों, अर्थात् आचार का अतिक्रम किया हो।

उमग्गो - मार्ग का अतिक्रमण किया हो, अर्थात् क्षायोपशम भाव में से औदयिक भाव में गया हो। (क्षायोपशमिक भावरूप मार्ग का अतिक्रमण करके औदयिक भाव में गया हो)

दुज्झाओ - एकाग्रचित्त से आर्त-रौद्रध्यान किया हो।

दुव्विचिंतिओ - चंचलचित्त द्वारा किसी प्रकार का कोई अशुभ चिन्तन किया हो।

अणिच्छिअव्वो - मन से भी जो इच्छनीय नहीं हैं- ऐसा कार्य किया हो।

नाणे-दंसणे-चरित्ता-चरित्ते-सुए-सामाइए - ज्ञाने, अर्थात् ज्ञानाचार की, दंसणे अर्थात् दर्शनाचार की, चरिताचरिते अर्थात् चारित्राचार की, श्रुए अर्थात् आगम की, सामाइए अर्थात् सर्वविरतिरूप सामायिक की, मैंने कोई विराधना की हो।

तिण्हंगुत्तीणं - मन-वचन-कायारूप त्रिगुप्तियों का पालन न किया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चउण्हंकसायाणं - क्रोध, मान, माया एवं लोभरूप चार कषायों का सेवन किया हो।

पंचमहव्वयाणं - प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन एवं परिग्रहरूप पाँच महाव्रतों का (पालन नहीं किया हो)।

छण्हंजीवनिकायणं - पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय एवं त्रसकायरूप छः जीवनिकाय का (वध किया हो)।

सत्तण्हं पिण्डैषणाणं - १. संस्पृष्ट २. असंस्पृष्ट ३. उद्भटा ४. अप्रलेपिता ५. अवगृहीता ६. प्रगृहीता ७. उज्झितधर्मा - ये सात पिण्डैषणाएँ हैं। पानैषणा का विवरण भी इसी तरह समझना चाहिए, किन्तु चतुर्थ पानैषणा कुछ भिन्न है। इसमें धान्य-पानक एवं अम्ल-पानक आदि का ग्रहण किया जाता है। इसकी विस्तृत व्याख्या आगम से जानें।

अट्ठण्हं पवयणमायाणं - पांच समिति एवं तीन गुप्ति - ये अष्ट प्रवचनमाताएँ हैं।

नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं - १. स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में न ठहरें। २. स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठें। ३. दीवार आदि के अन्तर से स्त्री के शब्द, गीत आदि न सुनें और न छिद्रादि से उन्हें देखें। ४. स्त्रियों सम्बन्धी कथावार्ता का त्याग करें ५. पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण न करें। ६. स्त्रियों के मनोहर अंगोपांग न देखें। ७. अपने शरीर की विभूषा न करें। ८. गरिष्ठ भोजन न करें और ९. अधिक आहार न करें।

दसविहे समणधम्मे - १. संयम २. सत्य ३. ब्रह्मचर्य ४. संतोष ५. शौच ६. तप ७. क्षमा ८. मार्दव ९. आर्जव और १०. मुक्ति (त्याग)।

श्रावकों के आलोचनासूत्र में "असमण पावग्गो" की जगह "असावगपाउग्गो" पाठ आता हैं, जिसका अर्थ श्रावक के लिए अयोग्य - ऐसा है। उसके बाद शेष पूर्ववत् है, किन्तु "चउण्हं कसायाणं" के बाद "पंचण्हं अणुव्वयाणं तिण्हंगुणव्वयाणं चउण्हं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिक्खावयाणं द्वादशी विहस्स सावग धम्मस्स जं खंडिय जं....." शेष पूर्ववत् यह पाठ आता है।

पंचण्हमणुव्वयाणं - स्थूलप्राणातिपात, स्थूलमृषावाद, स्थूलअदत्तादान, स्थूलमैथुन एवं स्थूलपरिग्रहरूप पाँच अणुव्रतों की।

तिण्हंगुणव्वयाणं - दिशापरिमाणव्रत, अनर्थदण्डत्याग-व्रत एवं भोगोपभोगमान रूप तीन अणुव्रत।

चउण्हं सिक्खावयाणं - सामायिकव्रत, देशावकाशिकव्रत, पौषध व्रत, अतिथि संविभागव्रतरूप - ये चार शिक्षाव्रत।

इस प्रकार बारह प्रकार के श्रावकधर्म का जो खण्डन किया हो ..... इत्यादि सब पूर्ववत् ही हैं। यह आलोचना का पाठ है।

अब यति (साधु) के रात्रि-आलोचनासूत्र की व्याख्या करते हैं-

"ठाणे कमणे चंकमणे आउत्ते अणाउत्ते हरियकाय संघट्टे बीयकाय संघट्टे थावरकाय संघट्टे छप्पईयासंघट्टणाए ठाणाओ ठाणं संकामिआ सव्वस्सवि देवसिय दुच्चिंतिय दुब्भासिय दुचिट्ठिय इच्छाकारेण संदिसह भगवन् इच्छं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

भावार्थ -

हे भगवन् ! आपकी इच्छापूर्वक आप मुझे दिवस सम्बन्धी दोषों की आलोचना करने की आज्ञा प्रदान करें। मैं आपकी यह आज्ञा स्वीकार करता हूँ। स्थान पर, चलते समय, कहीं दूर जाते समय, यत्नापूर्वक या अयत्नापूर्वक, हरितकाय, बीजकाय, स्थावरकाय एवं षट्पदी आदि का संस्पर्श हुआ हो, जीवों को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर रखा हो, मन से दुष्चिंतन किया हो, वचन से दुष्टभाषण किया हो, एवं काया से दुष्चेष्टा की हो, तो मेरा वह सब पाप मिथ्या हो।

अब यति (साधु) के दैवसिक आलोचना-सूत्र की व्याख्या करते हैं -

"संथारा उवत्तणाए परियत्तणाए आउंटणपसारणाए छप्पईया-संघट्टणाए सव्वस्सवि राईय दुच्चिंतिय दु....." शेष पूर्ववत्।

भावार्थ -

हे भगवन् ! मैं चाहता हूँ, आप इच्छापूर्वक मुझे रात्रि सम्बन्धी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोषों की आलोचना की आज्ञा प्रदान करे। रात्रि में शय्या के साथ शरीर का घर्षण करने, करवट बदलने, हाथ-पैर आदि संकुचित या प्रसारित करने में जो दोष लगा हो, जूँ आदि षट्पदी का स्पर्श किया हो, दुष्ट चिंतन किया हो ..... इत्यादि सब पूर्ववत् बोलें।

श्रावक की दिवस एवं रात्रि सम्बन्धी आलोचना का पाठ निम्न है -

"सव्वस्स वि देवसिय राईय दुच्चिंतिय दुब्भासिय, दुचिट्ठिय इच्छाकारेण संदिसह, इच्छं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं" - इसकी व्याख्या पूर्ववत् ही है।

श्रावकों की आलोचना तथा यतियों के आचार-गोचरचर्या की आलोचना के बृहत्दण्डक सूत्र द्वारा की जाती है।

यहाँ साधु के लघुदण्डक की व्याख्या की जा रही है -

"कालो गोयरचरिआ थंडिल्लावत्थपत्तपडिलेहा। सभरउ सहई साहूजस्सव जंकिंचि अणाउत्तं।।1।।"

भावार्थ -

यहाँ साधु स्वाध्यायकाल, गोचरचर्या एवं प्रतिलेखना सम्बन्धी क्रियाओं में अयतना से जो कोई दोष लगा हो, उसका स्मरण करे।

विशिष्टार्थ -

कालो - व्याघातिक (संध्या), अर्धरात्रिक, वैरात्रिक, प्राभातिकरूप स्वाध्यायकाल का।

अणाउत्तं - स्वाध्यायकाल, गोचरचर्या एवं प्रतिलेखनादि क्रियाएँ व्यग्र मन से, प्रमाद से की हों, विस्मृतिपूर्वक की हों या अविधिपूर्वक की हों।

प्रतिक्रमण के मध्य साधुओं के अतिचारों की आलोचना करने का सूत्र निम्न हैं -

"सयणासणन्नपाणे चेइय जे सिज्ज काय उच्चारे। समिईभावणागुत्ती वितहाकरणे अ अइयारा।।"

भावार्थ -

शयन, आसन, अन्न-पान, चैत्यवंदन, शय्यारचन, कायप्रतिलेखना एवं मलमूत्र के त्याग आदि में समिति, गुप्ति और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना का सम्यक् प्रकार से पालन न करने पर अतिचार लगता है।

विशिष्टार्थ -

शयन - संस्तारक में जीव-जन्तुओं का प्रतिलेखन न करने और सुखपूर्वक लम्बे समय तक शयन करना, अथवा सुखद शय्या पर शयन करना आदि वितथकरण, अर्थात् अन्यथा प्रकार से कार्य करने सम्बन्धी अतिचार हैं।

आसने - आसन की प्रतिलेखना न करना तथा यति-आचार के विरूद्ध गुरु के सम या उच्च आसन पर बैठना- ये आसन के वितथकरण सम्बन्धी अतिचार हैं।

अन्न-पाणे - सैंतालीस दोष से युक्त आहार-पानी का सेवन करना- यह अन्न-पान वितथकरण सम्बन्धी दोष हैं।

चेइय - अयत्नापूर्वक और अयुक्तपूर्वक चैत्यवंदन करना, चैत्य-वितथकरण सम्बन्धी दोष है।

सिज्ज - अविधिपूर्वक शय्या बिछाना- यह शय्यारचनवितथकरण सम्बन्धी दोष है।

काय - शरीर, पात्र एवं उपधि की सम्यक् प्रतिलेखना न करना, काय-वितथकरण सम्बन्धी अतिचार हैं।

उच्चारे - स्थण्डिल भूमि की सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखना न करके मल-मूत्र का त्याग करना उच्चार-वितथकरण सम्बन्धी अतिचार है।

समिईभावनागुत्ती - १. ईर्या २. भाषा ३. एषणा ४. आदान एवं ५. निक्षेपोत्सर्ग - पाँच समितिओं का, पंचमहाव्रतों में प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावना - इस प्रकार कुल पच्चीस भावनाओं तथा मन-वचन-कायारूप तीन गुप्तियों का - इन सबका सम्यक् प्रकार से परिपालन न करने पर समिति, गुप्ति एवं भावना-वितथकरण सम्बन्धी अतिचार लगते हैं।

अइआरा - करने योग्य कार्य को नहीं करना, अथवा नहीं करने योग्य कार्य को करना अतिचार कहलाता है। वे अतिचार सदैव ही आलोचना योग्य हैं।

श्रावकों के एक सौ चौबीस अतिचार इस प्रकार -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संलेखना के पाँच, कर्मादान के पन्द्रह ज्ञान, दर्शन और चारित्र में प्रत्येक के आठ-आठ, तप के बारह, वीर्य के तीन, सम्यक्त्व के पाँच एवं बारह व्रतों में प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच (कुल साठ) - इस प्रकार एक सौ चौबीस अतिचार होते हैं।

पुनः गाथा में भी इन्हीं १२४ अतिचारों का उल्लेख किया गया है।

साधक प्रतिक्रमणसूत्र में सम्यक्त्व, संलेखना, बारह व्रत, कर्मदान, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, एवं वीर्य के अतिचारों की आलोचना करे। कायोत्सर्ग में अतिचार सम्बन्धी गाथाओं द्वारा अतिचारों की आलोचना करे। अतिचार की गाथाएँ निम्नांकित हैं -

"नाणंमि दसणंमि अ चरणंमि तवम्मि तहय विरयम्मि।
आयरणं आयारो इह एसो पंचहा भणिओ।"

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य - इनका विधिपूर्वक आचरण आचार कहलाता है और यह पाँच प्रकार का होता है। ज्ञानाचार के आठ भेद इस प्रकार हैं -

१. काल-आचार - वर्जित काल का त्याग करते हुए शेष कालों में अध्ययन करना, अथवा कालग्रहण आदि विधि-अनुसार अध्ययन करना।

२. विनय-आचार - गुरुजनों का उचित विनय करना।

३. बहुमान-आचार - गुरुजनों का आदर करना।

४. उपधान-आचार - अध्ययन हेतु आगमोचित तप करना।

५. अनिह्नवण - किसी भी दोष को नहीं छिपाना, अथवा संशयरहित होना।

६. व्यंजन-आचार - सूत्र का पाठ करना या उसका तात्पर्य स्पष्ट करना।

७. अर्थाचार - टीका, वृत्ति, वार्तिक, भाष्य आदि का तात्पर्य स्पष्ट करना।

८. सूत्रार्थआचार - सूत्र एवं अर्थ - दोनों की परस्पर संवादिता का निर्णय करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- इस प्रकार ज्ञानाचार आठ प्रकार का होता है। काल, विनय, बहुमान, उपधान, निह्नवण, व्यंजन, अर्थ एवं तदुभय - इन आठों आचारों के विपरीत आचरण करने पर तथा उन पर श्रद्धा नहीं रखने पर अतिचार लगते हैं।

जैसा कि कहा गया है -

आगम में निषेध किए गए पापकार्यों को करने पर और करने योग्य सत्कार्यों को नहीं करने पर जो दोष लगे हों, उनको दूर करने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। इसी प्रकार जैन-तत्त्वज्ञान में अश्रद्धा उत्पन्न होने पर एवं जैनागम से विरूद्ध प्ररूपणा करने पर जो दोष लगे हों, उनको दूर करने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है।

दर्शनाचार के आठ भेद इस प्रकार हैं -

१. निशंकित - जिन-वचन में शंका नहीं करना।

२. निःकांक्षित - कांक्षा न करना, अर्थात् जिनमत के सिवाय अन्य मत की इच्छा न करना।

शंका और कांक्षा - इन दोनों का अर्थ-विस्तार प्रतिक्रमणसूत्र से जानें।

३. निर्विचिकित्सा - जिनोक्त तत्त्वों में निःसंशयत्व।

४. अमूढ़दृष्टि - तत्त्व और अतत्त्व को जानने वाली विवेक-बुद्धि का होना।

५. उपबृंहण - अर्हत् मत का स्वशक्ति के अनुसार स्थापन एवं पोषण करना।

६. स्थिरीकरण - जिनमत से विचलन के हजारों कारणों के उपस्थित होने पर भी स्वयं को एवं दूसरों को जिनमत में स्थिर करना।

७. वात्सल्य - अर्हत् मताश्रित साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं के प्रति स्नेह रखना।

८. प्रभावना - जिनशासन का उत्थान हो - इस प्रकार का कार्य करना।

यतियों की आठ धर्म-प्रभावना इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. प्रवचन देना २. धर्मकथा करना ३. वाद करना ४. निमित्तशास्त्र का ज्ञान होना ५. तपस्या करना ६. विविध विद्याओं में निष्णात होना ७. सिद्धियों का धारक होना ८. कवि होना - श्रावकों को भी सातों क्षेत्रों में विपुल द्रव्य का व्यय करके, अर्हत् मत के प्रत्यनीक, अर्थात् विरोधी मतों का अपलाप कर एवं स्वमताश्रितों का पोषण कर जिनशासन की प्रभावना करनी चाहिए।

चारित्राचार के आठ अतिचार इस प्रकार हैं -

"पणिहाणजोगजुत्तो पंचहि समिईहिं तिहिं गुत्तीहिं। एस चरित्तायारो अट्ठविहो होई नायव्वो।"

- अर्थात् सावधानीपूर्वक मन, वचन और काया के योग से पाँच समिति एवं त्रिगुप्ति के पालनरूप चारित्राचार आठ प्रकार का होता है।

पाँच समिति, तीन गुप्ति - इस प्रकार इन आठों का अत्यन्त सावधानी एवं मन-वचन-काया से पालन करना, चारित्राचार कहलाता है। चारित्र का पालन योग द्वारा होना चाहिए तथा चारित्र को पालने में कभी भी असमाधि नहीं होनी चाहिए।

अब तपाचार के बारह भेद बताते है -

"बारह विहम्मिवि तवे सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठी। अगिलाइ अणाजीवी नायव्वो सोतवायारो।"

- अर्थात् सम्यक् बुद्धिवाले (तीर्थंकर आदि ने तप के छः आभ्यंतर और छः बाह्य - इस प्रकार बारह भेद कहे हैं।) इनमें से किसी भी तप के करने से कातरता आए, वैसा तप नहीं करना चाहिए, अथवा तप द्वारा आजीविका नहीं चलाना चाहिए - यह तपाचार है।

आभ्यन्तर-तप के छः भेद हैं -

१. प्रायश्चित्त - दसविध प्रायश्चित्तों का हमेशा स्मरण एवं पालन करना।
२. विनय - गुरु के प्रति विनम्र व्यवहार करना।
३. वैयावृत्य - देव, गुरु, ज्ञानोपकरण एवं मुनिजनों आदि की सेवा करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. स्वाध्याय - वाचना, पृच्छना, आम्नाय एवं आगम - इन चारों द्वारा अध्ययन करना।

५. ध्यान - धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान करना।

इन सबकी विस्तृत व्याख्या आगमों से जानें। विस्तार के भय से यहाँ इनकी व्याख्या नहीं की गई है।

६. उत्सर्ग - काया का उत्सर्ग करना। इसकी विस्तृत व्याख्या आगे की गई है। - ये छः आभ्यन्तर-तप हैं। बाह्यतप के छः भेद इस प्रकार हैं -

१. अनशन - चतुर्विध आहार का त्याग। इसमें उपवास आदि तप किए जाते हैं।

२. ऊनोदरी - अपनी भूख से कुछ कम आहार करना। इसमें एक से लेकर आठ कवल तक के परिमाण को अन्तर्भूत किया गया है, अर्थात् इतने कवल कम खाना।

३. वृत्तिसंक्षेप - दिन में बार-बार भोजन करने का त्याग। इस तप में एकासन आदि को अन्तर्भूत किया गया है।

४. रसत्याग - विकृति आदि का त्याग करना। इस तप में निर्विकृति, आयम्बिल आदि आते हैं।

५. कायक्लेश - लोच करना, नग्न रहना, आतापना लेना आदि परीषहों को सहन करना।

६. संलीनता - हस्तपाद आदि अवयवों का संगोपन करना तथा गमनागमन की प्रवृत्ति में संकोच करना। - ये छः बाह्यतप हैं।

वीर्याचार के तीन अतिचार इस प्रकार हैं -

"अणिगूहियबलविरिओ पडिक्कमे जो अ जस्स आयारो।।
जुंजइ य जहाठाणं नायव्वो वीरियायारो।"

मनोबल एवं कायबल का गोपन किए बिना उद्यमवंत होकर जो शास्त्रानुसार धर्म-क्रिया में यथाशक्ति प्रवृत्ति करे, उसके उस आचार को वीर्याचार कहते हैं।

स्वयं की तप एवं वैयावृत्य करने की शक्ति का गोपन किए बिना जो जिसका अतिचार है, यथास्थान उसका प्रतिक्रमण करना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनका पुनरावर्तन नहीं करना तथा जो-जो पाप जिस-जिस प्रकार से किए गए हैं, उनका तप, मूल, पारांचिक आदि प्रायश्चित्तों द्वारा शुद्धि करना - यह वीर्याचार कहा गया है।

इन पाँचों अतिचारों के विपरीत आचरण करने, मन, वचन एवं काया से इनमें दोष लगने पर, बताए गए पाँचों आचार का आचरण न करने पर अतिचार लगते हैं, वे सभी आलोचना करने तथा छोड़ने के योग्य हैं। यहाँ आलोचना की विधि सम्पूर्ण होती है। अब क्षमापन की विधि बताते हैं -

"इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! अब्भुट्ठिओऽहं अब्भिंतरदेवसिअं खामेउं। (अब्भिंतरराइयं खामेउं) इच्छं, खामेमि देवसिअं (खामेमि राइयं)।

जं किंचि अपत्तिअं, परपत्तिअं भत्ते, पाणे, विणए, वेयावच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अंतरभासाए, उवरिभासाए।

जं किंचि मज्झ विणयपरिहिणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।"

भावार्थ -

हे गुरु भगवन् ! आप अपनी स्वेच्छा से आज्ञा प्रदान करें। मैं दिन (रात्रि) में किए हुए अपराधों (अतिचारों) की क्षमा मांगने के लिए आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।

इच्छापूर्वक में दिवस सम्बन्धी अतिचारों की क्षमा मांगता हूँ। आहार-पानी में, विनय में, वैयावृत्य में, बोलने में, बातचीत करने में, आपसे ऊँचे या समान आसन पर बैठने में, बीच-बीच में बोलने में, आपके संभाषण के बाद बोलने में जो कोई अप्रीतिकारक, अथवा विशेष अप्रीतिकारक व्यवहार करने में आया हो तथा जो कोई अतिचार लगा हो, अथवा मुझसे जो कोई आपकी अल्प या अधिक अविनय-आशातना हुई हो, चाहे वह मुझे ज्ञात हो या अज्ञात हो, आप जानते हों, मैं नहीं जानता हूँ, आप और मैं - दोनों जानते हों, अथवा मैं और आप - दोनों न जानते हों। मेरे वे सब दुष्कृत मिथ्या हों, अर्थात् उनके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्टार्थ -

परपत्तियं - दूसरों के प्रति अविनय किया हो या उपदेश द्वारा दूसरों से अविनय करवाया हो।

अन्तरभासाए - गुरु कथा कर रहे हों, उस समय कथा में विघ्न पड़े- इस प्रकार बोलने से।

उवरिभासाए - गुरु के कथा करने के पश्चात् उनके कथित विषय का खण्डन करके स्वमत का स्थापन करना।

तेंतीस आशातनाओं में अशन-पान सम्बन्धी आशातनाएँ भी कही गई हैं। यहां गुरु ज्येष्ठ आदि के वचन निम्नांकित हैं -

"खामेह अहमवि खामेमि तुब्भे जं किंचि अपत्तिय परपत्तिय अविणया सारिया वारिया चोइया, पडिचोइया तस्स मिच्छामि दुक्कडं।।"

भावार्थ -

क्षमापना करो। मैं भी तुमसे क्षमापना करता हूँ। जो कुछ भी अप्रीतिकारक या विशेष अप्रीतिकारक व्यवहार द्वारा जो कोई अतिचार लगा हो, अथवा अविनय, सारण, वारण, प्रेरण एवं प्रतिप्रेरण के कारण कोई अतिचार लगा हो, तो उसका पाप मेरे लिए मिथ्या हो।

विशिष्टार्थ -

सारिया - मूल एवं उत्तर गुणों का लंघन करने से लगे अतिचारों का तुम्हें स्मरण कराने।

वारिया - अकरणीय कार्य को करने का निषेध करने।

चोइया - प्रेरणा करने (अर्थात् संयम में दृढ़ रहने हेतु प्रेरणा देने)।

पडिचोयणा - बारंबार प्रेरणा करने। प्रत्येक कार्य करते समय शिक्षा देने।

संघ आदि से क्षमापना निम्न सूत्र से करें -

"आयरिय उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुलगणे य।
जे मे कया कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि।।१।।
सव्वस्स समण संघस्य भगवओ अंजलि करियसीसे।
सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि।।२।।
सव्वस्स जीवराशिस्स, भावओधम्मनिहिअनिअचित्तो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयंपि।।३।।
खामेमि सव्वजीवे सव्वेजीवा खंमतु मे।
मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणई।।३-४।।

भावार्थ -

आचार्य-उपाध्याय-शिष्य-साधर्मिक-कुल एवं गण - इनके ऊपर मैंने जो कुछ कषाय किए हों, उन सबके हेतु मन-वचन और काया से क्षमायाचना करता हूँ। हाथ जोड़कर और मस्तक चरणों पर रखकर सब पूज्य मुनिराजों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ और मैं भी उनको क्षमा करता हूँ। धर्म में चित्त को स्थिर करके सम्पूर्ण षड्जीव निकाय के जीवों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ और स्वयं भी उनके अपराध को हृदय से क्षमा करता हूँ। यदि किसी ने मेरा कोई अपराध किया हो, तो मैं उसको क्षमा करता हूँ, वैसे ही यदि मैंने भी किसी का कोई अपराध किया हो, तो वे भी मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ मित्रता है, किसी के भी साथ मेरी शत्रुता नहीं है।

पाक्षिक-प्रतिक्रमण आदि के समय निम्न सूत्र से क्षमापना करे-

"पीअं च मे जं भे हट्ठाणं तुट्ठाणं अप्पाणं कायं अभग्ग जोगाणं सुसीलाणं सुव्वयाणं सायरियोवज्झायाणं नाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं तवसा अप्पाणं भावयमाणाणं बहुसुभेण दिवसो पोसहो, पक्खो वइक्कंतो अन्नो भे कल्लाणेणं पज्जुवइट्ठिओ तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थेण वंदामि।।"

भावार्थ -

निरोग चित्त की प्रसन्नतापूर्वक, संयम आदि द्वारा काय एवं आत्मा को भावित करने वाले मन-वचन एवं काया के पूर्ण योगवाले, अर्थात् पूर्णतः संयम का पालन करने वाले, शीलांगों सहित सुंदर पंच महाव्रतों के धारक आचार्य एवं उपाध्यायों सहित ज्ञान-दर्शन, चारित्र एवं तप द्वारा आत्मा को भावित करने वाले आपको वन्दन करता हूँ। हे भगवन् ! आपका दिवस और पक्ष बहुत ही सुखपूर्वक व्यतीत हुआ और आने वाला दूसरा पक्ष भी कल्याणकारी हो - ऐसी मेरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोभावना है। मैं आपको मनोयोगपूर्वक मस्तक झुकाकर तीन बार वंदन करता हूँ।

यहाँ सिरसा मत्थेण वंदामि में सिर और मस्तक - इन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है- यह पुनरूक्त दोष का हेतु है, किन्तु "आर्षत्वात्" इस वचन से सिरसा पद को वचन के लिए प्रयुक्त मानकर मन-वचन एवं काया - इन त्रिकरणों से वन्दन करने के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ गुरु का कथन इस प्रकार है -"आप सभी साधुजनों के साथ मेरा भी यह पक्ष बहुत ही कल्याणपूर्वक व्यतीत हुआ।"

अब चैत्यवंदन एवं साधुवंदन करने हेतु द्वितीय क्षमापना पाठ इस प्रकार है -

"पुव्विं चेइयाइं वंदित्ता नमंसित्ता तुज्झहूणं पायमूले विहरमाणेणं जे केइ बहुदेसिया साहूणो दिट्ठा समणा वा असमणा वा गामाणुगामं दुज्जमाणा वा राइणियाओ संपुच्छंति उमराइणियाओ वंदंति अज्जयाओ वंदंति अज्जियाओ वंदंति सावयाओ वंदंति साविआओ वंदंति अहंपि निस्सल्लो निक्कसाओ तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थेण वंदामि।"

भावार्थ -

हे पूज्य ! आपके सान्निध्य में (पादमूल में) विहार करते हुए पूर्व में अनेकों चैत्य आदि की वंदना की। अनेक देशों के साधुओं, श्रमणों और तापसों को देखा एवं ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए रातनिकों द्वारा सम्यक् प्रकार से पूछते हुए एवं अवरातनिकों द्वारा वंदन करते हुए देखा है। वर्तमान में भी मुनिजन और साध्वियाँ, श्रावक और श्राविकाएँ आपको वंदन करते हैं। मैं भी आपको निशल्य और निष्कषाय होकर मन-वचन और काया से मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

समाणावा असमाणावा - व्याख्या में श्रमण का अर्थ भूचारी मुनियों से तथा असमाणा शब्द का अर्थ आकाशचारी मुनियों से लिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस चैत्यवन्दनपूर्वक क्षमापना में गुरु का कथन इस प्रकार है। गुरु कहते हैं - "मैं भी उन चैत्यों को वन्दन करता हूँ।"

तृतीय क्षमापना-पाठ इस प्रकार है -

"उवट्ठिओमि तुज्झहूणं संतिअं अहा कप्पं वा वच्छं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुच्छणं वा रयहरणं वा अक्खरं वा पयं वा गाहं वा सिलोगं वा अद्धसिलोगंवा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा। तुब्भेहिं चियत्तेण दिन्नं मए अविणएण पडिच्छियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

भावार्थ -

हे भगवन् ! मैं आपके पास उपस्थित हुआ हूँ। आपके द्वारा दिए गए स्थविरकल्प के योग्य वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण आदि सामग्री को तथा अक्षर, पद, गाथा, श्लोक, अर्द्धश्लोक आदि एवं प्रश्नों के व्याकरणरूप ज्ञानादि को आपने मुझे प्रीतिपूर्वक प्रदान किया है, फिर भी मैंने इन सबको अविनयपूर्वक ग्रहण किया हो, तो मेरा वह सब पाप मिथ्या हो। यहाँ गुरु कहते हैं - "यह गच्छ परम्परा से प्राप्त हैं, मेरा कुछ भी नही है।"

चतुर्थ क्षमापना-पाठ इस प्रकार है -

"कयाइंवि मे ये किइ कम्माइं आयारमंतरेण विणयमंतरेण सेहिओ सेहाविओ संगहिओ वग्गहिओ सारिओ, वारिओ चोइओ, पडिचोइओ चियत्तामे पडिचोयणा उवट्ठिओहं तुज्झहूणं तवेतेयसिरि इमाओ चाउरंत संसार कंताराओ साहट्टु नित्थरिस्सामित्तिकट्टु सिरसा, मणसा मत्थेण वंदामि।।"

भावार्थ -

पूर्व में मेरे द्वारा किए गए वन्दनों में से कोई वन्दन आचार की मर्यादा के बिना किया गया हो, अविनयपूर्वक किया गया हो, उसके लिए मैं क्षमापना करता हूँ। आपके द्वारा सिखाया गया है या अन्य साधुओं द्वारा सिखाया गया, आपने अपने पास में रहने की आज्ञा दी, करने योग्य कार्य का स्मरण कराया, न करने योग्य कार्य का निषेध किया, संयम में स्थिर रहने हेतु प्रेरणा दी, बारंबार प्रेरणा दी, प्रीतिपूर्वक बारंबार प्रेरणा दी। इस समय उन-उन भूलों को सुधारने के लिए हे गुरु भगवंत ! मैं आपके सान्निध्य में उपस्थित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ हूँ। आपके श्रामण्य, तप और तेजरूपी लक्ष्मी द्वारा चारगतिरूप संसार-अटवी में भ्रमण करती हुई मेरी आत्मा का संहरण करके मैं इस संसाररूपी अटवी को पार करूंगा। इस हेतु मैं आपको मन-वचन एवं काया से मस्तक झुकाकर तीन बार वन्दन करता हूँ। यहाँ गुरु कहते हैं -"तुम संसार-सागर को पार करने वाले होओ।" ये चार क्षमापना बताई गई हैं।

अब प्रतिक्रमण-आवश्यक की व्याख्या करते हैं -

यह व्याख्या प्रतिक्रमण के विधि-सूत्रपूर्वक कही जाएगी। सर्वप्रथम नमस्कारमंत्र पढ़े। तत्पश्चात् "चत्तारि मंगलं से लेकर केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि" तक का मंगल पाठ बोले। सभी इस पाठ को बोलते हैं। इसका अर्थ प्रसिद्ध है, इसलिए इसकी व्याख्या यहाँ नहीं की गई है। तत्पश्चात् "इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ" से लेकर "जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं" तक आलोचना-पाठ बोलें। - इस सूत्र की व्याख्या पूर्ववत् ही है। इसके बाद "इच्छामि पडिक्कमिउं इरिया" से लेकर "तस्स मिच्छामि दुक्कडं" तक इरियावहियंसूत्र बोलें - इस सूत्र की व्याख्या भी पूर्व में की गई है। अब सर्वप्रथम शयन-अतिचार-प्रतिक्रमण की विधि बताते हैं। उसका सूत्र इस प्रकार है -

"इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए, उव्वट्टणाए, परिवट्टणाए, आउंटणाए, पसारणाए, छप्पइयसंघट्टणाए, कूइए, कक्कराइए, छीए, जंभाइए, आमोसे, ससरक्खामोसे, आउलमाउलाए, सोअणवत्तियाए, इत्थीविप्परियासियाए, दिट्ठिविप्परियासियाए, मणविप्परियासियाए, पाणभोयणविप्परियासियाए-

जो मे देवसिओ अइयारो कओ,
तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

भावार्थ -

शयन-सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। शयनकाल में यदि बहुत देर तक सोता रहा हूँ तथा बार-बार बहुत देर तक सोता रहा हूँ, अयतना के साथ एक बार करवट ली हो तथा बार-बार बहुत-बहुत करवट ली हो, हाथ-पैर आदि अंग अयतना से समेटे हों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा पसारे हों, यूका - जूँ आदि क्षूद्र जीवों को कठोर स्पर्श द्वारा पीड़ा पहुँचाई हो, बिना यतना के, अथवा जोर से खाँसी ली हो, अथवा शब्द किया हो, यह शय्या बड़ी विषम तथा कठोर है - इत्यादि शय्या के दोष कहे हों, बिना यतना किए छींक एवं जंभाई ली हो, बिना प्रमार्जन किए शरीर को खुजलाया हो, अथवा अन्य किसी वस्तु को छुआ हो, सचित्त रज वाली वस्तु का स्पर्श किया हो - (ऊपर शयनकालीन जागते समय के अतिचार बतलाए हैं, अब सोते समय के अतिचार कहे जाते हैं) स्वप्न में विवाह तथा युद्धादि के अवलोकन से आकुलता-व्याकुलता रही हो - स्वप्न में मन भ्रान्त हुआ हो, स्वप्न में स्त्री-संग किया हो, स्वप्न में स्त्री आदि को अनुरागभरी दृष्टि से देखा हो, स्वप्न में मन में विकार आया हो, स्वप्नदशा में रात्रि में भोजन-पान की इच्छा की हो या भोजन-पान किया हो - अर्थात् मैंने दिन में जो भी शयन सम्बन्धी अतिचार किया हो, वह सब पाप मेरा मिथ्या-निष्फल हो।

विशिष्टार्थ -

पगामसिज्जाए - प्रकाम का अर्थ है- अति और शयन का अर्थ है- सोना, अर्थात् अत्यधिक सोना। चार प्रहर तक गाढ़ निद्रा में सोने को प्रकामशय्या कहते है; अथवा यति के लिए अनुचित हो- ऐसी शय्या पर शयन आदि करना प्रकामशय्या कहलाती है, अथवा यति के लिए संस्तारक हेतु ग्राह्य उपधि की निर्धारित संख्या का अतिक्रमण करना - इसे भी प्रकामशय्या कहा गया है।

निग्गामसिज्झाए - अप्रतिलेखित कंबल आदि अन्य वस्तुओं का स्पर्श करना, गुरु की शय्या का अतिक्रमण करना - इस प्रकार की दूषित शय्या निकामशय्या कहलाती है।

संथाराउवट्टणाए - ऐसी शय्या, जो यति के शयन हेतु उचित हो, उसे संस्तारक कहते हैं। एक करवट लेना उद्वर्तन है।

परिवट्टणाए - एक करवट से दूसरी करवट बदलना, प्रतिलेखना किए बिना करवट बदलने में अतिचार लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आउंटणपसारणाए - हाथ-पैर आदि संकोचना तथा इसी प्रकार हाथ-पैर को फैलाना। प्रतिलेखन किए बिना हाथ-पैर का संकोचन एवं प्रसारण करने में अतिचार लगता है।

छप्पइयासंघट्टणाए - षट्पदी, अर्थात् जूँ आदि का अविधिपूर्वक स्पर्श करना।

कूइए - खांसी खांसते समय मुखवस्त्रिका को मुख पर आच्छादित नहीं करें, तो अतिचार लगता है।

कक्कराइए - यह शय्या विषम है, अर्थात् उबड़-खाबड़ है, शय्या हेतु यह स्थान निष्कृष्ट है, यहाँ तो ठण्डी, गर्मी, मच्छर, खटमल आदि की बहुत परेशानी है - इत्यादि शय्या के सम्बन्ध में इस प्रकार उद्वेग-पूर्वक बोलना।

छीइए-जंभाइए - छींक, जम्भाई की व्याख्या तो प्रसिद्ध है, इसलिए यहाँ नहीं बताई गई है। इन दोनों में भी मुखवस्त्रिका का उपयोग न करने पर अतिचार लगता है।

ससरक्खामोसे - पृथ्वीकाय आदि सचित्त रज से युक्त संस्तारक को छूने या उस पर सोने से अतिचार लगता है।

अब निद्रा सम्बन्धी अतिचार बताए जा रहे हैं -

सोअणवत्तियाए - स्वप्न में महारम्भ के हेतुभूत स्त्री के संयोग, विवाह तथा युद्धादि का अवलोकन करना।

इत्थीविप्परिआसिआए - स्त्री का अर्थ है- स्त्री (नारी), विपर्यय का अर्थ है- विपरीत भाव। स्वप्न में स्त्री के प्रति विपरीत भाव, अर्थात् अनुराग करना, उनके साथ समागम, संभोग एवं प्रेमालाप करना।

दिट्ठीविप्परिआसिआए - दुष्कर्मों की जो हेतुभूत है, उस प्रकार की दृष्टि रखना।

मनविप्परिआसिआए - स्वप्न में मन में नानाविध दुष्कर्मों के भाव आना।

पाणभोअण विप्परिआसिआए - स्वप्न में भोजन-पानी की इच्छा की हो या भोजन-पान किया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब शयन सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण करके भिक्षा सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण करें, वह इस प्रकार है -

"पडिक्कमामि गोयरचरियाए, भिक्खायरियाए उग्घाडकवाडउग्घाडणाए, साणावच्छादारासंघट्टणाए, मंडीपाहुडियाए, बलिपाहुडियाए, ठवणापाहुडियाए, संकिए, सहसागारे, अणेसणाए, पाणेसणाए, पाणभोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए, पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए, अदिट्ठहडाए, दगसंसट्ठहडाए, रयसंसट्ठहडाए, पारिसाडणियाए, पारिट्ठावणियाए, ओहासणभिक्खाए, जं उग्गमेणं, उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं, परिग्गहियं, परिभुत्तं वा जं न परिट्ठवियं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

भावार्थ -

गोचरचर्यारूप भिक्षाचर्या में, यदि ज्ञात अथवा अज्ञात - किसी भी रूप में जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। अधखुले किवाड़ों को खोलना, कुत्ते, बछड़े और बच्चों का स्पर्श करना, अग्रपिण्ड, बलिकर्म एवं स्थापना-दोष से दूषित भिक्षा लेना, इसी प्रकार आधाकर्मादि दोषों की शंका वाला भोजन लेना, शीघ्रता में आहार लेना, बिना एषणा के लेना, जिसमें कोई जीव पड़ा हो- ऐसा भोजन लेना, बीजों वाला भोजन लेना, सचित्त वनस्पति वाला भोजन लेना, साधु को आहार देने के बाद तदर्थ सचित्त जल से हाथ या पात्रों को धोने के कारण लगने वाला पश्चात्कर्म दोष, साधु को आहार देने से पूर्व सचित्त जल से हाथ या पात्र के धोने से लगने वाला पुरःकर्म दोष, बिना देखे भोजन लेना, सचित्त जल से स्पृष्ट वस्तु लेना, सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु लेना, पारिशाटनिका, अर्थात् देते समय मार्ग में गिरता-बिखरता हुआ दिया जाने वाला भोजन लेना पारिष्ठापनिका दोष से आहार लेना, उत्तम वस्तु माँगकर भिक्षा लेना, उद्गम-उत्पादन एवं एषणा के दोषों से युक्त आहार लेना।

उपर्युक्त दोषों वाला अशुद्ध - साधु-मर्यादा की दृष्टि से अयुक्त आहार-पानी ग्रहण किया हो, प्राणों को टिकाने के लिए ग्रहण किया हुआ आहारभोग लिया हो, दूषित जानकर भी परठा न हो, तो तज्जन्य मेरा समस्त पाप मिथ्या हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्टार्थ -

गोयरचरिआए - गोचरचर्या तीन शब्द से मिलकर बना है, गो+चर+चर्या, गाय के समान उत्तम, मध्य एवं जघन्य कुलों में अपेक्षारहित होकर, हीनभाव लाए बिना, लुब्ध हुए बिना तथा आर्तध्यान से रहित होकर, शुद्धभिक्षा के लिए विचरण करने को गोचर कहते हैं तथा उसकी क्रियाविधि को गोचरचर्या कहते हैं।

भिक्खायरिआए - शुद्ध अन्न-पान ग्रहण करने के हेतु भ्रमण करना, न कि आमोद-भ्रमण करना या कौतुकवशात् घूमना।

उग्घाडकवाड उग्घाडणाए - अर्गला, सांकल, ताले आदि से रहित किवाड़ को खोलना। यहाँ प्रतिलेखन किए बिना किवाड़ खोलने से अतिचार लगता है।

साणावच्छादारासंघट्टणाए - श्वान (कुत्ते), बछड़े एवं बालकों का संस्पर्श करने से। इनका संस्पर्श करने पर तथा इनको पीड़ा पहुँचाने पर तथा इनका उल्लंघन करने पर दोष लगता है।

मंडी पाहुडीआए - (गृहस्थ के) पात्र में रखे गए अग्रपिण्ड में से आहार ग्रहण करना।

बलिपाहुडीआए - देवता को नैवेद्य चढ़ाने के उद्देश्य से तथा होम के निमित्त से रखे गए अन्न में से आहार ग्रहण करना।

ठवणापाहुडियाए - जो कोई भी वस्तु साधुओं के लिए अलग से रखी गई है, उस भोजन-सामग्री को ग्रहण करना।

संकिए - जिसमें आधाकर्म आदि दोषों की शंका हो-ऐसे आहार को ग्रहण करना।

सहसागारे - सत्-असत् का विचार किए बिना उतावलेपन में आहार ग्रहण करना।

आणेसणाए-पाणेसणाए - निर्दोष पिण्ड की गवेषणा को अन्नेषणा कहते हैं तथा प्रासुक जल ग्रहण करने को पाणैषणा कहते हैं। आहार-पानी को अतिचारपूर्वक ग्रहण करना।

पाणभोयणाए - सूक्ष्मतर द्वीन्द्रिय आदि जीवों से युक्त भोजन ग्रहण करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीयभोयणाए - अन्न के मध्य रहे हुए सूक्ष्म बीजों से युक्त आहार को ग्रहण करना।

हरियभोयणाए - सूक्ष्म हरित, अर्थात् वनस्पति से मिश्रित भोजन को ग्रहण करना।

पच्छाकम्मिआए - भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् गृहस्थ द्वारा सचित्त जल आदि द्वारा हाथ, बर्तन आदि धोना।

पुरेकम्मिआए - भिक्षा ग्रहण करने से पूर्व गृहस्थ द्वारा सचित्त जल आदि द्वारा हाथ, बर्तन आदि धोना।

अदिट्ठहडाए - मुनि को जो वस्तु सामने दिखाई नहीं दे रही हो, ऐसी वस्तु को ग्रहण करना। अदृष्ट का तात्पर्य भित्ति के पीछे रखा हुआ या किसी वस्तु से ढका हुआ। ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करना अदृष्ट दोष कहलाता है।

पारिसाडणिआए - भिक्षाग्रहण करते समय भोज्य आदि पदार्थ इधर-उधर या नीचे गिरता हो - इस प्रकार से आहार ग्रहण करना।

पारिठावणिआए - यति द्वारा दूषित एवं खराब अन्न आदि का विधिपूर्वक परित्याग करना परिष्ठापनिका कहलाता है।

शयन-अतिचार एवं भिक्षा-अतिचार का प्रतिक्रमण करने के बाद प्रतिलेखना आदि से सम्बन्धित अतिचारों का प्रतिक्रमण करें, वह इस प्रकार है -

"पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए उभओकालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए, दुप्पडिलेहणाए, अप्पमज्जणाए, दुप्पमज्जणाए, अइक्कमे, वइक्कमे, अइयारे, अणायारे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

भावार्थ -

स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता हूँ। यदि प्रमादवश दिन और रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहररूप चार काल में स्वाध्याय न किया हो, प्रातः तथा संध्या- दोनों काल में वस्त्र-पात्र आदि भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना न की हो, अच्छी तरह प्रतिलेखना न की हो, प्रमार्जना न की हो, अच्छी तरह प्रमार्जना न की हो, फलस्वरूप अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार सम्बन्धी जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो, तो वह सब पाप मेरे लिए मिथ्या हो।

विशिष्टार्थ -

चउकाल - दिवस एवं रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर धार्मिक अनुष्ठान का काल होता है, इसलिए यहां "चउकाल" शब्द आया है।

उभओकालं - दिवस के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में।

अइक्कमे, वइक्कमे अइयारे अणायारे - आधाकर्मी दोष से युक्त आहार का गृहस्थ द्वारा निमंत्रण पाकर उसे लेने के लिए लालायित होना अतिक्रमण है।

वइक्कमे - उस आधाकर्मी आहार को लेने की इच्छा से जाना व्यतिक्रम है।

अइयारे - उस आधाकर्मी आहार को ग्रहण करना अतिचार है।

अणायारे - उस आधाकर्मी आहार का भक्षण करना अनाचार है।

ये सब क्रमशः अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार एवं अनाचार नामक दोष कहलाते हैं। इन शब्दों का सर्वत्र अनुवर्तन नहीं करना है।

अब साधु एक आदि संख्या के क्रम द्वारा अतिचारों का प्रतिक्रमण करे, वह इस प्रकार है -

"पडिक्कमामि एगविहे असंजमे।"

भावार्थ -

अविरतिरूप एकविध असंयम का आचरण करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

एगविहे असंयमे - चारित्र-विराधनारूप असंयम एक प्रकार का है। चारित्र- विराधना में सभी अतिचार आते हैं। इस प्रकार संयमपथ पर चलते हुए जो अतिचार लगे हैं, उनका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पडिक्कमामि - "मैं प्रतिक्रमण करता हूँ"- इस कथन का अर्थ प्रारम्भ से लेकर पर्यन्त तक जो-जो दोष बताए गए हैं, उस सम्बन्ध में मेरे जो दुष्कृत्य हैं, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। यहाँ "पडिक्कमामि" शब्द का कथन सभी जगह करें।

"पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिंरागबंधणेणं, दोसबंधणेणं।"

भावार्थ -

दो प्रकार के बन्धनों, अर्थात् रागबन्धन एवं द्वेषबन्धन से लगे दोषों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

रागबंधणेणं, दोस-बंधणेण - जीवों के प्रति इष्टभाव के होने से जो स्नेह-संबंध होता है, उसे राग कहते हैं। इसी प्रकार उनके प्रति अनिष्ट भावों के आने से द्वेष होता है। सद्भाव के अभाव तथा विनाश की बुद्धि को द्वेष कहते हैं और ये दोनों ही (राग एवं द्वेष) बन्धन के हेतु हैं। हेतु के लिए सर्वत्र तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है। जीवों को आठ प्रकार के कर्मों से अलग-अलग संबंध होता है, राग और द्वेष के कारण इन आठ कर्मों से जीव बंधन में आता है।

"पडिक्कमामि तिहिं दंडेहिं-मणदंडेणं, वयदंडेणं, कायदडेणं।"

भावार्थ -

तीन प्रकार के दण्डों, अर्थात् मनदंड, वचनदंड एवं कायादंड से लगने वाले दोषों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

तिहिं दंडेहिं - जो आत्मा को दण्डित करता है। जिससे जीव पुनर्बन्धन को ग्रहण करके आत्मा के सत्व को कुण्ठित करता है, उन्हें दण्ड कहते हैं। वे मन, वचन और काया की अपेक्षा से तीन प्रकार के हैं।

मणदंडेहिं - मन के बुरे विचारों से जिन कर्मों का बंध होता है, उसे मनदंड कहते हैं।

वयदंडेहिं - अप्रिय-असत्य वचन एवं निंदा आदि द्वारा जिन कर्मों का बंध होता है, उसे वचनदण्ड कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायदंडेहिं - काया की सावद्य चेष्टा करने से जिन कर्मों का बंध होता है, उसे कायदण्ड कहते हैं।

"पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहिं-मणगुत्तीए, वयगुत्तीए, कायगुत्तीए।"

भावार्थ -

तीन प्रकार की गुप्तियों, अर्थात् मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्तियों का आचरण करते हुए प्रमादवश जो भी तत्सम्बन्धी दोष लगे हों, उनका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

गुत्तीहिं - जिसके द्वारा मन, वचन एवं काया का गोपन सम्यक् प्रकार से होता है, उसे गुप्ति कहते हैं, अथवा जिसके द्वारा मन-वचन एवं काया की गतिविधियों का नियंत्रण होता है, उसे गुप्ति कहते हैं।

मणगुत्तीए - मनसा के बुरे विचारों का त्याग करके, अर्थात् उनका निवारण करके तथा धर्म एवं शुक्ल ध्यान द्वारा मन को नियंत्रित करने को मनगुप्ति कहते हैं।

वयगुत्तीए - मौन द्वारा, अथवा निरवद्य कथन एवं अल्पभाषण द्वारा वाचा को नियंत्रित करने को वचनगुप्ति कहते हैं।

कायगुत्तीए - दुःचेष्टा त्याग, अंगोपांग का गोपन तथा परीषह-सहनपूर्वक काया को नियंत्रित करने को कायगुप्ति कहते हैं।

इन तीनों का नियंत्रण न करने पर अतिचार लगता है।।

"पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं माया-सल्लेणं, नियाण-सल्लेणं, मिच्छादंसण-सल्लेणं"

भावार्थ -

तीन प्रकार के शल्यों, अर्थात् मायाशल्य, निदानशल्य एवं मिथ्यादर्शनशल्य से होने वाले दोषों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

तिहिंसल्लेहिं - जिसके द्वारा प्राणी को अन्तर में पीड़ा होती हो, जो कसकते हों, बाधा पहुँचाते हों, उसे शल्य कहते हैं - इस प्रकार के तीन शल्यों द्वारा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मायासल्लेहिं - शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा कपट करने से या विशेष रूप से मक्कारी करने से शल्य की भाँति जो माया है, उसे मायाशल्य कहते हैं।

नियाणसल्लेहिं - सभी बन्धनों के हेतुभूत, मन, वचन एवं काया द्वारा की जाने वाली चेष्टा तथा तप आदि सुकृतों द्वारा स्वर्ग, राज्य, मोक्ष आदि की आकांक्षा करना निदानशल्य है।

मिथ्या दंसण सल्लेहिं - अतत्त्व में तत्त्व की मिथ्या श्रद्धा रखने रूप मिथ्यात्व, जो पाँच प्रकार का है, मिथ्यादर्शनशल्य है।

"पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं-इड्ढी गारवेणं, रस-गारवेणं, सायागारवेणं।

भावार्थ -

तीन प्रकार के गौरव से, अर्थात् ऋद्धि के गौरव, रस के गौरव एवं शाता के गौरव से लगने वाले दोषों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

गारवेहिं - कर्मों के उपचय द्वारा जो आत्मा को भारी बनाता है, उसे गौरव कहते हैं।

इड्ढीगारवेणं - आचार्यपद, राजसम्मान आदि पद पाकर अभिमान करना और प्राप्त न होने पर उसकी लालसा रखना।

रसगारवेणं - षट् रसों की इच्छानुसार प्राप्ति होने पर आनन्द मानना।

सायागारवेणं - साता का अर्थ है - सुख। सुख की आकांक्षा करना तथा सुख के साधनों के मिलने पर आनन्द मानना।

"पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं नाण-विराहणाए, दंसण-विराहणाए, चरित्त-विराहणाए।"

भावार्थ -

तीन प्रकार की विराधनाओं, अर्थात् ज्ञान की विराधना, दर्शन की विराधना एवं चारित्र की विराधना से होने वाले दोषों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्टार्थ -

विराहणाहिं - सावद्य आदि असंयम के भेदों द्वारा कर्मबन्ध करने वाली क्रिया को विराधना कहते हैं।

नाणविराहणाए - ज्ञानी की निन्दा करना, गुरु आदि का अपलाप करना, ज्ञान की उपेक्षा करना, दूसरे के अध्ययन में अन्तराय डालना, ऐसे कार्य करने वाले व्यक्ति ज्ञान का विसंवाद करने वाले, अथवा ज्ञान के विराधक कहे जाते हैं। (इसका विस्तृत विवेचन आगमों से जानें।)

दंसणविराहणाए - शंका आदि पाँच अतिचारों से सम्यक्त्व का छेदन करना।

चारित्रविराहणाए - सर्वविरतिरूप चारित्र का खण्डन करना।

"पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं-कोह कसाएणं, माणकसाएणं, मायाकसाएणं, लोभकसाएणं।"

भावार्थ -

क्रोध, मान, माया और लोभ - इन चारों कषायों द्वारा होने वाले अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

कसाएहिं - कषाय शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। कष+आय। कष का अर्थ है- जो आत्मा को निरन्तर बांधता है। आय का अर्थ है- लाभ, अर्थात् प्राप्त होना, अर्थात् जो आत्मा को निरंतर बांधता है और जिससे संसार की प्राप्ति होती है, उसे कषाय कहते हैं।

कोह कसाएणं - दूसरे के प्रति अनिष्ट विचार तथा रौद्र परिणाम रखने को क्रोध-कषाय कहते हैं।

मानकसाएणं - अत्यन्त अहंकार करने को मानकषाय कहते हैं।

मायाकसाएणं - दूसरों को ठगने को मायाकषाय कहते हैं।

लोभकसाएणं - अत्यन्त तृष्णा एवं मूर्च्छाभाव रखने को लोभकषाय कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अनन्तानुबंधी आदि कषायों की विस्तृत व्याख्या आगमों से जानें।)

"पडिक्कमामि चउहिं सन्नाहिं-आहार-सन्नाए, भय-सन्नाए, मेहुण-सन्नाए, परिग्गह-सन्नाए।"

भावार्थ -

आहार-भय-मैथुन एवं परिग्रह- इन चार प्रकार की संज्ञाओं द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

सन्नाहिं - आत्मा द्वारा वस्तु की आकांक्षा को संज्ञा कहते हैं।

आहारसन्नाए - षड्रसों से युक्त चतुर्विध आहार की आकांक्षा करने को आहार-संज्ञा कहते हैं।

भयसन्नाए - सप्त भयों से भयभीत होने को भयसंज्ञा कहते हैं।

मेहुणसन्नाए - स्त्री के साथ संभोग आदि करने की इच्छा को मैथुनसंज्ञा कहते हैं।

परिग्गहसन्नाए - वस्तुओं के प्रति ममत्वभाव रखने को परिग्रहसंज्ञा कहते हैं।

"पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं-इत्थी कहाए, भक्त कहाए, देस-कहाए, राय-कहाए"

भावार्थ -

स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा एवं राजकथा - इन चारों विकथाओं द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

विकहाहिं - तथ्यों के विरूद्ध, जनसाधारण को अपवादमार्ग में प्रेरित करने वाली, दूसरों के प्रति अपराध करने की प्रेरणा देने वाली तथा किसी कार्य में विक्षेप डालने वाली कथा विकथा कहलाती है।

इत्थीकहा - अमुक देश और अमुक जाति की अमुक स्त्री सुन्दर है आदि स्त्री सम्बन्धी गुणों का कथन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भत्तकहाए - षड्रस से युक्त चतुर्विध आहार की प्रशंसा या विरस आहार की निन्दा करना।

देसकहाए - नाना प्रकार के देशों के व्यक्तियों, उनके आचार एवं वस्तुओं की प्रशंसा या निंदा करना।

रायकहाए - राजा के प्रताप की प्रशंसा या उसकी अकर्मण्यता की निंदा करना।

"पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं-अट्टेणं झाणेणं, रूद्देणं झाणेणं, धम्मेणं झाणेणं, सुक्केणं झाणेणं।"

भावार्थ -

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान - इन चारों ध्यानों से, अर्थात् आर्त्त-रौद्र-ध्यान के करने से तथा धर्म-शुक्ल-ध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

झाणेहिं - सप्त तत्त्वों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का जो चिन्तन होता है, उसे ध्यान कहते हैं।

अट्टेणं - दुःख, कष्ट, पर की आकांक्षा आदि दुःखरूप आर्त्तध्यान करना।

रूद्देणं - परद्रोह के चिन्तनरूप रौद्रध्यान करना।

धम्मेणं - आज्ञा, अपाय, विपाक एवं संस्थान का चिन्तन करना।

सुक्केणं - शुभ और अशुभ में अतिक्रान्त जो निर्विकल्प चेतना है, वह शुक्लध्यान है। यह शुक्लध्यान भी चार प्रकार का कहा गया है, जिसकी विस्तृत चर्चा तत्त्वार्थ में की गई है। उस प्रकार का शुक्ल ध्यान करना।

"पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं-काइआए अहिगरणियाए पाउसियाए पारितावणियाए पाणाइवाय-किरियाए।"

भावार्थ -

कायिकी, अधिकारणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपात-क्रिया इन- पाँचों क्रियाओं द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्टार्थ -

किरियाणं - करण को क्रिया कहते हैं। कर्मबन्ध करने वाली चेष्टा को काय- व्यापार कहते हैं।

कायिकी - कर्मविपाक के परिणामस्वरूप, अथवा किसी कार्य के हेतु जो शारीरिक क्रिया की जाती हैं, वह कायिकी-क्रिया है - जो देह-व्यापाररूप होती है।

अधिकरणिकी - अनेक प्रकार के दुष्ट व्यापारों को अधिकरण कहते हैं। अधिकरण से निष्पन्न होने वाली क्रिया अधिकरणिकी कहलाती है।

प्राद्वेषिकी - किसी भी व्यक्ति या पदार्थ के प्रति मन में द्वेषभाव होने से प्राद्वेषिकी-क्रिया होती है।

(मूलग्रन्थ में चौथी पारितापनिकी-क्रिया का उल्लेख नहीं किया गया है।)

प्राणातिपात-क्रिया-हिंसा की व्याख्या सर्वप्रसिद्ध है, इसलिए उसकी व्याख्या यहाँ नहीं की गई है।

"पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं-सद्देणं रूवेणं गंधेणं रसेणं फासेणं।"

भावार्थ -

शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श - इन पाँचों काम-गुणों द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

कामगुणेहिं - काम का अर्थ है- अभिलाषा। गुण शब्द का तात्पर्य है- करना, अर्थात् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शरूप पाँच गुणों की अभिलाषा करने को काम-गुण कहते है।

सद्देणं - आहत (जिसके सुनते ही मन को ठेस पहुँचे) एवं अनाहत (मधुर स्वर आदि) रूप शब्द बोलना।

रूवेणं - विभिन्न प्रकार के रूपों का निर्माण करना।

रसेणं - षट्रसों द्वारा।

गंधेणं - दुर्गन्ध एवं सुगन्धरूप गन्ध से।

फासेणं - दुःखद एवं सुखदरूप स्पर्श से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं- सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।"

भावार्थ -

प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण एवं परिग्रह-विरमण - इन पाँचों महाव्रतों से, अर्थात् पाँचों महाव्रतों का सम्यक् रूप से पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

महव्वएहिं - गृहस्थों के अणुव्रतों की अपेक्षा से महान् होने के कारण साधुओं के व्रत महाव्रत कहे जाते हैं।

पाणाइवायाओ वेरमणं - षट्जीवनिकाय-हिंसा के विरमणरूप व्रत को प्राणातिपात कहते हैं।

मुसावायाओ वेरमणं - अप्रिय, अहितकर, असत्य वचनों के विरमणरूप व्रत को मृषावाद-विरमणव्रत कहते हैं।

अदिण्णादाणाओ वेरमणं - दन्त-शोधन के लिए तिनके से लेकर दूसरों के द्वारा न दी गई वस्तु का ग्रहण न करना अदत्तादान-विरमणव्रत है।

मेहुणाओ वेरमणं - शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि के साथ सुरत आदि क्रिया के विरमणरूप व्रत को मैथुन-विरमणव्रत कहते है।

परिग्गहाओ वेरमणं - सभी पदार्थों में ममत्व नहीं रखने सम्बन्धी व्रत को परिग्रह- विरमणव्रत कहते हैं।

"पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं-इरियासमिईए भासासमिईए एसणासमिईए आयाणभंडत्तमत्तनिक्खेवणासमिईए उच्चारपासवणखेल-जल्लसिंघाणपरिट्ठावणियासमिईए।"

भावार्थ -

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणा-समिति, उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-जल्ल-सिंधाण-परिष्ठापनिका-समिति - उक्त पाँचों समितियों से, अर्थात् समितियों का सम्यक्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

समिएहिं - संयम के क्षेत्र में सम्यक् प्रवृत्ति को, अथवा मन, वचन एवं काया द्वारा चारित्र के पालन को समिति कहते हैं।

इरियासमिइए - चलते समय जीव-जन्तुओं की रक्षा करने के लिए देखते हुए चलने को ईर्या समिति कहते हैं।

भासासमिइए - संज्ञादि के परिहाररूप एवं मौन ग्रहण करने को भाषासमिति कहते हैं।

आयान भंडमत्त निक्खेवणा समिइए - उपकरणों को सावधानीपूर्वक ग्रहण करना एवं जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण करने को आदान-भंडपात्र-निक्षेपण-समिति कहते हैं।

उच्चार-पसवण-खेल-जल्ल-सिंघाण परिट्ठावणिया समिईए - जीव-जन्तु से रहित प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र, कफ, शरीर के मल, नाक के मल आदि का उत्सर्ग करने को पारिष्ठापनिकासमिति कहते हैं।

"पडिक्कमामि छहिं जीवनिकाएहिं-पुढविकाएणं आउकाएणं तेउकाएणं वाउकाएणं वणस्सइकाएणं तसकाएणं।"

भावार्थ -

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसद्वीन्द्रिय आदि - इन छहों प्रकार के जीव-निकायों से, अर्थात् इन जीवों की हिंसा करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

जीवनिकाएहिं - समान गुण वाले प्राणियों के समूह को निकाय कहते हैं। ऐसी उन षट्जीवनिकायों की हिंसा का प्रतिक्रमण करता हूँ।

पुढविकाएणं - कठोरता के लक्षण वाली मृत्तिका, लोष्ट आदि पृथ्वीकाय कहलाती हैं।

आउकाएणं - जल के अनेक प्रकार हैं। बर्फ, कोहरा, ओला एवं शुद्ध जल को अप्काय कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेउकाएणं - अग्नि, विद्युत, अंगार आदि को तेजस्काय कहते हैं।

वाउकाएणं - पंखा, फूँक मारना, श्वासोश्वासरूप काय को वायुकाय कहते हैं।

वणस्सईकाएणं - प्रत्येक एवं साधारण वनस्पतिकाय, अर्थात् एक ही शरीर में एक जीव हो, उसे प्रत्येक तथा एक जीव में अनन्तजीव हों, उसे साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं।

तसकाएणं - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय रूप जीव त्रसकाय कहलाते हैं।

"पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं-किण्हलेसाए, नीललेसाए, काउलेसाए, तेउलेसाए, पम्हलेसाए, सुक्कलेसाए।"

भावार्थ -

कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या - इन छहों लेश्याओं द्वारा, अर्थात् प्रथम तीन अधर्म-लेश्याओं का आचरण करने से तथा बाद की तीन धर्म-लेश्याओं का आचरण न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

लेसाहिं - अस्सी से अधिक तथा एक सहस्र निषेक तक की कालावधि लेश (कालांश) कही जाती है। उस अवधि में उत्पन्न होने वाला तीव्र ध्यानरूपी चिन्तन लेश्या कहलाता है। ऐसी लेश्याएँ छः कही गई हैं।

कृष्णलेसा - इस लेश्या में महातीव्र पाप का अनुबंध होता है।

नीललेसा - इस लेश्या में तीव्र पाप का अनुबंध कृष्णलेश्या की अपेक्षा कुछ कम होता है।

काउलेसा - इस लेश्या में पाप का अनुबन्ध नीललेश्या की अपेक्षा भी कुछ कम होता है।

तेउलेसा - तेजोलेश्या जीव में किंचित् शुभभाव आते हैं।

पम्हलेसा - पद्मलेश्या में शुभभावों की प्रमुखता संमिश्रण होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुक्कलेसा - शुभाशुभ भावों से रहित कर्मानुबन्ध का छेदन करने से यह लेश्या अत्यन्त निर्मल होती है।

इन लेश्याओं का विस्तृत वर्णन जामुन खाने वाले व्यक्तियों एवं ग्रामवधकों के दृष्टान्तों से जाना जा सकता है। इन लेश्याओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि को आगमों से जानें।

विस्तार के भय से यहाँ इस ग्रन्थ में विराधना, कषाय, संज्ञा, विकथा, ध्यान, क्रिया, कामगुण, महाव्रत, समिति, जीवनिकाय, लेश्या आदि विषयों का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। इनका विस्तृत विवेचन भी आगमों से जानें।

इसमें धर्मशुक्ल आदि ध्यानों, महाव्रतों, समितियों आदि शुभ प्रवृत्तियों के प्रतिक्रमण का जो कथन किया गया है, वह उन-उन विषयों में लगने वाले अतिचार एवं दोषों का प्रतिक्रमण करने के उद्देश्य से किया गया है। यहाँ प्रारम्भ में केवल एक ही बार प्रतिक्रमण शब्द का कथन किया गया है, उसे सभी के सन्दर्भ में समझना चाहिए।

"पडिक्कमामि सत्तहिं भयट्ठाणेहिं, अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं, नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं, दसविहे समणधम्मे, एक्कारसहिं उवासगपडिमाहिं, बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं, तेरसहिं किरियाठाणेहिं, चउद्दसहिं भूयगामेहिं, पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं, सोलसहिं गाहासोलसएहिं, सत्तरसविहे असंजमे, अट्ठारसविहे अबंभे, एगूणवीसाए नायज्झयणेहिं, वीसाए असमाहिठाणेहिं, इक्कवीसाए सबलेहिं, बावीसाए परीसहेहिं, तेवीसाए सूयगडज्झायणेहिं, चउवीसाए देवेहिं, पणवीसाए भावणाहिं, छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं, सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं, अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहिं, एगूणतीसाए पावसुयप्पसंगेहिं, तीसाए मोहणीयट्ठाणेहिं, एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं, बत्तीसाए जोगसंगहेहिं, तित्तीसाए आसायणाहिं - अरिहंताणं आसायणाए, सिद्धाणं आसायणाए, आयरियाणं आसायणाए, उवज्झायाणं आसायणाए, साहूणं आसायणाए, साहुणीणं आसायणाए, सावयाणं आसायणाए, सावियाणं आसायणाए, देवाणं आसायणाए, देवीणं आसायणाए, इहलोगस्स आसायणाए, परलोगस्स आसायणाए, केवलीणं आसायणाए, केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसायणाए, सदेव-मणुआऽसुरस्स लोगस्स आसायणाए, सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं आसायणाए, कालस्स आसायणाए, सुअस्स आसायणाए, सुअदेवयाए आसायणाए, वायणायरियस्स आसायणाए, - जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीणं, घोसहीणं, सुट्ठुदिन्नं, दुट्ठुपडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाइए सज्झाइयं, सज्झाइए न सज्झाइयं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।''

भावार्थ -

मैं प्रतिक्रमण करता हूँ (सात भय से लेकर तेंतीस आशातनाओं तक जो अतिचार लगा हो उसका) सात भय के स्थानों (कारणों) से, आठ मद के स्थानों से, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से, उनका सम्यक् पालन न करने से, दसविध क्षमा आदि श्रमण-धर्म की विराधना से, ग्यारह उपासक की प्रतिमा से, अर्थात् उनकी अश्रद्धा एवं विपरीत प्ररूपणा से, बारह भिक्षु की प्रतिमाओं से, अर्थात् उनकी श्रद्धा, प्ररूपणा एवं आसेवना अच्छी तरह न करने से, तेरह क्रिया के स्थानों से, अर्थात् हिंसा से, पन्द्रह परमाधार्मिकों से, अर्थात् उन जैसा भाव या आचरण करने से, सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा-अध्ययन सहित सोलह अध्ययनों से, अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, सत्तरह प्रकार के असंयम में रहने से, अट्ठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य में वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों से, अर्थात् तदनुसार संयम में न रहने से, बीस असमाधि-स्थानों से, इक्कीस शबलों से, बाईस परीषहों से, अर्थात् उनको सहन न करने से, सूत्रकृतांग सूत्र के तेईस अध्ययनों से, अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, चौबीस देवों से, अर्थात् उनकी अवहेलना करने से, पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं से, अर्थात् उनका आचरण न करने से, आचार-प्रकल्प - आचारांग तथा निशीथसूत्र के अट्ठाईस अध्ययनों से, अर्थात् मन्त्र आदि पापश्रुतों का प्रयोग करने से, अर्थात् उनकी उचित श्रद्धा एवं प्ररूपणा न करने से, बत्तीस योगसंग्रहों से, अर्थात् उनका आचरण न करने से, तेंतीस आशातनाओं से (जो कोई अतिचार लगा हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, देव-देवी, इहलोक-परलोक, केवलि-प्ररूपित धर्म, देव, मनुष्य, असुरों सहित समग्रलोक, समस्त विकलत्रय (प्राण), भूत, जीव, सत्व, तथैव काल, श्रुत, श्रुतदेवता, वाचनाचार्य - इन सबकी आशातना से तथा आगमों का अभ्यास करते एवं कराते हुए सूत्र के पाठों को या सूत्र के अक्षरों को उलट-पुलट आगे पीछे किया हो, शून्य मन से कई बार पढ़ता ही रहा हो, अथवा अन्य सूत्रों के एकार्थक, किन्तु मूलतः भिन्न-भिन्न पाठ अन्य सूत्रों से मिला दिए हों, हीनाक्षर, अर्थात् अक्षर छोड़ दिए हों, अक्षर बढ़ा दिए हों (अत्यक्षर), अक्षर समूहात्मक पद-विभक्ति आदि छोड़ दी हो (पदहीन), शास्त्र एवं शास्त्राध्यापक का समुचित विनय न किया हो, उदात्तादि स्वरों से रहित पढ़ा हो, उपधानादि तपोविशेष के बिना, अथवा उपयोग के बिना पढ़ा हो, अधिक ग्रहण करने की योग्यता न रखने वाले शिष्य को भी अधिक पाठ दिया हो, वाचनाचार्य द्वारा दिए हुए आगम-पाठ को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो, कालिक-उत्कालिक-सूत्रों को उनके निषिद्धकाल में पढ़ा हो, विहित काल में सूत्रों को न पढ़ा हो, अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय किया हो, स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न किया हो।

उक्त प्रकार के श्रुतज्ञान की चौदह आशातनाओं में से जो कोई भी अतिचार लगा हो, उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।

विशिष्टार्थ -

भयठाणेहिं - भय, उत्पाद, आदि के कारणरूप निम्न सात भय स्थान हैं - १. इहलोकभय २. परलोकभय ३. आदानभय ४. अकस्मात्भय ५. आजीविकाभय ६. मरणभय और ७. अपयशभय।

अट्ठमयट्ठाणेहिं - निम्न आठ मद स्थान हैं - १. जातिमद २. लाभमद ३. कुलमद ४. ऐश्वर्यमद ५. बलमद ६. रूपमद ७. तपमद एवं ८. श्रुतमद।

नवहिं बंभेचरगुत्तीहिं -ब्रह्मचर्य गुप्तियों के निम्न नौ स्थान हैं -

१. स्त्री, नपुंसक पशु से युक्त गृह में न ठहरें।

२. स्त्री, नपुंसक आदि के साथ एक आसन पर न बैठें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. दीवार आदि की ओट से स्त्री, नपुंसक आदि के शब्द, गीत आदि न सुनें।
४. राग से युक्त स्त्रियों की कथा-वार्ता का त्याग करें।
५. पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करें।
६. स्त्रियों के मनोहर अंगोपांग न देखें।
७. अपने शरीर की विभूषा न करें।
८. स्निग्धभोजन का त्याग करें। एवं
९. अतिमात्रा में आहार न करें।

दसविहेसमणधम्मे - श्रमणधर्म में निम्न दसविध हैं -१. संयम २. सत्य ३. शौच ४. ब्रह्म ५. आकिंचन्य ६. तप ७. शान्ति ८. मार्दव ९. आर्जव एवं १०. मुक्ति।

एकारसहिं उवासगपडिमाहिं - उपासक की निम्न ग्यारह प्रतिमाएँ हैं -

१. दर्शन-प्रतिमा २. व्रत-प्रतिमा ३. सामायिक-प्रतिमा ४. पौषध-प्रतिमा ५. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा ६. सचित्तत्याग-प्रतिमा ७. आरम्भत्याग-प्रतिमा ८. अनुमतित्याग-प्रतिमा ९. वज्र-प्रतिमा १०. श्रमणभूत-प्रतिमा।

बारसहिं भिक्खू पडिमाहिं - भिक्षु की बारह प्रतिमाओं में प्रथम सात प्रतिमाएँ एक-एक मास की होती हैं। इसमें प्रथम मास में एक दत्ति आहार की एवं एक दत्ति पानी की ग्रहण करते है। फिर प्रत्येक मास में एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए सातवें मास में सात दत्ति आहार की एवं सात दत्ति पानी की ग्रहण करते हैं। उसके पश्चात् आठवीं, नवीं एवं दसवीं - ये तीन प्रतिमाएँ सात-सात अहोरात्रि की हैं। इन प्रतिमाओं में निर्जल उपवासपूर्वक सात-सात दिन तक विभिन्न आसनों की साधना के साथ ध्यान आदि की साधना की जाती है। ग्यारहवीं प्रतिमा अहोरात्रि की होती है। इस प्रतिमा में निरन्तर दो उपवास (छट्ठ) सहित नगर के बाहर जंगल में कायोत्सर्ग की साधना की जाती है। बारहवीं प्रतिमा मात्र एक रात्रि की होती है। इसमें भी साधक पूर्व में निरन्तर तीन उपवास करके अन्तिम दिन रात्रि में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष साधना करता है। इस प्रकार भिक्षु की ये बारह प्रतिमाएँ बताई गई हैं।

(नोट - इन प्रतिमाओं के विस्तृत विवरण हेतु दशाश्रुतस्कन्ध की सातवीं दशा देखें।)

तेरसहिं किरियाट्ठाणेहिं - निम्न तेरहक्रिया स्थान हैं -

१. अर्थ-क्रिया २. अनर्थ-क्रिया ३. हिंसादि-क्रिया ४. अकस्मात्-क्रिया ५. दृष्टि-विपर्यास-क्रिया ६. अदत्तादान-क्रिया ७. आध्यात्म-क्रिया ८. मान-क्रिया ९. मित्र-क्रिया १०. माया-क्रिया ११. लोभ-क्रिया १२. ईर्यापथिक-क्रिया १३. मृषा-क्रिया।

चउद्दसहिं भूयगामेहिं - निम्न चौदह भूतग्राम हैं, अर्थात् जीवसमूह हैं -

१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय २. एकेन्द्रिय ३. द्वीन्द्रिय ४. त्रीन्द्रिय ५. चतुरिन्द्रिय ६. पंचेन्द्रिय ७. संज्ञी । पर्याप्ता एवं अपर्याप्ता - इन दो भेदों से कुल चौदह भेद होते हैं।

पनरस्सहिं परमाहम्मिएहिं - पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देवों से, अर्थात् महापाप करने वाले, नारकीय जीवों को संतापित करने वाले निम्न पन्द्रह देव हैं - १. अम्ब २. अम्बरीष ३. श्याम ४. शबल ५. रुद्र ६. महारुद्र ७. काल ८. महाकाल ९. असिपत्रक १०. धनुष ११. कुम्भक १२. वालुक १३. वैतरणक १४. खरस्वर एवं १५. महाघोष।

सोलहसहिं गाहा सोलसएहिं - गाथा षोडशक, अर्थात् सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के निम्न सोलह अध्ययन कहे गए हैं -

१. समय २. वैतालीय ३. उपसर्ग-परिज्ञा ४. स्त्री-परिज्ञा ५. नरक-विभक्ति ६. वीर-स्तुति ७. (कु)शील-परिज्ञा ८. वीर्य ९. धर्म १०. समाधि ११. (मोक्ष) मार्ग १२. समवसरण १३. अवितथ (यथातथ्य) १४. ग्रन्थ १५. यमक (आदानीय) एवं १६. गाथा-अध्ययन।

सत्तरसविहे असंयमे - सत्रह प्रकार का असंयम, अर्थात् पाँच आश्रवद्वार, पाँच इन्द्रियों के व्यापार, चार कषाय एवं तीनों योगों को दुष्कर्म में नियोजित करना - इस प्रकार असंयम के सत्रह प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताए गए हैं। असंयमे शब्द में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग सर्व अतिचारों के कथन हेतु किया गया है।

अट्ठारसविहे अबम्भे - अब्रह्मचर्य के अठारह स्थान हैं। देव, अर्थात् वैक्रियशरीर सम्बन्धी भोगों का मन, वचन एवं काया से न तो स्वयं सेवन करें, न दूसरों से सेवन कराएं तथा न ऐसा करने वाले को अच्छा जानें - इस प्रकार नौ भेद वैक्रियशरीर सम्बन्धी होते हैं। मनुष्य एवं तिर्यंच, अर्थात् औदारिक-शरीर के भोगों के त्याग के सम्बन्ध में भी इसी तरह नौ भेद समझ लेना चाहिए - इस प्रकार असंयम के कुल अठारह भेद होते हैं। इनके आचरण से जो अतिचार लगते हैं, उन्हें असंयमस्थान कहते हैं।

एगुणवीसाएनायज्झाणेहिं - प्रस्तुत पाठ में ज्ञाताधर्मकथा के निम्न उन्नीस अध्ययनों का कथन किया गया है। उनमें उसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्य अध्ययनों का भी समावेश मान लेना चाहिए।

१. उत्क्षिप्त, अर्थात् मेघकुमार २. संघाट ३. अण्ड ४. कूर्म ५. शैलिक ६. तुम्ब ७. रोहिणी ८. मल्ली ९. माकन्दी १०. चन्द्रमा ११. दावदव १२. उदक १३. मण्डूक १४. तेतलि १५. नन्दीफल १६. अमरकंका १७. आकीर्णक १८. सुसमादारिका एवं १९. पुण्डरीक।

बीसाए असमाहिट्ठाणेहिं - असमाधि के निम्न बीस स्थान हैं -

१. जल्दी-जल्दी चलना २. बिना प्रमार्जन किए चलना ३. सम्यक् प्रकार से प्रमार्जन न करना ४. अमर्यादित शय्या और आसन रखना ५. गुरुजनों का अपमान करना ६. स्थविरों की अवहेलना करना ७. जीवों के घात का चिन्तन करना ८. क्षण-क्षण में क्रोध करना ९. लम्बे समय (चिरकाल) तक क्रोध रखना १०. परोक्ष में किसी का अवर्णवाद करना ११. प्रत्यक्ष में किसी को चोर आदि कहना १२. नित्य नए कलह करना १३. अकाल में स्वाध्याय करना १४. सचित्त रजसहित हाथ में भिक्षा ग्रहण करना १५. प्रहर रात बीतने के बाद जोर से बोलना १६. आक्रोश आदि रूप कलह करना १७. गच्छ आदि में फूट डालना १८. अधिक मात्रा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार करना १६. दिनभर कुछ न कुछ खाते-पीते रहना एवं २०. एषणा-समिति का ध्यान न रखना।

एगवीसाए सबलेहिं - चित्त को मलिन करने वाले निम्न इक्कीस सबल दोष हैं -

१. हस्तमैथुन करना २. स्त्री-स्पर्श आदि रूप मैथुन का सेवन करना ३. रात्रि-भोजन करना ४. आधाकर्मी-आहार ग्रहण करना ५. राजपिंड लेना ६. साधु के निमित्त खरीदा हुआ आहार ग्रहण करना ७. साधु के निमित्त उधार लाया हुआ आहार ग्रहण करना ८. साधु के निवास स्थान पर लाकर दिया गया आहार ग्रहण करना ९. साधु के निमित्त छीनकर लाया हुआ आहार ग्रहण करना १०. सामने लाकर दिया गया आहार ग्रहण करना ११. छः मास में एक गण से दूसरे गण में जाना १२. एक महीने में तीन बार उदक का लेप लगाना (नदी आदि में उतरना) १३. एक मास में तीन बार माया-स्थान का सेवन करना १४. जान-बूझकर हिंसा करना १५. जान-बूझकर झूठ बोलना १६. जान-बूझकर चोरी करना १७. जान-बूझकर सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सचित्त शिला पर सोना आदि १८. जान-बूझकर जंगम एवं स्थावर जीवों से युक्त भूमि पर निवास करना १९. एक वर्ष में दस बार उदक-लेप (सचित्त जल में प्रवेश करना) लगाना एवं दस बार माया स्थानों का सेवन करना। २०. जानबूझकर सचित्त जल एवं रज वाले हाथ या कड़छी से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना एवं २१. जानबूझकर कन्द, मूल, फल, बीज युक्त मिश्र आहार का सेवन करना।

बावीसाए परीसहेहिं - निम्न बाईस परीषह हैं -

१. क्षुधा २. पिपासा ३. शीत ४. उष्ण ५. दंशमशक ६. अचेल ७. अरति ८. स्त्री-परीषह ९. चर्या १०. निषद्या ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृण-स्पर्श १८. मल १९. सत्कार-पुरस्कार २०. प्रज्ञा २१. अज्ञान एवं २२. सम्यक्त्व से विचलित करने हेतु दबाव।

तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं - सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पूर्वोक्त सोलह अध्ययन एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार कुल तेईस अध्ययनों से। प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययनों के नाम पूर्व में कहे गए हैं, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन निम्नांकित हैं - १. पुण्डरीक २. क्रियास्थान ३. आहारपरिज्ञा ४. प्रत्याख्यान ५. अनगार ६. आर्द्रकुमार एवं ७. नालन्दीय।

चउवीसाए देवेहिं - चौबीस देव निम्नांकित हैं -

असुरकुमार आदि दस भवनपति, भूत, यक्ष आदि आठ व्यन्तर, सूर्य-चन्द्र आदि पाँच ज्योतिष्क एवं वैमानिक देव - इस प्रकार कुल चौबीस जाति के देव हैं। यहाँ उत्तराध्ययनसूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शान्तिसूरि आदि कितने ही आचार्य देव शब्द से चौबीस तीर्थंकर देवों का भी ग्रहण करते हैं। (इस अर्थ के मानने पर इसका अतिचार होगा - उनके प्रति आदर या श्रद्धाभाव न रखना, उनकी आज्ञानुसार न चलना आदि)

पंचवीसाएभावणाहिं - पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावना निम्नांकित है -

(१) अहिंसा-महाव्रत की पाँच भावनाएँ -

१. मन का संयम २. एषणासमिति का पालन करना ३. आदान-निक्षेप-समिति का पालन करना ४. ईर्यासमिति का पालन करना ५. यथेष्ट अन्न-पान ग्रहण करना।

(२) सत्य-महाव्रत की पाँच भावनाएँ -

१. हंसी-मजाक का त्याग २. लोभ का त्याग ३. भय का त्याग ४. क्रोध का त्याग ५. विचारकर बोलना।

(३) अस्तेय-महाव्रत की पाँच भावनाएँ -

१. प्रतिलेखित स्थान की याचना करना २. प्रतिदिन (तृण-काष्ठादि) का अवग्रह लेना ३. अवग्रह के परिमाण का चिन्तन करना ४. हमेशा साधर्मिक के अवग्रह की याचना करना ५. आज्ञा प्राप्त, अर्थात् दिए गए आहार पानी का सेवन करना।

(४) ब्रह्मचर्य-महाव्रत की पाँच भावनाएँ -

१. स्त्री, नपुंसक एवं पशु के सान्निध्य से रहित स्थान में रहना। २. रागपूर्वक स्त्रीकथा करने का त्याग करना ३. पूर्वकृत काम-भोग का स्मरण नहीं करना ४. स्त्रियों के मनोहर अंगोपांग का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवलोकन नहीं करना तथा अपने शरीर की विभूषा नहीं करना एवं ५. बताए गए परिमाण से अधिक आहार न करना।

(५) अपरिग्रह-महाव्रत की पाँच भावनाएँ -

पाँचों इन्द्रियों के विषयों - शब्द, रूप, गन्ध, रस एवं स्पर्श के इन्द्रियगोचर होने पर भी मनोज्ञ के प्रति रागभाव एवं अमनोज्ञ के प्रति द्वेषभाव न लाकर उदासीन भाव रखना।

छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेणं - दशाश्रुतस्कन्ध के दस, बृहत्कल्प के छः और व्यवहारसूत्र के दस-इन छब्बीस अध्ययनों के पठनकाल में व्यतिक्रम करना एवं उनके अनुसार आचरण न करना।

सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं - अनगार के निम्न सत्ताईस गुण हैं -

१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह - इन पाँच महाव्रतों का पालन करना ६. रात्रिभोजन का त्याग करना ७-११. स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत - इन पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना १२. भावसत्य १३. वस्त्र, पात्र आदि की भली-भाँति प्रतिलेखना करना १४. क्षमा १५. लोभनिग्रह १६. मन की शुभ प्रवृत्ति १७. वचन की शुभ प्रवृत्ति १८. काय की शुभ प्रवृत्ति करना १९-२४. छः काय के जीवों की रक्षा करना २५. संयमयोग-युक्तता २६. शीतादि कष्ट-सहिष्णुता २७. मारणान्तिक-उपसर्ग को भी समभाव से सहन करना। इन गुणों का पालन नहीं करना।

अट्ठवीसाए आयारपकप्पेहिं - साधु को जो आचार में स्थित करे, उसे आचार- प्रकल्प कहते हैं। ये आचार-प्रकल्प अट्ठाईस प्रकार के बताए गए हैं -

१. शस्त्रपरिज्ञा २. लोकविजय ३. शीतोष्णीय ४. सम्यक्त्व ५. आवंति (लोकसार) ६. धुव ७. विमोह ८. उपधानश्रुत ९. महापरिज्ञा १०. पिंडैषणा ११. शय्या १२. ईर्या १३. भाषार्या १४. वस्त्रपात्रैषणा १५. अवग्रह १६. प्रतिमा १७-२३. सप्त सप्तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४. भावना २५. विमुक्ति २६. उद्घात २७. अनुद्घात एवं २८. अर्हणा (आरोपण)।

एगुणतीसाए पावसुयपसंगेहिं - मुनि को उनतीस पापश्रुतों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पापश्रुत के उनतीस भेद निम्नांकित हैं -

१. अंगशास्त्र २. स्वप्नशास्त्र ३. स्वरशास्त्र ४. उत्पातशास्त्र ५. अन्तरिक्षशास्त्र ६. भौमशास्त्र ७. व्यंजनशास्त्र और ८. लक्षणशास्त्र - ये अष्टनिमित्त ही सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से चौबीस हो जाते हैं। २५. गान्धर्वशास्त्र २६. नाट्यशास्त्र २७. वास्तुशास्त्र २८. आयुर्वेद २९. धनुर्वेद ।

तीसाए मोहणिट्ठाणेहिं - चतुर्थ मोहनीयकर्म प्रकृतिबंध के तीस स्थान, अर्थात् भेद होते हैं। वे तीस भेद इस प्रकार हैं -

१. त्रस जीवों को पानी में डुबाकर मारना २. प्राणियों के मुँह, नाक आदि श्वास लेने के द्वारों को हाथ से अवरुद्ध कर मारना ३. जीवों को मस्तक पर गीला चमड़ा आदि लपेटकर मारना ४. जीवों को मस्तक पर घातक प्रहार करके मारना ५. अनेक जनों के नेता का घात करना ६. समुद्र में द्वीप के समान अनाथजनों के रक्षक का घात करना ७. समर्थ होने पर भी ग्लान की सेवा न करना ८. इसने मेरी सेवा नहीं की है, अतः मैं भी इसकी सेवा क्यों करूं ? - ऐसे भाव रखना। धर्ममार्ग में उपस्थित साधु को मार्ग से च्युत करना, अथवा भव्यजीवों को न्यायमार्ग से भ्रष्ट करना। ९. अनन्त ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न जिनेन्द्रदेव का अवर्णवाद बोलना १०. जिन आचार्य एवं उपाध्यायों से श्रुत और आचार ग्रहण किया है, उनकी अवहेलना करना ११. आचार्य एवं उपाध्याय की सम्यक् प्रकार से सेवा न करना १२. कलह के अनेक प्रसंग उपस्थित करना १३. चतुर्विध संघ में फूट डालना १४. जादू-टोना करना १५. वशीकरणादि अधार्मिक योग का बार-बार प्रयोग करना १६. कामभोगों का त्याग करके, अर्थात् चारित्र ग्रहण करके पुनः गृहस्थ जीवन में लौटना। १७. बहुश्रुत न होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत कहना, इसी प्रकार तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को तपस्वी कहना। १८. जो कार्य स्वयं ने नहीं किया है, उसका कर्त्ता स्वयं को बताना १९. अपनी उपधि आदि को मायाचार करके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छिपाना २०. अशुभ भावों से दूसरों पर मिथ्या आक्षेप लगाना २१. प्राणी को धोखा देकर उसे भाले या डंडे से मारकर हँसना २२. प्रवेश के अयोग्य (निषिद्ध) स्थानों में प्रवेश करके प्राणियों के धन का हरण करना २३. विश्वास का खंडन करके किसी की स्त्री को लुभाना। २४. बाल ब्रह्मचारी न होने पर भी स्वयं को बाल ब्रह्मचारी कहना। २५. ब्रह्मचारी न होने पर भी स्वयं को ब्रह्मचारी कहना। २६. जिसका आश्रय पाकर समृद्धि को प्राप्त हुआ है, उसी के द्रव्य का अपहरण करना। २७. जिसका आश्रय पाकर समृद्धि को प्राप्त हुआ है, उन आश्रयदाताओं के लाभ में अन्तराय उत्पन्न करना २८. सेनापति, पालनकर्ता, कलाचार्य तथा धर्माचार्य को मार डालना २९. राष्ट्र के नायक या निगम के नेता को मार डालना ३०. देवदर्शन न होते हुए भी अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए देवदर्शन की बात कहना।

संक्लिष्ट भावों से इन सब दोषों का आचरण करने पर जीव महामोहनीयकर्म का बंध करता हैं।

एकतीसाए सिद्धाय गुणेहिं - सिद्धों में रहने वाले गुणों को सिद्ध के गुण कहते हैं। वे एकतीस गुण निम्नलिखित हैं -

१. संस्थान २. वर्ण ३. गन्ध ४. रस ५. स्पर्श एवं ६. वेद - इनके क्रमशः पाँच, पाँच, दो, पाँच, आठ एवं तीन भेद होने से कुल अट्ठाईस भेद होते हैं। २९. अतिचारत्व ३०. संघवर्जितत्व एवं ३१. जन्मित्व - ये सिद्धों के अभावात्मक एकतीस गुण हैं। इनमें शंका करना अतिचार है।

बत्तीसाए योग संगहेहिं - निम्नलिखित बत्तीस योग का संग्रह नहीं करना -

१. शिष्य का आचार्य के समक्ष दोषों की सम्यक् प्रकार से आलोचना करना २. आलोचना का परिपूर्ण रूप से पालन करना ३. आपत्ति आने पर भी धर्म में दृढ़ रहना। ४. इहलोक सम्बन्धी फल की आकांक्षा से तप करना ५. सूत्रार्थ ग्रहणरूप ग्रहण शिक्षा एवं प्रतिलेखना आदिरूप आसेवना-शिक्षा का अभ्यास करना। ६. शोभा-श्रृंगार नहीं करना ७. गुप्त तप करना ८. लोभ का त्याग करना ९. परीषहादि को सहन करना १०. सरलता ११. संयम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं सत्य की पवित्रता रखना १२. सम्यक्त्व-शुद्धि १३. प्रसन्नचित्तता १४. आचार-पालन में माया नहीं करना १५. विनय पालन करना १६. धैर्य रखना १७. सांसारिक भोगों से भय अथवा मोक्षाभिलाषा होना १८. मायाचार न करना १९. पापाश्रव को रोकना २०. सद्नुष्ठान में निरत रहना २१. आत्मदोषों की शुद्धि करना २२. सर्व काम भोगों से विरक्ति २३. मूलगुणों का शुद्ध पालन करना २४. उत्तरगुणों का शुद्ध पालन करना २५. शरीर के प्रति ममता न रखना २६. प्रमाद न करना २७. प्रतिक्षण संयम-यात्रा में सावधान रहना २८. धर्म-शुक्लध्यान-परायण होना २९. मरणान्तिक वेदना होने पर भी अधीर न होना। ३०. परिग्रह-परिज्ञा ३१. कृत दोषों का प्रायश्चित्त करना एवं ३२. मरणपर्यन्त ज्ञान की आराधना करना - इन बत्तीस योगों का पालन नहीं करना अतिचाररूप है, जिसका प्रतिक्रमण किया जाता है।

तित्तीसाए आसायणाए - गुरु की तेंतीस आशातनाएँ की हों। आशातना शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है, आ+शातना। सम्यग्दर्शन आदि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को आय कहते हैं और शातना का अर्थ है- खण्डन। देव, गुरु, शास्त्र आदि का अपमान करने से सम्यक् दर्शन आदि गुणों की शातना-खण्डना होती है।

वन्दन-आवश्यक में गुरु की जो तेंतीस आशातनाएँ बताई गई हैं, यहाँ पुनः उन्हीं का कथन किया गया। (अतः गुरु की तेंतीस आशातनाओं हेतु वन्दन-आवश्यक देखें।)

यहाँ अरिहंतादि की तेंतीस आशातनाओं का निरूपण करके उनका प्रतिक्रमण किया गया है। वे इस प्रकार हैं -

अरिहंताणं आसायणाए - परमात्मा की आशातना, अर्थात् परमात्मा के स्वरूप के विरूद्ध मन में संकल्प-विकल्प करना।

सिद्धाणं आसायणाए - सिद्धों की आशातना, अर्थात् कोई सिद्ध नहीं होता है, जब शरीर ही नहीं रहा, तो फिर अनन्त सुख कैसे मिल सकता है, इत्यादि कथनों से सिद्ध के नास्तित्व का कथन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयरियाणं आसायणाए - गुरु के समान ही आचार्य की तेंतीस आशातना करना।

उवज्झायाणं आसायणाए - गुरु के समान ही उपाध्याय की भी तेंतीस आशातना करना।

साहूणं आसायणाए - साधुओं की निंदा करना।

साहूणीणं आसायणाए - साध्वियों की निंदा करना।

सावयाणं आसायणाए-सावियाणं आसायणाए - श्रावक एवं श्राविकाओं की निन्दा या तिरस्कार करना।

देवाणं आसायणाए-देवीणं आसायणाए - देवी-देवताओं द्वारा अधिकृत भूमि एवं वस्तु का ग्रहण उनकी अनुज्ञा के बिना करना।

इहलोगस्स आसायणाए-परलोगस्स आसायणाए - इहलोक एवं परलोक के सम्बन्ध में असत्य प्ररूपणा करना।

केवलीणं आसायणाए - केवलियों का अस्तित्व स्वीकार नहीं करना, अर्थात् उनके नास्तित्व का कथन करना।

केवलिपन्नतस्स धम्मस्स आसायणाए - केवली द्वारा प्ररूपित जिनधर्म की आशातना करना।

सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं आसायणाए - सर्व प्राणी, भूत, सत्त्व आदि को पीड़ा पहुँचाना तथा उनके सम्बन्ध में वितथ प्ररूपणा करना। यहाँ द्वीन्द्रिय आदि जीवों को प्राणी तथा पृथ्वीकाय आदि जीवों को भूत कहा गया है। समस्त संसार के प्राणियों के लिए तथा संसारी एवं मुक्त-ऐसे सब अनन्तानन्त जीवों के लिए 'सत्त्व' शब्द का व्यवहार होता है।

सदेवमणुयासुरस्सलोगस्स आसायणाए - देव, मनुष्य एवं असुरलोक की निन्दा करना। यहाँ देवलोक का तात्पर्य ऊर्ध्वलोक से है। मनुष्यलोक का तात्पर्य मध्यलोक से एवं असुरलोक का तात्पर्य पाताललोक से है।

कालस्स आसायणाए - काल के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करना।

सुअस्स आसायणाए - श्रुत की वितथ प्ररूपणा करना।

घोसहीनं - सूत्रादि को उदात्त स्वर में न बोलना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोगहीन - योगोद्वहन के बिना सूत्रादि पढ़ना।

असज्झाइए - अस्वाध्यायकाल में, अर्थात् रक्त आदि से वस्त्र वगैरह संसक्त होने पर तथा योगोद्वहन में स्वाध्याय हेतु जिस काल का वर्जन किया गया है, उस काल में स्वाध्याय करना।

"नमो चउवीसाए तित्थगराणं उसभादिमहावीरपज्जवसाणाणं। इणमेव निग्गंथं पावयणं, सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, नेआउयं, संसुद्धं, सल्लगत्त, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं, निव्वाणमग्गं, अवितहमविसंधिं, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं। इत्थं ठिआ जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करंति। तं धम्मं सद्दहामि, पत्तिआमि, रोएमि, फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि। तं धम्मं सद्दहंतो, पत्तिअंतो, रोअंतो, फासंतो, पालंतो, अणुपालंतो। तस्स धम्मस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए, विरओमि विराहणाए। असंजमं परिआणामि, संजमं उवसंपज्जामि। अबंभं परिआणामि, बंभं उवसंपज्जामि। अकप्पं परिआणामि, कप्पं उवसंपज्जामि। अन्नाणं परिआणामि, नाणं उवसंपज्जामि। अकिरियं परिआणामि, किरियं उवसंपज्जामि। मिच्छत्तं परिआणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि। अबोहिं परिआणामि, बोहिं उवसंपज्जामि। अमग्गं परिआणामि, मग्गं उवसंपज्जामि। जं संभरामि, जं च न संभरामि, जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि, तस्स सव्वस्स देवसियस्य अइआरस्स पडिक्कमामि। समणोऽहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो, अनियाणो, दिट्ठिसंपन्नो, मायामोसविवज्जिओ। अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु। जावंत के वि साहू, रयहरणगुच्छपडिग्गहधारा। पंचमहव्वयधारा अड्ढारसहस्ससीलंगधारा। अक्खयायारचरित्ता, ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि।।"

भावार्थ -

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर देवों को मैं नमस्कार करता हूँ। यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, सर्वोत्तम है, अद्वितीय है, अथवा केवल ज्ञानियों से प्ररूपित है, मोक्षप्रापक गुणों से परिपूर्ण है, मोक्ष पहुँचाने वाला है, पूर्ण शुद्ध, अर्थात् सर्वथा निष्कलंक है, माया आदि शल्यों को नष्ट करने वाला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, पूर्ण हितार्थरूप सिद्धि की प्राप्ति का उपाय है, कर्मबन्धन से मुक्ति का साधन है, मोक्षस्थान का मार्ग है, पूर्ण शान्तिरूप निर्वाण का मार्ग है, मिथ्यारहित है, विच्छेदरहित, अर्थात् सनातन नित्य है तथा पूर्वापर विरोध से रहित है, सब दुःखों का पूर्णतया क्षय करने का मार्ग है।

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थित रहने वाले, अर्थात् तद्नुसार आचरण करने वाले भव्य जीव सिद्ध होते हैं, सर्वज्ञ होते हैं, मुक्त होते हैं, पूर्ण आत्मशान्ति को प्राप्त करते हैं, समस्त दुःखों का सदाकाल के लिए अन्त करते हैं, अर्थात् सिद्ध होते हैं।

मैं निर्ग्रन्थ प्रवचनस्वरूप धर्म की श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, अर्थात् भक्तिपूर्वक स्वीकार करता हूँ, रुचि करता हूँ, स्पर्शना करता हूँ; पालना, अर्थात् रक्षा करता हूँ, विशेष रूप से निरन्तर पालना करता हूँ।

मैं प्रस्तुत जिन-धर्म की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ, स्पर्शना (आचरण) करता हुआ, रक्षण करता हुआ, विशेषरूपेण निरन्तर पालना करता हुआ धर्म की आराधना करने में पूर्ण रूप से अभ्युत्थित, अर्थात् सन्नद्ध हूँ और धर्म की विराधना-खण्डना से पूर्णतया निवृत्त होता हूँ।

असंयम को जानकर त्याग करता हूँ, संयम को स्वीकार करता हूँ। अब्रह्मचर्य को जानकर त्याग करता हूँ, ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ। अकृत्य को जानकर त्याग करता हूँ, कृत्य को स्वीकार करता हूँ, अज्ञान को जानकर त्याग करता हूँ, ज्ञान को स्वीकार करता हूँ। नास्तिवाद को जानकर त्याग करता हूँ, सम्यग्वाद को स्वीकार करता हूँ। असदाग्रह को जानकर त्याग करता हूँ, सदाग्रह को स्वीकार करता हूँ। अबोधित (मिथ्यात्व-कार्य) को जानकर त्याग करता हूँ, सम्यक्त्व-कार्य को स्वीकार करता हूँ, हिंसा आदि अमार्ग को जानकर त्याग करता हूँ, अहिंसा आदि मार्ग को स्वीकार करता हूँ।

(दोषशुद्धि) जो दोष स्मृतिस्थ है (याद है) और जो स्मृतिस्थ नहीं है, जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूँ और जिनका प्रतिक्रमण नहीं कर पाया हूँ, उन सब दिवस सम्बन्धी अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, सावद्य व्यापारों से एवं संसार से निवृत्त हूँ, पापकर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ एवं पापकर्मों का प्रत्याख्यान करने वाला हूँ; शल्य से, अर्थात् आसक्ति से रहित हूँ, सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ, मायासहित मृषावाद का परिहार करने वाला हूँ।

ढाई द्वीप और दो समुद्रों के परिमाण वाले मानव क्षेत्र में, अर्थात् पन्द्रह कर्मभूमियों में भी रजोहरण, गुच्छक एवं पात्र के धारण करने वाले तथा पाँच महाव्रत, अठारह हजार शील के धारण करने वाले एवं अक्षत आचार के पालक त्यागी साधु हैं, उन सबको सिर से, मन से एवं मस्तक से वन्दना करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

नेआउं - स्वामी होने से तथा समर्थवान् होने से मोक्ष में ले जाने वाला है।

सिद्धिमग्गं-मुत्तिमग्गं-निज्जाणमग्गं-निव्वाणमग्गं - सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्याणमार्ग एवं निर्वाणमार्ग आदि पर्यायवाची शब्द हैं, अतः एक की व्याख्या में ही दूसरों की व्याख्या भी समाहित ही है।

सिद्धि - सर्वहितार्थ की प्राप्ति करने को सिद्धि-ऐसा कहा गया है। मुत्ति - सर्व दोषों से मुक्त होने के कारण, उसे मुक्ति भी कहा जाता हैं। निव्वाण - सर्वसुखों की प्राप्ति होने से निव्वाण कहा गया है। निज्जाण - संसार-सागर से निर्गमन करने के कारण निर्याण कहा गया है। मग्गं, अर्थात् मार्ग। यहां मार्ग शब्द से आगम का भी ग्रहण किया गया है।

अविसंधि - द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से अव्यवच्छिन्न है, सदा शाश्वत है।

सव्वदुक्खप्पहीणमग्ग - सर्व दुःखों का अन्त करने वाला मार्ग। यहाँ मार्ग का आशय जिनोक्त तत्त्व, अर्थात् आगम से है।

इत्थ - इससे, अर्थात् मोक्षमार्ग के आचरण से।

सिज्झंति - अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करते हैं।

बुज्झंति - कैवल्य (बोध) को प्राप्त करते हैं।

मुच्चंति - आठों कर्मों से मुक्त होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिनिव्वायंति - परम सुख को प्राप्त करते हैं।

सद्दहामि - बहुमानपूर्वक चाहता हूँ।

पत्तिआमि - विश्वास रखता हूँ।

रोएमि - अन्तःकरण में उसके प्रति रुचि रखता हूँ।

पालेमि - आचरण द्वारा पालन करता हूँ।

अनुपालेमि - पुन-पुनः उसकी आवृत्ति करता हूँ, अर्थात् दोहराता हूँ।

असंयमंपरिआणामि - अनिन्द्रिय-निग्रहरूप असंयम को जानता हूँ एवं उसका त्याग करता हूँ।

संयम उपसंपज्जामि - इन्द्रियों के निग्रहरूप संयम को स्वीकार करता हूँ।

परिआणामि एवं उपसंपज्जामि की व्याख्या सर्वत्र एक जैसी ही है।

अकल्प - यति के आचार के विरूद्ध अकल्प को। कल्पं - यति के आचारानुसार कल्प को। अतत्त्वं - बाह्य तत्त्वों को। तत्त्वं - सप्त पदार्थरूप तत्त्व को। अमग्गं - मिथ्यात्वरूप आचार को। मग्गं - सदाचाररूप मार्ग को। अबोहिं - बोधि-बीज से रहित, अर्थात् अबोध को। बोहिं - बोधि-बीजरूप बोध को। अबंभं - ब्रह्मचर्य से रहित अब्रह्म को। बंभं - मैथुन क्रिया से रहित ब्रह्मचर्य को।

यहाँ जो स्मृति में है, जो स्मृति में नहीं, जिसका प्रतिक्रमण किया है और जिसका प्रतिक्रमण नहीं किया है, उसका पुनः प्रतिक्रमण करने का कथन मोहादि की विशुद्धि के लिए किया गया है।

समणोऽहं - असंयम प्रतिक्रमण से निष्फल होता है। संयम में निष्ठित, मैं श्रमण हूँ।

अनियाणे - अनिदान हूँ, अर्थात् इहलोक-परलोक सम्बन्धी फल की आकांक्षा से रहित हूँ।

दिट्ठि संपन्नो - दृष्टिसम्पन्न हूँ, अर्थात् तत्त्वालोक से युक्त हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार संयम में लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण करते हैं तथा सर्वपापों को निरस्त करने हेतु यतियों को (श्रमणों को) नमस्कार करते हैं।

अड्ढाइज्जेसुं दीवसमुद्देसु - जम्बुद्वीप, घातकी खण्ड, अर्द्धपुष्करद्वीप तथा लवण एवं कालोदधि समुद्र - यह अढ़ाई द्वीप समुद्र - परिमित मानव क्षेत्र है।

पन्नरससुकम्मभूमीसु - पाँच भरत, पाँच ऐरावत एवं महाविदेह में कुरू को छोड़कर पाँच - ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ कही गईं हैं।

समुद्देसु - समुद्र शब्द का ग्रहण अन्तर्द्वीप में स्थित मुनियों के नमस्कार करने के लिए किया गया है।

रयहरण गुच्छ ..... अक्खोहा चरित्त - इस कथन का तात्पर्य जिनकल्प से है।

अब आत्मशुद्धि करके प्रतिक्रमण के अन्त में मैं सर्वपापों का हरण करने वाले जिनेश्वर परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

"खामेमि सव्वेजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे। मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ।। एवमहं आलोइय निंदिअ गरहिअ दुगंछिअं सम्मं तिविहेण पडिक्कन्तो वन्दामि जिणे चउव्वीसं।।"

भावार्थ -

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और वे सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ पूर्ण मित्रता है, किसी के साथ भी मेरा वैर-विरोध नहीं है। इस प्रकार मैं सम्यक् आलोचना, निंदा, गर्हा और जुगुप्सा द्वारा तीन प्रकार से, अर्थात् मन, वचन एवं काया से प्रतिक्रमण कर पापों से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थंकर देवों को वन्दना करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

आलोइय - सर्व अतिचारों की आलोचना करके।

तिविहेण - मन-वचन एवं काया के योग से।

निंदिय, गरहिय, दुगंछिओ - ये सब आलोचना के ही पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु अत्यन्त (तीव्र भाव से) प्रतिक्रमण करने के लिए इनका पुनरावर्तन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ इस सूत्र में संध्या के समय, अर्थात् दिवस सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण करते समय "पगामसिज्जाएनिगामसिज्जाए"- यह कथन दिवस में सोने का निषेध होने से व्यर्थ है, किन्तु कदाचित् ग्रीष्मकाल में प्रमाद के कारण या खेद होने के कारण दिन में नींद ली हो, अथवा रात्रि-प्रतिक्रमण के समय शय्या सम्बन्धी अतिचारों की विस्मृति होने के कारण प्रतिक्रमण नहीं किया हो, तो उसके लिए दैवसिक प्रतिक्रमण में शय्यादण्डक का कथन किया गया है।

प्रभात में रात्रि-प्रतिक्रमण के समय "पडिक्कमामि गोयरचरियाए पडिक्कमामि चाउकालं"- यह कथन रात्रि में भिक्षाचर्या एवं प्रतिलेखना का अभाव होने के कारण अनावश्यक है, फिर भी दिवस सम्बन्धी जिन अतिचारों की आलोचना नहीं की गई है, या स्वप्न में उस प्रकार की क्रिया करने के कारण उस दोष का प्रतिक्रमण करने के लिए यह कथन किया गया है। इस प्रकार यति-प्रतिक्रमणसूत्र की व्याख्या की गई है।

अब यति के पाक्षिकसूत्र की व्याख्या करते हैं। वह इस प्रकार है -

"तित्थंकरे अ तित्थे, अतित्थ सिद्धे अ तित्थ सिद्धे अ। सिद्धे जिणे रिसी महरिसी य नाणं च वंदामि।।१।। जे य इमं गुण रयणसायरमविराहिऊण तिण्ण संसारा। ते मंगलं करित्ता, अहमवि आराहणाभिमुहो।।२।। मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुय च धम्मो अ। खंति गुत्ती मुत्ती, अज्जवया मद्दवं चेव।।३।। लोगम्मि संजया जं, करिंति परम रिसिदेसिअ मुआरं। अहमवि उवट्ठिओ तं महव्वय उच्चारणं काउ।।४।।"

भावार्थ -

वीतरागों को, प्रथम गणधर, संघ आदि रूप तीर्थ को, अतीर्थ सिद्धों को, तीर्थ सिद्धों को, सामान्य केवली रूप जिन को, मूल एवं उत्तर गुणों से युक्त मुनियों को, मूलगुण, उत्तरगुण एवं अणिमा आदि लब्धियों से युक्त महामुनियों को एवं मति आदि पाँच ज्ञानों को मैं वन्दन करता हूँ।।१।। जो महामुनि इस महाव्रतादि गुणरत्नरूप समुद्र को अखण्ड रीति से आराधन करके संसार-सागर को तिर गए हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन महामुनिवरों का मंगल करके मैं भी मोक्षमार्ग की आराधना के सम्मुख हुआ हूँ।।२।। अरिहंत, पन्द्रह प्रकार के सिद्ध, साधु, श्रुतागम तथा यति एवं श्रावक के आचाररूप धर्म, क्षमा (क्रोधत्याग), मन, वचन एवं काया का गोपन, लोभत्याग, मायात्याग एवं मानत्याग, निश्चय से - ये दस पद मेरा मंगल करने वाले हों।।३।। कर्मभूमिरूप लोक में, संयम के आराधक मुनिजन पूर्वमुनियों द्वारा कथित, सर्वोत्कृष्ट जिन पाँच महाव्रतों का जो उच्चारण करते हैं, उन पाँच महाव्रतों का उच्चारण करने के लिए मैं भी उद्यमवान् हुआ हूँ।।४।।

विशिष्टार्थ - पाक्षिकसूत्र के प्रारम्भ में सर्वप्रथम मंगलाचरण एवं कार्य की सिद्धि के लिए अर्हत् एवं सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया गया है। यहाँ "अहं वन्दे" क्रिया पद है, जिसका प्रथम गाथा में सर्वत्र प्रयोग करना है। २. तीसरी गाथा के माध्यम से स्वयं के मंगल की एवं जिनधर्म की प्राप्ति की कामना की गई है। ३. चौथी गाथा के माध्यम से महाव्रतों के उच्चारण का सूचन किया गया है।

"से किं तं महव्वयउच्चारणा ? महव्वय उच्चारणा पंचविहा पण्णत्ता राइभोअणवेरमण छट्ठा, तं जहा सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वाओ राइभोअणाओ वेरमणं।"

भावार्थ -

उन महाव्रतों का ग्रहण कितने प्रकार का है ? तो कहते हैं कि महाव्रतों का ग्रहण पाँच प्रकार का कहा गया है तथा रात्रिभोजन का त्याग करना यह छठवां व्रत है। वे इस प्रकार हैं - १. सर्वप्रकार के स्थावर एवं सूक्ष्म जीवों की विराधनारूप जीव-हिंसा, अर्थात् प्राणातिपात से विरत होना २. हास्य, लोभ आदि के कारण होने वाले सर्वप्रकार के असत्य भाषण (मृषावाद) का त्याग करना ३. सर्वप्रकार की चोरी करने रूप अदत्तादान से विरत होना ४. स्त्री-पुरुष के दैहिक सम्बन्ध का पूर्ण रूप से त्याग करना ५. सर्वप्रकार के परिग्रह एवं मूर्च्छा से अलग होना एवं ६. मात्र पवन को ग्रहण करने के सिवाय सर्वप्रकार के रात्रिभोजन का त्याग करना। (यहाँ विरत होने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ त्याग करना जानना चाहिए) - इस प्रकार बताकर, अब प्रथम व्रत के उच्चारण के सम्बन्ध में बताते हैं -

"तत्थ खलु पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वं भन्ते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेवसयं पाणे अइवाएज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करन्तं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भन्ते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

उसमें निश्चय से हे भगवन् ! प्रथम महाव्रत में प्राणातिपात जीवों की हिंसा से विरत होना प्रभु ने फरमाया है, अतः हे गुरुवर ! मैं सूक्ष्मजीव, बादरजीव, त्रसजीव, पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के स्थावर जीव - इन चारों प्रकार के जीवों की स्वयं हिंसा नहीं करना, न दूसरों द्वारा जीवों की हिंसा कराना तथा जीवों की हिंसा करते हुए दूसरों को भी अच्छा नहीं समझना, उनकी अनुमोदना नहीं करना - जीवनपर्यन्त कृत, कारित एवं अनुमोदित रूप त्रिविध हिंसा को मन, वचन एवं काया रूप त्रिविध योग से न तो स्वयं करूं, न दूसरों से करवाऊं और न ही करते हुए दूसरों को अच्छा समझूं। हे प्रभो ! भूतकाल में की गई उस हिंसा की प्रतिक्रमणरूप आलोचना करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्वबुद्धि का, आत्मीय-भाव का त्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

भंते - गुरु के आगे प्रतिक्रमण करने के लिए भंते शब्द पूज्य का संबोधन है।

विरमण - विरमण का तात्पर्य "सम्पूर्ण निवृत्ति" है। सर्वत्र इस शब्द की यही व्याख्या करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पढमे महव्वए - कुछ लोग यहाँ इस पद में सप्तमी के स्थान पर प्रथमा विभक्ति मानते हैं। (अर्द्धमागधी में पढ़मे शब्द सप्तमी न होकर प्रथमा ही होता है।)

से पाणाइवाए - "से" शब्द व्रत का वाचक है। स्थावर, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय - ये पाँच स्थावर हैं, इनके सूक्ष्म एवं बादर - दो भेद हैं। बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रसजीव कहलाते हैं। जीवों में से किसी भी जीव का घात करना प्राणातिपात कहलाता है।

पुनः द्रव्यादि के भेदों से प्राणातिपात की व्याख्या करते हैं।

"से पाणाइवाए चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा-दव्वओ खित्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओणं पाणाइवाए छसु जीवनिकाएसु, खित्तओणं पाणाइवाए सव्वलोए, कालओणं पाणाइवाए दिया वा राओ वा, भावओणं पाणाइवाए रागेण वा दोसेण वा।"

भावार्थ -

परमात्मा ने प्राणातिपात, अर्थात् जीवों की हिंसा चार प्रकार की बताई है। वे चार प्रकार हैं - द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव।

द्रव्य से प्राणातिपात - पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रयकाय - इन षट्जीवनिकायों में किसी जीव की हिंसा, क्षेत्र की अपेक्षा प्राणातिपात - चौदह राजलोकपर्यन्त लोक में कहीं भी हिंसा करना, काल-आश्रित दिवस में या रात्रि में प्राणातिपात, अर्थात् जीवों की हिंसा करना और राग तथा द्वेष के वशीभूत जीवों की हिंसा करना भाव आश्रित है।

अज्ञानता आदि के द्वारा जीवों की विराधना करने से जो यतिधर्म के व्रत का भंग हुआ हो, उसकी विशेष निन्दा के लिए कहते हैं -

"जं पि य मए इमस्स धम्मस्स केवलि पन्नत्तस्स, अहिंसा लक्खणस्स, सच्चाहिट्ठियस्स, विणयमूलस्स, खन्तिप्पहाणस्स,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिरणसोवणियस्स, उवसम्पभवस्स नवबंभचेर गुत्तस्स अपयमाणस्स[1], भिक्खावित्तिअस्स, कुक्खी, संबलस्स, निरग्गिसरणस्स, संपक्खालियस्स, चत्तदोसस्स, गुणग्गाहियस्स, निव्वियारस्स, निव्वित्तिलक्खणस्स, पंचमहव्वयजुत्तस्स, असंनिहिसंचयस्स[2], अविसंवाइयस्स, संसारपारगामिस्स, निव्वाणगमण- पज्जवसाणफलस्स।''

भावार्थ -

१. केवली भगवान् द्वारा प्रज्ञप्त २. प्राणीमात्र की रक्षा करने एवं कराने वाला, अर्थात् दया का प्रतीक ३. सत्य से व्याप्त ४. विनय से उत्पन्न ५. क्षमा से श्रेष्ठ ६. द्रव्य एवं सुवर्ण आदि से रहित ७. कषाय के क्षय से उत्पन्न होने वाला ८. नवविध ब्रह्मचर्य गुप्तियों के सहित ९. मान से रहित १०. भिक्षाचर्या द्वारा जीवन-यापन कराने वाला ११. उदरपूर्ति के अतिरिक्त कोई खाद्य वस्तु का संचय नहीं कराने वाला १२. अग्नि-संस्पर्श के आदेश से रहित १३. पापमल का सम्पूर्णतया क्षय कराने वाला १४. राग आदि दोषों का त्याग कराने वाला १५. गुण ग्रहण कराने के स्वभाव वाला १६. इन्द्रिय एवं मन के विकारों को दूर कराने वाला १७. सर्वसावद्ययोग की विरति कराने वाला १८. पाँच महाव्रतों से युक्त १९. संयम के प्रति ग्लानि को दूर करने वाला २०. कथनी एवं करनी में समानता कराने वाला, अर्थात् संविदा से युक्त २१. संसार-समुद्र से पार कराने वाला एवं २२. मोक्षपद-प्राप्ति हेतु परमार्थरूपी बल को देने वाला - इस प्रकार बाईस विशेषण वाला यह धर्म है। इस धर्म को अंगीकार करने के पूर्व जो प्राणातिपात मैंने निम्न कारणों से -

''पुव्विं अण्णाणयाए असवणयाए, अबोहिआए, अणभिगमेणं। अभिगमेण वा पमाएणं, रागदोसपडिबद्धयाए बालयाए मोहयाए

---

[1] मूलग्रन्थ में अपयमाणस्स का अर्थ मान से रहित है, जबकि ''साधु प्रतिक्रमण सूत्र'' के अनुवादकर्त्ता यतीन्द्रसूरि द्वारा इसका अर्थ पचन-पाचन आदि आरम्भ से रहित - ऐसा बताया गया है।

[2] इसी प्रकार मूलग्रन्थ में असंनिहिसंचयस्स का ''संयम के प्रति ग्लानि को दूर करने वाला''-ऐसा अर्थ किया गया है, जबकि साधु प्रतिक्रमण सूत्र के अनुवादकर्त्ता ने इसका अर्थ मोदक, उदक, खर्जूर, हरड़, मेवा आदि का संचय न कराने वाला किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्दयाए[1] किड्डयाए[1] तिगारवगरुयाए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदियव-सट्टेणं पडिपुण्णभारिआए सायासोक्खमणुपालयंतेणं। इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु पाणाइवाओ कओ वा काराविओ वा कीरंतो वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं।''

भावार्थ -

पूर्वकाल में अज्ञानतावश धर्म-श्रवण नहीं करने पर और सुनकर भी धर्म का बोध नहीं होने पर, अथवा श्रवण और बोध होने पर भी धर्म का आचरण भलीभाँति नहीं करने पर - इन चार कारणों से मेरे द्वारा प्राणातिपात हो गया हो, उसका मैं त्याग करता हूँ, अथवा धर्म को अंगीकार करने पर भी कषाय आदि प्रमादों से, राग-द्वेष की व्याकुलता से, बालभाव से, मिथ्यात्व आदि मोह से, दूसरों के रागादि के वशीभूत होने से, क्लेशकर्म करने से, ऋद्धि-रस-शाता-इन तीन गारवों के अभिमान से, क्रोधादि चार कषायों के उदय से, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न आर्त्तध्यान से, कर्मों के भार से, सातावेदनीय कर्मोदय से प्राप्त सुख-भोगों की आसक्ति से - इस प्रकार प्राणातिपात महाव्रत के अतिचारों द्वारा इस भव में अथवा अतीत एवं अनागत सम्बन्धी अन्य भवों में जीवों का मैंने विनाश किया हो, करवाया हो या करते हुए दूसरों के पाप की अनुमोदना की हो, तो उस हिंसाजनक प्रवृत्ति की मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ। कृत, कारित और अनुमोदित- ऐसे त्रिविध प्राणातिपात की मन-वचन-कायारूप त्रिविध योग से निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

''अईयं निन्दामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं जावज्जीवाए अणिस्सिओ हं नेव सयं पाणे अइवाएज्जा

---

[1] यहा मूलग्रन्थ में मूल पाठ ''मंदयाए एवं किड्डयाए'' शब्द है, किन्तु संस्कृत छाया में ग्रंथकार ने इसको क्रमशः ''भण्डतया एवं क्लिष्टतया'' रूप में उल्लेख करके उनका अर्थ क्रमशः दूसरों के रागादि के वशीभूत होने से तथा क्लेशकर्म द्वारा किया है, जबकि साधु प्रतिक्रमण सूत्र में अनुवादकर्त्ता विजय यतीन्द्रसूरि द्वारा इनका अर्थ क्रमशः आलस्य आदि से तथा द्यूतादि क्रीड़ा करने के कारण किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा[1] पाणे अइवायन्ते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा। तं जहा अरिहन्तसक्खिअं, सिद्धसक्खिअं, साहू-सक्खिअं, देवसक्खिअं, अप्पसक्खिअं। एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय विरय पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा"

भावार्थ -

भूतकाल में किए गए सर्व प्राणातिपात की मैं निन्दा करता हूँ, वर्तमानकाल में हुए प्राणातिपात का निवारण करता हूँ और भविष्यकाल में होने वाले प्राणातिपात का निषेध करता हूँ। आश्रय से रहित होकर मैं जीवनपर्यन्त स्वयं प्राणों का विनाश नहीं करूं, दूसरों के पास प्राणों का विनाश नहीं कराऊं, प्राणों का विनाश करते हुए दूसरों को भी अच्छा नहीं समझूं, वह इस प्रमाण से अरिहंत की साक्षी से सिद्ध भगवंतों की साक्षी से, साधुओं की साक्षी से, अधिष्ठायक आदि देवों की साक्षी से (कुछ लोग आत्मसाक्षी से- इस प्रकार भी कहते हैं) प्रत्याख्यान लेता हूँ। इस प्रकार - साधु अथवा साध्वी, दिवस में या रात्रि में, अकेले हों अथवा परिषद् में हों, स्वप्नावस्था में हों अथवा जागृतावस्था में हों, निरन्तर संयमवन्त, विरतिवन्त तथा घातिकर्मरूप पापकर्म का नाश करने वाले होते हैं।

विशेष - यहाँ अर्हत्, सिद्ध, साधु, अधिष्ठायकदेव एवं आत्मसाक्षी से जिस कार्य का निषेध किया है, उन कार्यों को नहीं करने के अर्थ में अरिहंत सक्खिअं आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। केवल एवं परम् अवधिज्ञानी आदि को सर्वप्रत्यक्ष होने से इस प्रकार का कथन किया गया है।

"एस खलु पाणाइवायस्स वेरमणे, हिए सुहे[2] खमे निस्सेसिए,

---

[1] मूलग्रन्थ में "धाणेवणेहिं पाणे अइवाया विद्या" पाठ मिलता है, जो हमारी दृष्टि से उचित नहीं है।

[2] मूलग्रन्थ में सुहे शब्द की संस्कृत छाया श्रुतं की है, पाठान्तर से सुख शब्द भी मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आणुगामिए, पारगामिए[1] सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं, अदुक्खणयाए, असोयणयाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए, अपीडणयाए, अपरियावणयाए अणोद्दवणयाए, महत्थे, महागुणे, महाणुभावे महापुरिसाणुचिन्ने, परमरिसिदेसिए, पसत्थे तं दुक्खक्खयाए कम्मक्खयाए, मोक्खयाए[2], बोहिलाभाए संसारूत्तारणाए त्तिकट्टु उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।"

भावार्थ -

यह प्राणातिपात विरमणव्रत निश्चय से हितकारी है, सुज्ञात है, तारने में समर्थ है, सम्पूर्ण रूप से पालन करने योग्य है, स्वयं के लिए आचरणीय है, दूसरों को प्रतिपादित करने योग्य है, इसलिए सर्वपंचेन्द्रिय प्राणियों को, सर्व एकेन्द्रिय जीवों को, नारकी, देव, मनुष्य एवं असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाले नर, तिर्यंचो को, सोपक्रम आयुष्य वाले नर, तिर्यंच और विकलेन्द्रियों को दुःख नहीं देने से, सन्ताप नहीं उपजाने से, शरीर को जीर्ण नहीं बना देने से, अत्यधिक पीड़ा नहीं देने से, चारों ओर से शरीर को सन्ताप उत्पन्न नहीं करने से, त्रास या मरण-कष्टादि उपद्रव नहीं करने से- यह व्रत हितकारी, सुज्ञात, क्षेम, निःश्रेयस आदि का करने वाला है तथा यह प्राणातिपात-विरमण-व्रत महान् फल का दायक है, महान् गुणों का आधाररूप है, भारी माहात्म्य वाला है, महापुरुषों ने इसका आचरण किया है, महर्षियों द्वारा प्ररूपित एवं अत्यन्त विशुद्ध-शुभ है, इसलिए दुःखों का नाश करने के लिए, कर्मों का क्षय करने के लिए, समकित की प्राप्ति के लिए और संसार-समुद्र को पार करने के लिए त्रिकरण-शुद्धिपूर्वक इस महाव्रत को अंगीकार करके विचरण करता हूँ।

"पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओवेरमणं।"

---

[1] मूलग्रन्थ में 'पारगामिए' शब्द की संस्कृत छाया परानुगामी करके इसकी व्याख्या "दूसरों को बताने योग्य"- इस प्रकार की है। पाठान्तर से इसका अर्थ संसार को पार कराने वाला मिलता है।

[2] कम्मक्खयाए शब्द के पश्चात् पाठान्तर से मोक्खयाए शब्द भी मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

हे भगवन् ! पहले महाव्रत में सर्वप्रकार के प्राणातिपात से आज से निवृत्त होता हूँ।

द्वितीय महाव्रत -

"अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं सव्वं भंते! मुसावायं पच्चक्खामि से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भन्ते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

हे भगवन् ! प्रथम महाव्रत के बाद दूसरे महाव्रत में मृषावाद से विरत होना है, इसलिए हे गुरुवर ! मैं समस्त मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ - उसका सर्वप्रकार से त्याग करता हूँ, उस महाव्रत का पालन किस प्रकार से होता है ? तो कहते हैं - क्रोध से, लोभ से, भय से, हास्य से मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूंगा, दूसरे किसी से असत्य नहीं बुलवाऊंगा तथा असत्य बोलते हुए दूसरों को भी अच्छा नहीं मानूंगा। जीवनपर्यन्त मन-वचन-कायारूप तीन योग से असत्य भाषण नहीं करूं, न ही दूसरों से करवाऊं तथा असत्य बोलने वाले अन्य को भी अच्छा नहीं समझूं - इन तीन करण से, हे भगवन्! उस मृषावाद सम्बन्धी पाप का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् उसकी आलोचना करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्वबुद्धि का, अर्थात् आत्मीयभाव का त्याग करता हूँ।

"से मुसावाए चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओणं मुसावाए सव्वदव्वेसु खित्तओणं मुसावाए लोए वा अलोए वा कालओणं मुसावाए दिआ वा राओ वा भावओणं मुसावाए रागेण वा दोसेण वा।"

भावार्थ -

वह मृषावाद द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा चार प्रकार का कहा गया है, जो इस प्रकार है - द्रव्याश्रयी मृषावाद-जीवाजीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप षट्द्रव्यों की विपरीत प्ररूपणा करना, क्षेत्राश्रयी मृषावाद - चौदह राजलोक परिमाण लोक एवं उसके बाहर, अर्थात् आलोक सम्बन्धी विपरीत प्ररूपणा करना, कालाश्रयी मृषावाद-दिवस और रात्रि में असत्य बोलना और भावाश्रयी मृषावाद-राग एवं द्वेष के वशीभूत होकर असत्य बोलना संभव है।

जं पिय य मए इमस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अहिंसालक्खणस्स सच्चाहिट्ठिअस्स विणय मूलस्स खंतिप्पहाणस्स अहिरण्णसोवणिअस्स उवसमप्पभवस्स नवबंभचेरगुत्तस्स अपयमाणस्स भिक्खावित्तिअस्स कुक्खी संबलस्स निरग्गिसरणस्स संपक्खालिअस्स चत्त दोसस्स गुणग्गाहिअस्स निव्विआरस्स निव्वित्तिलक्खणस्स पंचमहव्वय जुत्तस्स असंनिहिसंचयस्स अविसंवाइयस्स संसारपारगामिअस्स निव्वाण-गमणपज्जवसाणफलस्स पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहियाए अणभिगमेणं, अभिगमेण वा, पमाएणं रागदोस पडिबद्धयाए बालयाए, मोहयाए, मन्दयाए किड्डयाए तिगारवगरूआए चउक्कसाओवगएणं पंचिंदिअवसट्टेणं, पडिपुण्णभारियाए सायासोक्खमणुपालयंतेणं''

इस मूल पाठ का शब्दार्थ एवं भावार्थ प्रथम महाव्रत में कहे गए अनुसार ही है।

''इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु मुसावाओ भासिओ वा भासाविओ वा भासिज्जन्तो वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईअं निंदामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि सव्वं मुसावायं जावज्जीवाए अणिस्सिओ हं नेव सयं मुसं वएज्जा नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयन्ते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा। तं जहा अरिहंतसक्खिअं सिद्धसक्खिअं साहूसक्खिअं देवसक्खिअं अप्पसक्खियं एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खूणि वा संजय विरय पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा। एस खलु मुसावायस्स वेरमणे।''

इस पाठ में प्राणातिपात-विरमणव्रत के स्थान पर मृषावाद-विरमणव्रत सम्बन्धी जो-जो गाथाएँ दी गई हैं, उनका शब्दार्थ एवं भावार्थ इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"मुसावाओ भासिओ वा भासाविओ वा भासिज्जंतो वा परेहि समुणुन्नाओ"

भावार्थ -

स्वयं मृषावाद बोला हो, दूसरे व्यक्तियों से मृषावाद बुलवाया हो और असत्य बोलते हुए दूसरों को अच्छा माना हो।

"पच्चक्खामि सव्वं मुसावायं जावज्जीवाए अणिस्सिओ हं नेवसयं मुसं वएज्जा, नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणामि"

भावार्थ -

सर्वप्रकार के मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। आश्रय से रहित हो मैं स्वयं कभी असत्य नहीं बोलूंगा, दूसरे व्यक्तियों से कभी असत्य नहीं बुलवाऊंगा और असत्य बोलते हुए अन्य व्यक्तियों को भी अच्छा नहीं मानूंगा।

इन गाथाओं के अतिरिक्त शेष भावार्थ पूर्ववत् ही है।

"एसु खलु मुसावायस्स वेरमणे"

भावार्थ -

निश्चय से यह मृषावाद-विरमणव्रत -

"हिए सुहे ..... विहरामि।"

इस पाठ का अर्थ भी पहले महाव्रत में कहे गए अनुसार ही है।

"दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं"

भावार्थ -

हे भगवन् ! दूसरे महाव्रत में आज से समस्त प्रकार के मृषावाद भाषण का त्याग करने को उपस्थित हुआ हूँ।

तृतीय महाव्रत -

"अहावरे तच्चे भन्ते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि। से गामे वा नगरे वा अरन्ने वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंते वि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

हे भगवन् ! अब इसके बाद तीसरे महाव्रत में अदत्तादान (तस्कर-वृत्ति) से विरत होना बताया गया है, इसलिए हे भगवन् ! सर्वप्रकार की चोरी करने का त्याग करता हूँ। वह गाँव में या नगर में, जंगल में कम मूल्य की, अथवा अल्प मूल्य की, अथवा परिमाण से छोटी या परिमाण से बड़ी, अथवा सचित्त वस्तु या अचित्त जीवरहित वस्तु हो, बिना दी हुई वस्तु को, मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा, बिना दी हुई वस्तु को दूसरों से ग्रहण नहीं करवाऊंगा एवं अदत्त वस्तु ग्रहण करते हुए दूसरों को भी अच्छा नहीं मानूंगा, अर्थात् उनकी प्रशंसा नहीं करूंगा। जीवनपर्यन्त मन-वचन-कायारूप त्रिविध योग से स्वयं अदत्त वस्तु का ग्रहण नहीं करूं, दूसरों से अदत्त वस्तु का ग्रहण नहीं करवाऊं और अदत्त वस्तु ग्रहण करने वाले अन्यों को भी अच्छा नहीं मानूं - इन त्रिविध करण से हे भगवन् ! उस अदत्तादान सम्बन्धी पाप का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्वबुद्धि का त्याग करता हूँ।

"से अदिन्नादाणे चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ दव्वओणं अदिन्नादाणे गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु, खित्तओणं अदिन्नादाणे गामे वा नगरे वा अरन्ने वा कालओणं अदिन्नादाणे दिआ वा राओ वा भावओणं अदिन्नादाणे रागेण वा दोसेण वा।"

भावार्थ -

भगवान् ने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव आश्रित वह अदत्तादान चार प्रकार का बताया है। द्रव्याश्रित अदत्तादान - ग्रहण एवं धारण हो सकने वाले द्रव्यों के विषय में, क्षेत्राश्रित अदत्तादान - गाँव में या नगर में या जंगल में, कालाश्रित अदत्तादान - दिवस में या रात्रि में एवं भावाश्रित अदत्तादान - राग से या द्वेष से संभव होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जं पि य ..... साया सुक्खमणुपालयंतेणं।"

इस पाठ का अर्थ प्रथम महाव्रत में कहे गए अनुसार ही है।

"इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु। अदिन्नादाणं गहिअं वा गाहाविअं वा घिप्पंतं वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईअं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि, सव्वं आदिन्नदाणं जावज्जीवाए अणिस्सिओ हं नेव सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा, नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा, तं जहा अरिहंतसक्खिअं, सिद्ध-सक्खिअं, साहूसक्खिअं, देवसक्खिअं, अप्पसक्खिअं, एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय विरय पडिहय पच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा। एस खलु अदिन्नादाणस्स वेरमणे।"

इस पाठ में प्रथम महाव्रत के स्थान पर तृतीय अदत्तादान विरमणव्रत सम्बन्धी जो- जो गाथाएँ दी गई हैं, उनका शब्दार्थ एवं भावार्थ इस प्रकार है -

"अदिन्नादाणं गहिअ वा गाहाविअं वा घिप्पंतो वा परेहिं समणुन्नाओ"

भावार्थ -

स्वयं ने अदत्तादान को ग्रहण किया हो या दूसरों से अदत्तादान का ग्रहण करवाया हो और ग्रहण करते हुए अन्यों की अनुमोदना की हो, तो मैं उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

"एस खलु अदिन्नादाणस्स वेरमणे"

भावार्थ -

निश्चय से यह अदत्तादान विरमण नामक तीसरा महाव्रत -

"हिए सुहे ..... विहरामि।"

इस पाठ का अर्थ पहले महाव्रत में कहे गए अनुसार ही है।

"तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

अब आज से तीसरे महाव्रत में मैं समस्त प्रकार के अदत्तादान का त्याग करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ।

चौथा महाव्रत -

"अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भंते ! मेहुणाओ पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणिअं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवन्ते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

हे भगवन् ! अब वीतराग परमात्मा ने अन्य चौथे महाव्रत में मैथुन से सर्वथा विरत होना बतलाया है, इसलिए हे गुरुवर ! समस्त प्रकार के मैथुन का निषेध करता हूँ। वह इस प्रकार है - देव एवं देवी सम्बन्धी, स्त्री एवं पुरुष सम्बन्धी, बड़व (घोड़ी), अश्व आदि तिर्यंच योनि सम्बन्धी मैथुन का मैं स्वयं सेवन नहीं करूंगा, अन्य किसी से भी मैथुन- सेवन नहीं करवाऊंगा और मैथुन-सेवन करते हुए अन्यों की भी प्रशंसा नहीं करूंगा। जीवनपर्यन्त मन, वचन, कायारूप त्रिविध योग से और तीन करण से मैं स्वयं मैथुन का सेवन नहीं करूं, न ही दूसरों से करवाऊं और न ही अन्य किसी को करते हुए अच्छा मानूं। (इस व्रत सम्बन्धी अगर कुछ पाप लगा हो तो) हे भगवन् ! उस पाप का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ तथा उसके प्रति अपनी ममत्व-बुद्धि का त्याग करता हूँ।

"से मेहुणे चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ दव्वओणं मेहुणे रूवेसु वा रूवसहगएसु वा खित्तओणं मेहुणे उड्ढलोए वा अहोलोए वा तिरिअलोए वा कालओणं मेहुणे दिआ वा राओ वा भावओणं मेहुणे रागेण वा दोसेण वा"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

वह मैथुन द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव-आश्रित चार प्रकार का है। वह इस प्रकार है - द्रव्य आश्रित मैथुन - आकृति विशेष अजीव वस्तु या रूप, लावण्य से युक्त सजीव मनुष्यादि में। क्षेत्र आश्रित मैथुन - ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में एवं तिर्यक्लोक में। काल आश्रित मैथुन - दिन में या रात्रि में। भाव आश्रित मैथुन - राग आदि के वशीभूत होने में।

"जं पि य ..... साया सोक्खमणुपालयंतेणं"

इस मूल पाठ का अर्थ प्रथम महाव्रत में किए गए अनुसार ही है।

"इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु मेहुणं सेविअं वा सेवाविअं वा सेविज्जंतं वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईअं निंदामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि सव्वं मेहुणं जावज्जीवाए अणिस्सिओ हं नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवन्ते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा। तं जहा अरिहंतसक्खिअं, सिद्धसक्खिअं, साहूसक्खिअं, देवसक्खिअं, अप्पसक्खिअं, एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय विरय पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा। एस खलु मेहुणस्स वेरमणे।"

इस पाठ में प्रथम महाव्रत के स्थान पर चौथे मैथुन-विरमणव्रत सम्बन्धी जो-जो गाथाएँ दी गई हैं, उनका शब्दार्थ एवं भावार्थ इस प्रकार है -

"मेहुणं सेविअं वा सेवाविअं वा सेविज्जंतं वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि।"

भावार्थ -

मैंने स्वयं ने मैथुन का सेवन किया हो, दूसरों से करवाया हो और मैथुन का सेवन करते हुए अन्य लोगों को अच्छा माना हो, तो उसकी मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

"नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवंते वि अन्नं न समणुजाणामि।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

मैं स्वयं मैथुन का सेवन नहीं करूंगा, दूसरों से मैथुन का सेवन नहीं करवाऊंगा और मैथुन का सेवन करते हुए दूसरे लोगो की अनुमोदना भी नहीं करूंगा।

"एस खलु मेहुणस्स वेरमणे"

भावार्थ - निश्चय से मैथुन-विरमणव्रत -

"हिए सुहे ..... विहरामि"

इस मूल पाठ का अर्थ प्रथम महाव्रत के अनुसार ही है।

"चउत्थे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं"

भावार्थ -

हे भगवन् ! चौथे महाव्रत में समस्त प्रकार के मैथुन-सेवन का परित्याग करने के लिए मैं उपस्थित हुआ हूँ।

पांचवाँ महाव्रत -

"अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं सव्वं भंते! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हेज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हावेज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भन्ते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

हे भगवन् ! भगवान् ने अन्य पाँचवें महाव्रत में सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग करना बतलाया है, इसलिए हे भगवन्! समग्र परिग्रह का मैं निषेध करता हूँ। वह अल्प मूल्य वाला या बहुत मूल्य वाला, परिमाण से छोटा या परिमाण से बड़ा, सजीव या अजीव वस्तु के परिग्रह को स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा, दूसरे किसी से परिग्रह ग्रहण नहीं करवाऊंगा, परिग्रह को ग्रहण करते हुए अन्य को भी अच्छा नहीं मानूंगा। जीवन-पर्यन्त मन, वचन, कायारूप त्रिविध योग से परिग्रह का ग्रहण करूं नहीं, करवाऊं नहीं और परिग्रह को ग्रहण करते हुए अन्य को भी अच्छा मानूं नहीं - इस प्रकार त्रिविध करण से हे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवन् ! उस परिग्रह सम्बन्धी पाप का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्वबुद्धि का त्याग करता हूँ।

"से परिग्गहे चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओणं परिग्गहे सचित्ताचित्तमीसेसु दव्वेसु, खित्तओणं परिग्गहे लोए वा अलोए वा कालओणं परिग्गहे दिआ वा राओ वा भावओणं परिग्गहे अप्पग्घे वा महग्घे वा रागेण वा दोसेण वा"

भावार्थ -

वह परिग्रह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आश्रित चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है - द्रव्याश्रित परिग्रह - सचित्त, अचित्त एवं मिश्र वस्तु के प्रति मूर्च्छा रखने सम्बन्धी द्रव्यों में। क्षेत्राश्रित परिग्रह - लोक या अलोक में। कालाश्रित परिग्रह - दिवस या रात्रि में। भावाश्रित परिग्रह - अल्पमूल्य वस्तु या बहुमूल्य वस्तु में, राग या द्वेष से होना संभव है।

"जं पि य ..... सायासोक्खमणु पालयंतेणं"

इस पाठ का अर्थ प्रथम महाव्रत में कहे गए अनुसार ही है।

"इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु। परिग्गहो गहिओ वा गाहाविओ वा घिप्पंतो वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं अईअं निंदामि, पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि, सव्वं परिग्गहं जावज्जीवाए, अणिस्सिओ हं नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा, परिग्गहं परिगिण्हन्ते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा, तं जहा अरिहंतसक्खिअं, सिद्धसक्खिअं साहूसक्खिअं देवसक्खिअं अप्पसक्खिअं एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खुणि वा संजय विरय पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा। एस खलु परिग्गहस्स वेरमणे।"

इस मूल पाठ में प्रथम महाव्रत के स्थान पर पाँचवें परिग्रह-विरमण-महाव्रत सम्बन्धी जो-जो गाथाएँ दी गई हैं, उनका शब्दार्थ एवं भावार्थ इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"परिग्गहो गहिओ वा गाहाविओ वा घिप्पंतो वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि।"

भावार्थ -

स्वयं ने परिग्रह का ग्रहण किया हो या दूसरों से ग्रहण करवाया हो या परिग्रह ग्रहण करते हुए अन्यों की अनुमोदना की हो, तो उसकी मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

"नेवसयं परिग्गहं परिगिण्हज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा।"

भावार्थ -

मैं स्वयं परिग्रह ग्रहण नहीं करूं, दूसरों के पास परिग्रह ग्रहण नहीं करवाऊं एवं परिग्रह ग्रहण करते हुए दूसरों की भी अनुमोदना नहीं करूं।

"एस खलु परिग्गहस्स वेरमणे"

भावार्थ -

निश्चय से यह परिग्रह-विरमण-महाव्रत -

"हिए सुहे ..... विहरामि।"

इस मूल पाठ का अर्थ प्रथम महाव्रत में कहे गए अनुसार ही है।

"पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओवेरमणं"

भावार्थ -

हे भगवन् ! पाँचवें महाव्रत में समस्त प्रकार के परिग्रह-विरमण-व्रत के लिए मैं उपस्थित हुआ हूँ।

छठवां रात्रिभोजन-विरमणव्रत -

"अहावरे छट्ठे भंते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं सव्वं भंते ! राइभोअणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

हे भगवन् ! अन्य छठवें व्रत में रात्रिभोजन से विराम लेता हूँ। हे भगवन् ! समस्त प्रकार के रात्रिभोजन का त्याग करता हूँ। वह इस प्रकार कि - अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम को मैं स्वयं रात्रि में खाऊंगा नहीं, दूसरो को रात्रि में खिलाऊंगा नहीं तथा रात्रि में खाते हुए दूसरों को भी अच्छा नहीं मानूंगा। जीवनपर्यन्त कृत, कारित अनुमोदितरूप तीन करण से, मन, वचन एवं कायारूप त्रिविध योग से रात्रिभोजन स्वयं करूं नहीं, दूसरों से करवाऊं नहीं और रात्रिभोजन करते हुए दूसरों की भी अनुमोदना नहीं करूंगा। हे भगवन्! उस रात्रिभोजन सम्बन्धी पाप का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्वबुद्धि का त्याग करता हूँ।

"से राइभोअणे चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओणं राईभोअणे असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा, खित्तओणं राई भोअणे समयखित्ते, कालओणं राईभोअणे दिआ वा राओ वा भावओणं राईभोअणे तित्ते वा कडुए वा कसाए वा अंबिले वा महुरे वा लवणे वा रागेण वा दोसेण वा।"

भावार्थ -

वह रात्रिभोजन द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव-आश्रित चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है - द्रव्याश्रित रात्रिभोजन - अशन, पान, खादिम और स्वादिम विषयक। क्षेत्राश्रित रात्रिभोजन - समय-क्षेत्र, अर्थात् ढाई द्वीप, समुद्र में। कालाश्रित रात्रिभोजन - दिवस या रात्रि में। भावाश्रित रात्रिभोजन - तिक्त, अथवा कटु (कड़वा), अथवा कसैले, अथवा खट्टे, अथवा खारे, अथवा मीठे स्वाद की अनुभूति राग या द्वेष के वशीभूत होकर करना।

"जं पि य मए ..... सायासोक्खमणुपालयंतेणं।"

इस मूल पाठ का अर्थ प्रथम महाव्रत में किए गए अनुसार ही है।

"इहं वा भवे अन्नेसु वा भवग्गहणेसु, राइभोअणं भुंजिय वा भुंजाविअं वा, भुजंतं वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि तिविहं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं। अईअं निंदामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि सव्वं राईभोअणं जावज्जीवाए अणिस्सिओहं नेव सयं राइभोअणं भुंज्जेजा, नेवन्नेहिं राईभोअणं भुंजाविज्जा राईभोअणं भुंजन्ते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा। तं जहा अरिहंतसक्खिअं सिद्धसक्खिअं साहूसक्खिअं देवसक्खिअं अप्पसक्खिअं एवं भवइ भिक्खू वा भिक्खूणी वा संजय विरय पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा। एस खलु राईभोअणस्स वेरमणे।''

इस पाठ में प्रथम महाव्रत के स्थान पर छठवें रात्रिभोजन-विरमणव्रत सम्बन्धी जो-जो गाथाएँ दी गई हैं, उनका भावार्थ इस प्रकार है -

''राइभोअणं भुंजिअं वा भुंजाविअं वा भुंजंतं वा परेहिं समणुन्नाओ तं निंदामि गरिहामि''

भावार्थ -

स्वयं ने रात्रिभोजन किया हो, दूसरों को रात्रिभोजन कराया हो, अथवा रात्रिभोजन करते हुए दूसरे लोगों को अच्छा माना हो, तो उसकी मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

''नेव सयं राईभोअणं भुंजेज्जा, नेवन्नेहिं राईभोअणं भुंजाविज्जा, राईभोअणं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा।''

भावार्थ -

स्वयं रात्रिभोजन नहीं करूंगा, दूसरों से भी रात्रिभोजन नहीं करवाऊंगा एवं रात्रिभोजन करते हुए अन्यों की भी अनुमोदना नहीं करूंगा।

''एस खलु राईभोअणस्स वेरमणे''

भावार्थ -

निश्चय से रात्रिभोजन-विरमण नाम का यह व्रत -

''हिए सुहे ..... विहरामि''

इस मूल पाठ का अर्थ प्रथम महाव्रत में किए गए अनुसार ही है।

''छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोअणाओ वेरमणं''

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

हे भगवन् ! छठवें व्रत में समस्त प्रकार के रात्रिभोजन-विरमणव्रत के लिए उपस्थित हुआ हूँ।

अब सभी व्रतों का एक साथ उच्चारण करते हुए कहते हैं -

"इच्चेइयाइं पंच महव्वयाइं राईभोअण वेरमण छट्ठाइं अत्तहिअट्ठाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।"

भावार्थ -

इस प्रकार पूर्वोक्त रात्रिभोजन-विरमण छठवें व्रत के सहित पाँच महाव्रतों को अपने आत्महित के लिए सम्यक् प्रकार से अंगीकार करके मैं विचरण करूं या करता हूँ।

अब प्रकारान्तर से महाव्रत की व्याख्या करते हैं -

"अप्पसत्था य जे जोगा, परिणामा य दारूणा।
पाणाइवायस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइकम्मे।"।।१।।

भावार्थ -

द्रोह, पैशुन्य आदि अप्रशस्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक-योग, अर्थात् व्यापारों की प्रवृत्ति और पीड़ादायक हिंसा के दुष्ट अध्यवसायों से प्राणातिपात-विरमणव्रत का अतिक्रम होकर अतिचार या दोष लगता है - ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।

"तिव्वरागा य जा भासा, तिव्व दोसा तहेव य
मुसावायस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे।।२।।"

भावार्थ -

अतिशय राग तथा उसी प्रकार अतिशय द्वेष वाली जो भाषा बोली जाती है, उससे मृषावाद-विरमणव्रत का अतिक्रम होता है - ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।

"उग्गहं च अजाइत्ता, अविदिण्णे य उग्गहे।
अदिन्नादाणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे।।३।।"

भावार्थ -

गुरु के अवग्रह की याचना किए बिना और उनकी आज्ञा के बिना गुरु के अवग्रह में रहना, अथवा अवग्रह के सम्बन्ध में गुरु द्वारा पूर्व में चाहे आज्ञा ले ली गई हो, किन्तु व्रतक्रिया आदि के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर पर गुरु के अवग्रह की पुनः याचना के बिना उसमें कार्य करने से अदत्तादान-विरमणव्रत का अतिक्रम होता है - ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।

"सद्दा रूवा रसा गंधा-फासाणं पवियारणा।
मेहुणस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे।।४।।"

भावार्थ -

शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श - इन इन्द्रियों के पाँचों विषयों का रागभावपूर्वक सेवन करने से मैथुनविरमण-व्रत का अतिक्रमण होता है - ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।

"इच्छा मुच्छा य गेही य, कंखा लोभे य दारूणे।
परिग्गहस्स वेरमणे, एस वुत्ते अइक्कमे।।५।।"

भावार्थ -

अप्राप्त पदार्थ की कामना करना, उसके प्रति अत्यन्त आसक्ति रखना, सर्व वस्तुओं के संग्रह करने की तथा परधन को ग्रहण करने की बुद्धि रखना एवं किसी वस्तु को ग्रहण करने का हठाग्रह रखने से परिग्रहविरमण-व्रत का अतिक्रम होता है - ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

"अइमत्ते य आहारे सूरे खित्तम्मि संकिए।
राइभोअणस्स वेरमणे एस वुत्ते अइक्कमे।।६।।"

भावार्थ -

अतिमात्रा में आहार करने से तथा सूर्य के उदित या अस्त होने के सम्बन्ध में शंका होने पर भी आहार करने से रात्रिभोजन-विरमणव्रत में अतिचार (दोष) लगता है - ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।

अब दूसरी बार पुनः निम्न प्रकार से महाव्रतों का उच्चारण करते हैं -

"दंसण नाण चरित्ते अविराहित्ता ठिओ समण धम्मे,
पढमं वयमणुरक्खे विरयामो पाणाइवायाओ।।७।।
दंसण नाण चरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समण धम्मे।
बीयं वयमणुरक्खे, विरयामो मुसावायाओ।।८।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दंसण नाण चरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समण धम्मे।
तइयं वयमणुरक्खे, विरयामो अदिन्नादाणाओ।।९।।
दंसण नाण चरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समण धम्मे।
चउत्थं वयमणुरक्खे, विरयामो मेहुणाओ।।१०।।
दंसण नाण चरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समण धम्मे।
पंचमं वयमणुरक्खे, विरयामो परिग्गहाओ।।११।।
दंसण नाण चरित्ते, अविराहित्ता ठिओ समण धम्मे।
छट्ठं वयमणुरक्खे विरयामो राई भोयणाओ।।१२।।

भावार्थ -

दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की विराधना किए बिना परिपालन करके दसविध साधु-धर्म में स्थिर रहता हुआ मैं प्रथम व्रत का रक्षण करता हूँ और प्राणातिपात से सर्वथा विराम लेता हूँ और इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का पालन करता हुआ, श्रमणधर्म में स्थिर रहकर मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण और परिग्रह-विरमण-व्रत का पालन करता हूँ तथा मृषावादादि सम्बन्धी असद् प्रवृत्तियों से सर्वथा अलग होता हूँ।७-१२।।

"आलय विहार समिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समण धम्मे।
पढमं वयमणुरक्खे, विरयामो पाणाइवायाओ।।१३।।
आलय विहार समिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समण धम्मे।
बीयं वयमणुरक्खे, विरयामो मुसावायाओ।।१४।।
आलय विहार समिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे।
तइयं वयमणुरक्खे, विरयामो अदिन्नादाणाओ।।१५।।
आलय विहार समिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे।
चउत्थं वयमणुरक्खे, विरयामो मेहुणाओ।।१६।।
आलय विहार समिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे।
पंचमं वयमणुरक्खे, विरयामो परिग्गहाओ।।१७।।
आलय विहार समिओ, जुत्तो गुत्तो ठिओ समणधम्मे।
छट्ठं वयमणुरक्खे, विरयामो राई भोयणाओ।।१८।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

निर्दोष वसति का आश्रय लेकर शास्त्रीय-मर्यादा से विहार करते हुए, पाँच समितियों सहित, संयमयोग से एवं त्रिगुप्तियों से गुप्त होकर दसविध साधुधर्म में स्थिर रहता हुआ प्रथम व्रत का मैं रक्षण करता हूँ और प्राणातिपात से विराम लेता हूँ। इसी प्रकार मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण, परिग्रह-विरमण और रात्रिभोजन-विरमण - इन व्रतों का रक्षण करता हुआ मृषावादादि असत् पापकर्मों से सर्वथा अलग होता हूँ। ।।१३-१८।।

"आलय विहार समिओ, जुत्तो गुत्तोठिओ समणधम्मे,
तिविहेण अपमत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ।।१९।।"

भावार्थ -

निर्दोष उपाश्रय का आश्रय लेकर, शास्त्रीय-मर्यादा से विहार करते हुए पाँच समितियों सहित, संयमयोग से युक्त होकर एवं तीन गुप्तियों से गुप्त होकर दसविध श्रमणधर्म में स्थिर रहकर मैं मन, वचन एवं काया से अप्रमत्त होकर रात्रिभोजन-विरमण सहित पाँचों महाव्रतों का रक्षण एवं परिपालन करता हूँ।

"सावज्ज जोगमेगं, मिच्छत्तं एगमेव अन्नाणं
परिवज्जंतो गुत्तो रक्खामि महव्वए पंच।।१।।
अणवज्ज जोगमेगं, सम्मत्तं एगमेव नाणं तु
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।२।।"

भावार्थ -

तीन गुप्तियों से गुप्त होकर मैं सावद्ययोग, मिथ्यात्व एवं अज्ञान का त्याग करता हुआ पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१।।

अनवद्ययोग, सम्यक्त्व एवं ज्ञान को प्राप्त करके साधुगुणों सहित मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।२।।

"दो चेव रागदोसे, दुन्नि अ झाणाइं अट्टरूद्दाइं।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।३।।
दुविहं चरित्तधम्मं, दुन्नि अ झाणाइं धम्मसुक्काइं।
उवसंपन्नो जुत्तो रक्खामि महव्वए पंच।।४।।"

भावार्थ -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय ही राग और द्वेष - इन दोनों दोषों का, आर्त्त और रौद्र - इन दोनों ध्यानों का त्याग कर तीन गुप्तियों सहित मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।३।।

देशविरति एवं सर्वविरतिरूप - दो प्रकार के चारित्रधर्म को तथा धर्म और शुक्ल - इन दो प्रकार के ध्यानों को प्राप्त करके साधुता के गुणों से उपसम्पन्न होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।४।।

"किण्हा नीला काऊ, तिण्णि अ लेसाऊ अप्पसत्थाओ
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।५।।
तेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि य लेसाउ सुप्पसत्थाओ
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।६।।"

भावार्थ -

कृष्ण, नील एवं कापोत - ये तीन लेश्याएँ अप्रशस्त हैं, इनका त्याग कर तीन गुप्तियों से युक्त मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।५।।

तेजो, पद्म एवं शुक्ल - ये तीन लेश्याएँ सुप्रशस्त हैं, इनको प्राप्त करके साधुत्व के गुणों से उपसम्पन्न होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।६।।

"मणसा मणसच्चविऊ, वायासच्चेण करणसच्चेण।
तिविहेण विसच्चविऊ, रक्खामि महव्वए पंच।।७।।"

भावार्थ -

कुशल मन की प्रवृत्तिरूप मन-संयम से, सत्य वचन बोलनेरूप वाणी-संयम से, कार्य हेतु उपयोग से, गमनागमन करनेरूप कायसंयम से ३, (मन-वचन-संयम से ४, मन-काय-संयम से ५, वचन-काय-संयम से ६ तथा मन, वचन, कायरूप त्रिविध सत्य- संयम से मैं एक संयोगी तीन, द्विक संयोगी तीन तथा त्रिक संयोगी एक - ऐसे सात भंगों सहित) पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।७।।

"चत्तारि य दुहसिज्जा, चउरो सन्ना तहा कसाया य।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।८।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चत्तारि य सुह सिज्जा, चउव्विहं संवरं समाहिज्जा।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।९।।"

भावार्थ -

चार दुःखदायी शय्याओं को, चार कषायों का परिवर्जन करता हुआ त्रिगुप्तियों से गुप्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।८।।

चार सुखदायी शय्याओं का क्षमा, मार्दव, आर्जव एवं निर्लोभतारूप चार संवरों को, विनय, श्रुत, तप एवं आचाररूप चार समाधियों को प्राप्त करके साधुता के गुणों से युक्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।९।।

"पंचेव य कामगुणे, पंचेव य निण्हवे[1] महादोसे।
परिवज्जंतो गुत्तो रक्खामि महव्वए पंच।।१०।।
पंचिंदिय संवरणं, तहेव पंचविहमेव सज्झायं।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।११।।"

भावार्थ -

शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शरूप पाँच काम-भोगों को, देव, गुरु, धर्म, क्रिया एवं सन्मार्ग के अपलापकरूप पाँच निण्हव महादोषों को छोड़कर त्रिगुप्ति का धारक मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१०।।

स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों का दमन करके तथा वाचना, पृच्छना, आम्नाय, आगम एवं बुद्धिगुणाष्टक[2] - इन पाँच प्रकार के स्वाध्यायों को करते हुए साधुत्व के गुणों से उपसम्पन्न होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।११।।

"छज्जीवनिकायवहं, छप्पि य भासाउ अप्पसत्थाउ
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।१२।।

---

[1] मूलग्रन्थ में निण्हवे शब्द दिया गया है, जिसकी व्याख्या ग्रन्थकार ने देव, गुरु, धर्म, क्रिया एवं सन्मार्ग के अपलापरूप निण्हव दोषों से की है। पाठान्तर से अण्हवे शब्द भी मिलता है, जिसकी व्याख्या विद्वानों ने प्राणातिपात, मृषावाद आदि पाँच महादोषों के उत्पादक आश्रवों के रूप में की है।

[2] मूलग्रन्थ में वाचना, प्रच्छना, आम्नाय, आगम एवं बुद्धि गुणाष्टक - ये पाँच प्रकार के स्वाध्याय बताए गए हैं। पाठान्तर से अन्य ग्रन्थों में वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुपेक्षा और धर्मकथा - इन पाँच स्वाध्यायों का नामोल्लेख मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छव्विहमब्भितरयं, बज्झं पि य छव्विहं तवोकम्मं
उपसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।१३।।"

भावार्थ -

पृथ्वीकायादि षड्जीवनिकाय के वध का तथा हीलित वचन - किसी का अपमान करना, खिंसित वचन - किसी की निन्दा करना, पुरुष वचन - किसी को गाली आदि अपशब्द कहना, अलीक वचन - झूठ बोलना, गृहस्थ वचन - पिता, पुत्र आदि सांसारिक सम्बन्धों से युक्त भाषा बोलना, उपशान्त - भूले हुए कलह को फिर से जाग्रत करना - इन छः प्रकार के अप्रशस्त वचनों का परिवर्जन करता हुआ गुप्तिवन्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१२।।

प्रायश्चित्त, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, विनय, व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) एवं शुभध्यानरूप - इन छः प्रकार के आभ्यंतर तपःकर्म का तथा अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश एवं संलीनतारूप - इन छः प्रकार के बाह्य तपःकर्म का आचरण करता हुआ साधुत्व के गुणों से उपसम्पन्न होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१३।।

"सत्त भय ठाणाइं, सत्तविहं चेव नाणविभंगं।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।१४।।"

भावार्थ -

इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्मात्भय, वेदनाभय, मरणभय एवं अपकीर्तिभय - इन सात भयस्थानों का परिवर्जन करता हुआ गुप्तिवन्त मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१४।।

"पिंडेसण पाणेसण - उग्गहं सत्तिक्कया महज्झयणा।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।१५।।

भावार्थ -

सात पिण्डैषणा के नियम, सात पानैषणा के नियम, सात अवग्रह-याचना के नियम - ये तीन सप्तक और सात महाध्ययन - इन सबका पालन करते हुए साधुत्व-गुणों से युक्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१५।।

नोट - मूलग्रन्थ में इसकी संस्कृत-छाया एवं व्याख्या अनुपलब्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अट्ठ भयट्ठाणाइं[1], अट्ठ य कम्माइं तेसिं बंधं च।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।१६।।"

भावार्थ -

आठ मदस्थानों का एवं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, अन्तराय एवं आयुष्य - इन आठ कर्मों का तथा उनके नवीन बंध का त्याग करता हुआ गुप्तिवन्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१६।।

"अट्ठ य पवयण माया, दिट्ठा अट्ठविह निट्ठियट्ठेहिं।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।१७।।"

भावार्थ -

पाँच समिति एवं त्रिगुप्तिरूप अष्टप्रवचन माताओं को, जो कर्माष्टक से रहित जिनेश्वर भगवन्त द्वारा उपदिष्ट हैं, उनका पालन करता हुआ साधुत्व के गुणों से युक्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१७।।

"नव विह दंसणावरणं, नवइ नियाणाइ अप्पसत्थाइ।[2]
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।१८।।"

भावार्थ -

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला एवं स्त्यानगृद्धिरूप नवविध दर्शनावरण का तथा हिंसा, वितथ, स्तेय, मैथुन, परपरिवाद, अवज्ञा, दुर्नय एवं कषाय - इन नौ प्रकार के अप्रशस्त निदानों का परिवर्जन करता हुआ मैं गुप्तिवंत होकर पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१८।।

---

[1] यहाँ ग्रन्थकार ने अट्ठ भयट्ठाणाइं ऐसे पाठ का उल्लेख किया है, जो हमारी दृष्टि में अनुपयुक्त है, क्योंकि भयस्थानों का विवेचन तो पूर्व में ही हो चुका है, अतः इस पाठ के स्थान पर अट्ठ मयट्ठाणाइं होना चाहिए, जिसकी पुष्टि अन्य अनेक ग्रन्थों से भी होती है, अतः यहाँ शुद्ध पाठ अट्ठमयट्ठाणाइं, अर्थात् आठ मदस्थानों का उल्लेख करना ही उपयुक्त होगा।

[2] पाठान्तर से "नवविह दसंणावरणं, नवइ नियाणाइ अप्पसत्थाइ" के स्थान पर "नवपावनियाणाइं, संसारत्था य नव विहा जीवा" पाठ का उल्लेख भी मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"नवबंभचेर गुत्तो, दुनवविह बंभचेर परिसुद्धं।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।१६।।"

भावार्थ -

नवब्रह्मचर्य गुप्तियों का तथा औदारिकमैथुन एवं वैक्रियमैथुन का मन, वचन, कायारूप तीन योगों के साथ गुणन करने से छः विकल्प हुए। इन छः का कृत, कारित एवं अनुमोदन - इन तीन करणों के साथ गुणा करने पर कुल अठारह प्रकार की ब्रह्मचर्य-शुद्धि को अंगीकार करता हुआ साधु के गुणों से युक्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।१६।।

"उवघायं च दसविहं, अंसवरं तह य संकिलेसं च।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।२०।।"

भावार्थ -

दसविध धर्म का उपघात करने वाले लोलुपत्व, असत्य, लोभ, मैथुन, असन्तोष, नास्तिकत्व, क्रोध, मान, माया एवं परद्रव्यहरणरूप - दस उपघातों का[1] तथा पाँचों इन्द्रिय एवं मन - ये छः एवं कषायचतुष्क - ऐसे दसविध असंवर का[2] तथा पाँचों इन्द्रियों, राग-द्वेष एवं मन-वचन-काया - ऐसे तीन योग, इस प्रकार दस प्रकार के संक्लेशों का[3] वर्जन करता हुआ तीन गुप्तियों से युक्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।२०।।

"दसचित्त समाहिठाणा[4] दस चेव दसाउ समणधम्मं च।
उवसंपन्नो जुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।२१।।
आसायणं च सव्वं, तिगुणं एक्कारसं विवज्जंतो।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच।।२२।।"

---

[1] पाठान्तर से दसविध उपघात - उद्गमोपघात, उत्पादनोपघात, एषणोपघात, परिकर्मोपघात, परिहरणोपघात, ज्ञानोपघात, दर्शनोपघात, चारित्रोपघात, अप्रीतिकोपघात एवं संरक्षणोपघात का भी उल्लेख मिलता है।

[2-3] पाठान्तर से अन्य दसविध असंवरों का तथा दसविध संक्लेशों का भी उल्लेख मिलता है।

[4] पाठान्तर से "दसचित्त समाहिठाणा" पाठ के स्थान पर "सच्च समाहिट्ठाणा" पाठ भी मिलता हैं, जिसका भावार्थ विद्वानों ने दस प्रकार के सत्य तथा दस प्रकार के समाधिस्थान किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

पंचेन्द्रिय संवरण तथा पंचमहाव्रत के पालनरूप चित्त के दस प्रकार के समाधि स्थानों का एवं दसविध श्रमण धर्मों को अंगीकार करता हुआ साधु के गुणों से युक्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।

ग्यारह के त्रिगुणों, अर्थात् तेंतीस आशातनाओं का सर्वतः त्याग करता हुआ साधुत्व के गुणों से युक्त होकर मैं पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।२१-२२।।

अखण्डसूत्र-पाठ हेतु इस गाथा में विवज्जंतो शब्द का प्रयोग किया गया है।

उपसंहार -

"एवं तिदंड विरओ, तिगरण सुद्धो तिसल्लो निसल्लो।
तिविहेण पडिक्कंतो, रक्खामि महव्वए पंच।।२३।।"

भावार्थ -

इस प्रकार मन, वचन और काया के तीन दण्डों से विरत, कृत, कारित एवं अनुमोदितरूप तीन करणों से विशुद्ध, तीन शल्यों से रहित तथा मन, वचन, काया के त्रिविध योगों के सर्व अतिचार दोषों से निवृत्त होकर मैं अप्रमत्त रूप से पाँच महाव्रतों का रक्षण करता हूँ।।२३।।

महाव्रतोच्चार का उपसंहार, उसके प्रभाव का कीर्तन तथा जिनमुनि को नमस्कार करते हुए अब सूत्र का कीर्तन आरम्भ करते हुए कहते हैं -

"इच्चेइयं महव्वय उच्चारणं, कयं थिरत्तं, सल्लुद्धरणं, धिइबलं, ववसाओ, साहणट्ठो, पावनिवारणं, निकायणा, भावविसोही, पडागाहरणं, निज्जुहणाऽऽराहणा गुणाणं, संवरजोगो, पसत्थझाणो, वउत्तया जुत्तया य, नाणे, परमट्ठो उत्तमट्ठो, एस खलु तित्थंकरेहिं, रइरागदोसमहणेहिं, देसिओ पवयणस्स सारो छज्जीव निकाय संजमं उवएसियं, तेल्लोक्कसक्कयं ठाणं अब्भुवगया।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

निश्चित रूप से इस प्रकार किया गया महाव्रतों का उच्चारण - काया की स्थिरता प्रदान करने वाला, माया, मिथ्यात्व एवं निदानरूप शल्यों का नाश करने वाला, चित्त को समाधि और बल देने वाला, गत समय में उत्पन्न विषादों का अन्त करने वाला या संयम को दृढ़ करने वाला, संयम एवं यशरूपी पताका को धारण कराने वाला उसकी स्थापना कराने वाला तथा गुणों की आराधना कराने वाला है। ये महाव्रत कर्मों के आगमन को रोककर शुभ संवरयोग में स्थिर रखने वाला एवं प्रशस्त धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के उपयोग में जोड़ने वाला, परमार्थ एवं उत्तमार्थ रूप है, इसलिए तीनों लोकों में हितकारक इन महाव्रतों की स्वीकृति को राग-द्वेषरूपी कर्मरज का नाश करने वाले तीर्थंकरों ने प्रवचन का साररूप कहा है। उन्होंने भव्य प्राणियों को षट्जीवनिकाय के जीवों की रक्षारूप संयम का उपदेश देकर तथा स्वयं उनका यथावत् रूप से पालन कर सुखस्थान को प्राप्त किया है। ऐसे उन जिनेश्वरों को मैं नमस्कार करता हूँ। वर्तमान में श्रीवर्धमानस्वामी का शासन होने से उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ।

वह नमस्कार-सूत्र इस प्रकार है -

"नमोत्थु ते सिद्ध, बुद्ध, मुत्त, नीरय, निस्संग माण मूरण, गुणरयणसागरमणंतमप्पमेयं, नमोत्थु ते महइ महावीर वद्धमाण सामिस्स नमोत्थु ते अरहओ, भगवओ त्तिकट्टु। एसा खलु महव्वय उच्चारणा कया। इच्छामो सुत्त कित्तणं काउं ।"

भावार्थ -

सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, कर्मरूपी रज से रहित उसके संसर्ग से रहित, शल्यों से रहित[1], गर्व का नाश करने वाले, गुरुपद पर आसीन, गुणरूपी रत्नों के समुद्र, अनन्त ज्ञान के धारक और जिसको छद्मस्थ नहीं जान सके, उसको भी जानने वाले, संसार-सागर को पार करने वाले, अरिहंत भगवन्त आपको नमस्कार हो। महान् पराक्रमी श्रमण भगवान् वर्द्धमानस्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

---

[1] अन्य ग्रन्थों में निसल्लो पाठ नहीं मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिहंत भगवन्त को नमस्कार करता हूँ। (इस प्रकार अरिहंत भगवंतों को नमस्कार करके जो पूर्व में कहा गया है, उसका आख्यापन करते हुए कहते हैं) १. महव्वयउच्चारणा पंचविहा यावत् पंचमहव्वयाइं तक २. अप्पसत्था य जे यावत् आलय विहार समिओ जुत्तो गुत्तो उवट्ठिओ समणधम्मे तक एवं ३. तिविहेणं अप्पमत्तो यावत् एवं तिदंड विरओ तक - इस प्रकार निश्चय से तीन बार महाव्रतों का उच्चारण किया है या अंगीकार किए हैं। अब सूत्रों का कीर्तन करना चाहता हूँ।

श्रुतधारी मुनियों को नमस्कार करके अब श्रुतों के नामों का कीर्तन करते हुए कहते हैं -

"नमो तेसिं खमासमणाणं, जेहिं इमं वाइयं छव्विहमावस्सयं भगवन्तं तं जहा- सामाइयं चउवीसत्थो वन्दणयं पडिक्कमणं काउसग्गो पच्चक्खाणं। सव्वेसिं पि एयम्मि छव्विहे आवस्सए भगवन्ते ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणीए जे गुणा वा भावा वा अरिहंतेहिं भगवन्तेहिं पन्नत्ता वा परूविया वा ते भावे सद्दहामो पत्तियामो रोएमो फासेमो अणुपालेमो।"

भावार्थ -

क्षमादि गुणों से युक्त उन श्रमणों को नमस्कार हो, जिन्होंने अतिशय गुण वाले छः प्रकार के आवश्यकसूत्र का वाचन करके सुनाया है। वे छः प्रकार निम्न हैं - १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दनक ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग एवं ६. प्रत्याख्यान। ये सभी षडावश्यक सूत्र, अर्थनिर्युक्ति और संग्रहणी से युक्त हैं। मूलग्रन्थ के सूत्रों में उसका विषय संक्षिप्त रूप से ही उल्लेखित होता है। इन सूत्रों की विशद व्याख्या तो वृत्ति, टीका, भाष्य, वार्तिक और चूर्णि आदि में मिलती है। अर्थ से युक्त सूत्र का सम्पूर्ण पाठ ग्रन्थ कहा जाता है। विषय-सूची सहित उसके पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत व्याख्या निर्युक्ति के रूप में होती है, अतः निर्युक्तिशास्त्र के परिशिष्ट रूप ही है। उसके कुछ पदों एवं विषयों का सूचन संग्रहणी में होता है। इनमें ज्ञान, आचरण, प्रसार और अन्त में स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करना आदि जो कोई गुणधर्म है, देवादिकृत पूजा के योग्य भगवन्तों द्वारा सामान्य और विशेष रूप से प्ररूपित वे सभी पदार्थ एवं भाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य ही हैं- ऐसी आत्मीय श्रद्धा रखता हूँ, उसको निःसंशयपूर्वक अंगीकार करता हूँ, उनके प्रति रूचि रखता हूँ, क्रिया द्वारा उनका स्पर्श करता हूँ, उनका पालन करता हूँ तथा उपदेश द्वारा उनके स्व-पर को आचरण करवाऊंगा (अणुपालेमो शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है)।

"ते भावे सद्दहंतेहिं, पत्तियंतेहिं, रोयंतेहिं, फासंतेहिं पालंतेहिं, अणुपालंतेहिं, अन्नतोपक्खस्स, जं वाइयं, पढ़ियं, परियट्टियं, पुच्छियं, अणुपेहियं, अणुपालियं, तं दुक्खक्खयाए, कम्मक्खयाए, मोक्खाए[1], बोहिलाभाए, संसारूत्तारणाए, त्ति कट्टु उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।"

भावार्थ -

उन भावों को श्रद्धापूर्वक, संशयरहित, रुचिपूर्वक क्रिया द्वारा स्पर्श करते हुए, आचरण करते हुए, उपदेश द्वारा दूसरों को आचरण करवाते हुए एवं स्वयं आचरण करते हुए, एक पक्ष, चातुर्मास या संवत्सर के अन्तर्गत हमने जो कुछ वांचन किया या कराया हो, पढ़ा हो अनुष्ठित किया गया हो, पूछा गया हो या मतिज्ञान द्वारा अवलोकित किया गया हो, सिद्धांत में जो कहा गया हैं, जो कुछ स्पष्टतः नहीं कहा गया है, या जो अव्यक्त रहा है - उस सबका चिन्तन कर कष्टमय अनुष्ठानों द्वारा उसे धारण करता हूँ। वह सब दुःखों के क्षय के लिए, कर्मों के विनाश के लिए, मोक्षप्राप्ति के लिए, सद्धर्म की प्राप्ति के लिए और संसार के पार पाने के लिए हो। इसी कारण से उनको तीन बार अंगीकार करके मैं विचरण करता हूँ।

"अंतोपक्खस्स जं न वाइयं न पढियं, न परियट्टियं, न पुच्छियं, नाणुपेहियं, नाणुपालियं, संते बले, संते वीरिए, संते पुरिसक्कारपडिक्कमे, तस्स आलोएमो, पडिक्कमामो निंदामो, गरिहामो, विउट्टेमो विसोहेमो अकरणयाए, अब्भुट्ठेमो, अहारिहं, तवोकम्मं, पायच्छितं, पडिवज्जामो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

---

[1] मोक्खाए पाठ मूलग्रन्थ में नहीं दिया जाता हैं, किन्तु अन्य ग्रन्थों में यह पाठ भी मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

इस पक्ष में हमने जो भी वांचन नहीं किया हो, नहीं पढ़ा हो, अनुष्ठित नहीं किया हो, नहीं पूछा हो या अवलोकित नहीं किया हो, सिद्धान्त में जो कहा गया है या जो प्रकटतः नहीं कहा गया है, या जो अव्यक्त रहा है - उसका यदि मनन नहीं किया हो, कष्टमय अनुष्ठानों द्वारा उसका धारण नहीं किया हो, सम्यक् शारीरिक बल, धैर्य, उत्साह, एवं शक्ति होने पर भी वाचनादि में प्रयत्न नहीं किया हो, उन सभी का अध्ययन आदि नहीं करने से होने वाले पापों की आलोचना, प्रतिक्रमण, निंदा एवं गर्हा करता हूँ। पुण्य पाप का नाश करते हैं, (आत्मा की) शुद्धि करते हैं, फिर भी पुण्यकर्म नहीं करने के लिए, उनमें उद्यमवन्त नहीं होने के लिए, तपोकर्मरूप उचित प्रायश्चित्त को अंगीकार करता हूँ, तत्सम्बन्धी मेरा वह पाप मिथ्या हो।

"नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइयं अंग बाहिरं उक्कालियं भगवन्तं तं जहा-दसवेआलियं, कप्पियाकप्पिअं, चुल्लकप्पसुअं, महाकप्पसुअं, ओवाइअं, रायप्पसेणिअं जीवाभिगमो, पण्णवणा, महापण्णवणा, नन्दी अणुओगदाराइं, देविंदत्थुओ, तन्दुलवेआलिअं, चन्दाविज्जियं पमायप्पमायं पोरिसि मंडलं, मंडलप्पवेसो, गणिविज्जा विज्जाचारणविणिच्छओ, झाणविभत्ती, मरणविभत्ती आयविसोही, संलेहणासुअं वीअरायसुअं, विहारकप्पो चरणविही, आउरपच्चक्खाणं, महापच्चक्खाणं।"

भावार्थ -

क्षमादि गुणों से युक्त उन श्रमणों को नमस्कार हो, जिन्होंने अतिशय गुण वाले अंगबाह्य उत्कालिकसूत्र हमको दिए। वे इस प्रकार हैं - १. दशवैकालिक २. कल्प्याकल्पय ३. क्षुल्लकल्पश्रुत ४. महाकल्पश्रुत ५. औपपातिक ६. राजप्रश्नीय ७. जीवाभिगम ८. प्रज्ञापना ९. महाप्रज्ञापना १०. नंदी ११. अनुयोगद्वार १२. देवेन्द्रस्तव १३. तन्दुलवैचारिक १४. चन्द्रावेध्यक १५. प्रमादाप्रमाद १६. पौरुषीमण्डल १७. मण्डलप्रवेश १८. गणिविद्या १९. विद्याचरण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनिश्चय २०. आत्मविशुद्धि २१. मरणविशुद्धि-ध्यान-विभक्ति[1] २२. मरणविभक्ति २३. संलेखनाश्रुत २४. वीतरागश्रुत २५. विहारकल्प २६. चरणविधि २७. आतुरप्रत्याख्यान और २८. महाप्रत्याख्यान इत्यादि। द्वादशांग एवं कालिकसूत्रों के अतिरिक्त अन्य उत्कालिकसूत्रों के योगों में कालग्रहण, संघट्ट आदि क्रियाएँ नहीं हाती हैं।

"सव्वेसिं पि ..... दुक्कडं"

इन सभी अंगबाह्य उत्कालिकसूत्रों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण मूलपाठ का अर्थ पहले लिखे गए षडावश्यक के आलापक के समान ही है।

"नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं अंगबाहिरं कालिअं भगवंतं तं जहा- उत्तरज्झयणाइं, दसाओ, कप्पो, ववहारो, इसिभासिआइं, निसीहं, महानिसीहं जंबूद्दीवपन्नत्ती सूरपन्नत्ती चंदपन्नत्ती दीवसागरपन्नत्ती खुड्डियाविमाणपविभत्ती महल्लियाविमाणपविभत्ती अंगचूलिआए वग्गचूलिआए विवाहचूलिआए अरूणोववाए वरूणोववाए गरूलोववाए धरणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए देविंदोववाए उट्ठाणसुए समुट्ठाणसुए नागपरिण्णावलिआणं निरयावलिआणं कप्पिआणं कप्पवडिंसियाणं पुप्फिआणं पुप्फचूलिआणं वण्हिआणं वण्हिदसाणं आसीविसभावणाणं दिट्ठीविसभावणाणं चारणभावणाणं महासुमिण भावणाणं तेअग्गिनिसग्गाणं।"

भावार्थ -

क्षमादि गुणों से युक्त उन श्रमणों को नमस्कार हो, जिन्होंने अतिशय गुणवाले अंगबाह्य कालिकसूत्र हमको दिए। वे इस प्रकार हैं - १. उत्तराध्ययन २. दशाश्रुतस्कन्ध ३. बृहत्कल्प ४. व्यवहारकल्प ५. ऋषिभाषित ६. निशीथ ७. महानिशीथ ८. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति ९. चन्द्रप्रज्ञप्ति १०. सूर्यप्रज्ञप्ति[2] ११. द्वीप सागरप्रज्ञप्ति १२. क्षुल्लकविमान-प्रज्ञप्ति १३. महतीविमानप्रज्ञप्ति १४. अंगचूलिका १५. वर्गचूलिका १६. विवाहचूलिका १७. अरूणोपपात १८. गरुड़ोपपात

---

[1] पाठान्तर में मात्र "झाण विभत्ती" पाठ ही मिलता हैं।

[2] नंदीसूत्र में सूर्यप्रज्ञप्ति का समावेश उत्कालिक सूत्रों में किया गया हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. वरुणोपपात २०. धरणोपपात २१. वेलंधरोपपात २२. देवेन्द्रोपपात २३. वैश्रमणोपपात २४. उत्थानश्रुत २५. समुत्थानश्रुत २६. नागपरिज्ञावलिका २७. निरयावलिकाकल्पिका २८. कलवतंसक २९. पुष्पिता ३०. पुष्पचूलिका ३१. वृष्णिदशा ३२. आशीविषभावना ३३. दृष्टिविषभावना ३४. चारणभावना ३५. महाश्रमणभावना ३६. तैजसनिसर्ग इत्यादि।[1] इन सभी कालिक श्रुतों के योगोद्वहन में कालग्रहण, संघट्ट (संस्पर्श) आदि क्रियाए होती हैं।

"सव्वेसिं पि ..... दुक्कडं।"

"इन सभी अंगबाह्य कालिक सूत्रों" के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण मूल पाठ का अर्थ पहले लिखे गए षडावश्यक के आलापक के समान ही है।

"नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं दुवालसंगं गणिपिडगं भगवन्तं तं जहा-आयारो सूयगडो ठाणं समवाओ विवाह पन्नत्ती नायाधम्मकहाओ उवासगदसाओ अन्तगडदसाओ अणुत्तरोववाइअ दसाओ पण्हावागरणं विवागसुयं दिट्ठिवाओ।"

भावार्थ -

क्षमादि गुणों से युक्त उन श्रमणों को नमस्कार हो, जिन्होंने गणिपिटकरूप अतिशय उत्तम गुण आदि से युक्त द्वादशांगी हमको प्रदान की। वे इस प्रकार हैं -१. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. स्थानांग ४. समवायांग ५. विवाहप्रज्ञप्ति - भगवती-सूत्रांग ६. ज्ञाताधर्मकथा ७. उपासकदशांग ८. अन्तकृद्दशांग ९. अनुत्तरोपपातिकदशांग १०. प्रश्नव्याकरणांग ११. विपाकश्रुत एवं १२. दृष्टिवादांग - इन सभी अंग-आगमों में नाम के अनुरूप सिद्धान्त के सारभूत कथन किए गए हैं। इनके अध्ययन, उद्देशक एवं परिमाण आदि को ग्रन्थ-विस्तार के भय से यहाँ नहीं कहा गया है, इसकी जानकारी आगमों (महाशास्त्रों) से प्राप्त करें।

"सव्वेसिं पि ..... मिदुक्कडं।"

---

[1] आचारदिनकर में नंदीसूत्र की अपेक्षा - १. आशीविषभावना २. दृष्टिविषभावना ३. चारणभावना ४. महाश्रमणभावना एवं ५. तेजसनिसर्ग - इन कालिकसूत्रों के नाम अतिरिक्त दिए गए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"इन सभी गणिपिटक द्वादशांगश्रुत" के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण मूलपाठ का अर्थ पहले लिखे गए षडावश्यक के आलापक के समान है।

"नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं दुवालसंगं गणिपिडगं भगवन्तं सम्मं काएण फासन्ति पालंति पूरंति तीरंति किट्टंति सम्मं आणाए आराहन्ति अहं च नाराहेमि तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

भावार्थ -

क्षमादि गुणों से युक्त उन श्रमणों को नमस्कार हो, जिन्होंने इस गणिपिटक- स्वरूप अतिशय उत्तम गुणों से युक्त द्वादशांगश्रुत हमको दिया, इस द्वादशांगश्रुत का जो सम्यक् प्रकार से काया से संस्पर्श करते हैं, इसे ग्रहण करते हैं, अभ्यासपूर्वक इसका रक्षण करते हैं, परिपूर्ण रूप से इसका अध्ययन करते हैं, जीवनपर्यन्त इसको धारण करते हैं, इसकी स्तवना करते हैं और इसमें दिखलाई हुई आज्ञाओं का सम्यक् प्रकार से पालन करते हैं। प्रमादवश इसकी यथावत् आराधना नहीं की हो, तो उस अनाराधना सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

अब श्रुतदेवता की स्तुति करते हुए कहते हैं -

"सुयदेवया भगवई नाणावरणीयकम्मं संघायं।
तेसिं खवेउं सययं जेसिं सुयसायरे भत्ती।।१।।"

भावार्थ -

जिन पुरुषों का श्रुतरूप सागर के प्रति बहुमान और विनय है, अर्थात् जो आत्मीय प्रेम एवं शुभभावना से श्रुतसागर की यथावत् भक्तिपूर्वक आराधना करते हैं, उन पुरुषों के ज्ञानावरणीयकर्म के समूह का श्रुतधिष्ठायी देवी निरन्तर विनाश करें।

अब श्रावक के प्रतिक्रमणसूत्र (वंदित्तुसूत्र) की व्याख्या करते हैं-

सर्वप्रथम नमस्कारमंत्र का पाठ करें। तत्पश्चात् श्रावक सामायिक, अर्थात् देशविरति-सामायिक-दण्डक (मूलपाठ) का उच्चारण करें। तत्पश्चात् आलोचनादण्डक का उच्चारण करें। इन सबकी व्याख्या पूर्ववत् ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"वंदित्तु सव्वसिद्धे धम्मायरिए अ सव्व साहू अ।
इच्छामि पडिक्कमिउं, सावग धम्माइ आरस्स।।१।।"

भावार्थ -

सभी सिद्ध भगवंतों, धर्माचार्यों तथा साधुओं को वन्दन करके श्रावकधर्म में लगे हुए अतिचारों को मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ।

विशिष्टार्थ -

सव्वसिद्धे - सिद्धों के पन्द्रह भेद बताए गए हैं, इस प्रकार यहा सिद्ध शब्द का ग्रहण करके अरिहंत एवं सिद्ध-दोनों को नमस्कार किया गया है।

धम्मायरिय - इस शब्द में उपाध्याय-पद का भी समावेश किया गया है।

"जो में वयाइयारो नाणे तह दंसणे चरित्ते य।
सुहुमो अ बायरो वा तं निंदे तं च गरिहामि।।२।।"

भावार्थ -

मुझे व्रतों के विषय में और ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में सूक्ष्म या बादर, जो अतिचार लगा हो, उसकी मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

नाणे-दंसणे चरित्ते य - ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र - इन तीनों के अतिचारों का कथन पूर्व में उनसे सम्बन्धित गाथाओं में किया गया है।

निंदे-गरिहामि - गाथा में समानार्थक निन्दा एवं गरिहामि शब्द का प्रयोग विशेष रूप से प्रतिक्रमण करने के उद्देश्य से किया गया है।

"दुविहे परिग्गहम्मी, सावज्जे बहुविहे अ आरंभे।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देवसियं सव्वं।।३।।"

भावार्थ -

बाह्य और अभ्यन्तर - दो प्रकार के परिग्रह के कारण, पाप वाले अनेक प्रकार के आरम्भ दूसरे से करवाते हुए एवं अनुमोदन करते हुए दिवस सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नोट - कुछ आचार्य यहाँ देवसियं शब्द का ग्रहण देशविरति के अर्थ में करते हैं।

"जं बद्धमिंदिएहिं, चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि।।४।।"

भावार्थ -

अप्रशस्त (विकारों के वश हुई) इन्द्रियों, क्रोध आदि चार कषायों द्वारा तथा उपलक्षण से मन, वचन एवं काया के योग से राग और द्वेष के वश होकर जो (अशुभ कर्म) बंधा हो, उसकी मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

नोट - इस गाथा में कर्मबंधनरूप अतिचार के कारणों को बताया गया है।

"आगमणे निगमणे, ठाणे चंकमणे अणाभोगे।
अभियोगे अ नियोगे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।५।।"

भावार्थ -

उपयोग (सावधानी) न रहने के कारण, अथवा राजा आदि के दबाव के कारण, अथवा नौकरी आदि की परतंत्रता के कारण मिथ्यात्व-पोषक स्थानों में जाने-आने से, अथवा वहाँ रहने से, फिरने से, घूमने से दर्शनसम्यक्त्व संबंधी जो कोई अतिचार दिन में लगे हों, उन सब दोषों से मैं निवृत्त होता हूँ।

विशिष्टार्थ -

आगमणे - कार्य की समाप्ति होने पर पुनः स्वस्थान पर लौटने पर।

निग्गमणे - किसी कार्य के लिए जाने पर।

ठाणे - सोने या बैठने पर।

अणाभोगे - विस्मृत होने के कारण।

अभियोगे - स्वयं के मन से किसी कार्य को करना नियोग कहलाता है तथा अन्य के कारण किसी कार्य को करना अभियोग कहलाता है।

"संका कंख विगिच्छा पसंस तह संथवो कुलिंगीसु।
सम्मत्तस्स इआरे पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।६।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

सम्यक्त्व को मलिन करने वाले पाँच अतिचार हैं। उनकी इस गाथा में आलोचना की गई है। वह इस प्रकार है - १. वीतराग सर्वज्ञ के वचनों में शंका करना। २. परमत को चाहना। ३. धर्म के फल में संदेह होना, अथवा साधु-साध्वियों का मलिन शरीर या वस्त्र देखकर निंदा करना। ४. मिथ्यात्वियों की प्रशंसा करना एवं ५. मिथ्यादृष्टियों से परिचय करना।

इन पाँचों अतिचारों में से दिवस सम्बन्धी जो छोटे अथवा बड़े अतिचार लगे हों, उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

पुनः निम्न गाथा में व्रतखण्डन के हेतुओं को बताते हुए उनकी आलोचना की गई है -

"छक्काय सभारंभे, पयणे अ पयावणे अ जे दोसा।
अत्तट्ठा य परट्ठा उभयट्ठा चेव तं निंदे।।७।।"

भावार्थ -

स्वयं के लिए, दूसरों के लिए तथा दोनों के लिए पकाते हुए, पकवाते हुए, पृथ्वी कायादिक छकाय की विराधना होने से जो दोष लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

"पंचण्हं अणुव्वयाणं गुणव्वयाणं च तिण्ह मइआरे।
सिक्खाणं च चउण्हं पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।८।।"

भावार्थ -

पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों में (इन बारह व्रतों में) दिवस सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ। (प्रथम अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

"पढमे अणुव्वयम्मी, थूलग-पाणाइवाय विरइओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं।।९।।
वह-बंध-छविच्छेए, अइभारे भत्त पाण वुच्छेए।
पढम वयस्स इआरे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।१०।।"

भावार्थ -

अब यहाँ प्रथम अणुव्रत के विषय में (लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है) प्रमाद के प्रसंग से अथवा (क्रोधादि)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रशस्त भावों का उदय होने से स्थूल प्राणातिपात- विरमणव्रत में जो कोई अतिचार लगा हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

वध - द्विपद, चतुष्पद आदि जीवों को निर्दयतापूर्वक मारना।

बन्ध - द्विपद आदि जीवों को रस्सी आदि से बाँधना।

अंगच्छेद - चमड़ी, नासा आदि का छेदन करना तथा कर्ण आदि काटना।

अइभारे - प्राणियों की शक्ति की अपेक्षा अधिक बोझ लादना।

भत्त-पाण-वुच्छेए - प्राणियों के खाने-पीने में अंतराय डालना।

इन उपर्युक्त विषयों में से दिवस सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ।

विशिष्टार्थ -

उपर्युक्त दोनों गाथाओं का परस्पर सम्बन्ध है -

प्रथम अणुव्रत में अप्रशस्त स्थूलप्राणातिपात से विरति होती हैं। यति के लिए उचित महाव्रत की अपेक्षा इनमें प्रमाद के प्रसंग होने से इन्हें स्थूलप्राणातिपातविरति, अर्थात् अणुव्रत कहा गया है। इसमें गृहस्थ स्थूल प्राणों की हिंसा एवं द्वीन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा से ही निवृत्त होता है, अर्थात् वध, बंध, अंगच्छेद आदि के रूप में स्थूलप्राणातिपात से विरति होती है।

अइआरे - नियम का अतिक्रम करने को, अथवा किसी कार्य में अति करने को अतिचार कहते हैं।

अप्पसत्थे - अप्रशस्त, अथवा क्रोध आदि कषायों की असमता होने पर पंचेन्द्रिय जीवों को दुःख होता है।

पमायप्पसंगेणं - इस अणुव्रत में पद्य आदि को प्रमाद के नजदीक ले जाने के कारण अतिचार कहा है।

(दूसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

"बीए अणुव्वयम्मी परिथूलग-अलिय वयण विरइओ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं।।११।।
सहस्सा-रहस्स-दारे मोसुवएसे अ कूडलेहे अ।
बीयवयस्स इआरे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।१२।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

अब दूसरे व्रत के विषय में लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है - प्रमाद के वश, अथवा क्रोधादि अप्रशस्तभाव का उदय होने से स्थूलमृषावाद-विरमणव्रत में जो कोई अतिचार लगा हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

१. बिना विचारे किसी के सिर दोष मढ़ने से। २. एकान्त में बातचीत करने वाले पर दोषारोपण करने से। ३. स्त्री की गुप्त एवं मार्मिक बातों को प्रकट करने से। ४. जानते या अजानते मिथ्या उपदेश देने से। ५. झूठ लेख लिखने से दूसरे व्रत के विषय में दिवस सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों - उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ।

विशिष्टार्थ -

द्वितीय स्थूलमृषावाद अणुव्रत में कन्या, गो, भूमि आदि के सम्बन्ध में झूठ बोलना, उनके सम्बन्ध में कुछ छिपाना, कूटसाक्षी आदि देना - इन सबसे विरति होती है। इन व्रतों का अतिक्रम करना अतिचार कहलाता है।

मोसुवएसे - जानते अथवा अजानते औषधि, मंत्र आदि के सम्बन्ध में मिथ्या बोलना।

(तीसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

"तइए अणुव्वयम्मी, थूलग परदव्व हरण विरइओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं।।१३।।
तेनाहडप्पओगे, तप्पडिरूवे विरूद्ध गमणे अ ।
कूडतुल-कूडमाणे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।१४।।"

भावार्थ -

तीसरे अणुव्रत के विषय में लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रमाद के प्रसंग से, अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भावों का उदय होने से स्थूल अदत्तादान- विरतिव्रत के विषय में दिवस सम्बन्धी जो कोई अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ।

चौदहवीं गाथा द्वारा तीसरे व्रत के पाँच अतिचारों का प्रतिक्रमण किया है, ये पाँच अतिचार इस प्रकार हैं - १. चोरी का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माल खरीदकर चोर को सहायता पहुँचाना। २. बढ़िया नमूना दिखाकर उसके बदले में घटिया चीज देना या मिलावट करके देना। ३. राजा की आज्ञा बिना निषिद्ध (उसके बैरी के) देशों में व्यापार के लिए जाना, अर्थात् राज्यविरूद्ध कर्म करना, कर की चोरी करना। ४. तराजू-बाट आदि सही-सही न रखकर कम देना, ज्यादा लेना। ५. छोटे-बड़े नाप रखकर न्यूनाधिक लेना-देना। - ये अतिचार सेवन करने से मुझे दिन भर में जो कोई दोष लगे हों, उनसे मैं निवृत्त होता हूँ।

(चौथे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

"चउत्थे अणुव्वयम्मी, निच्चं परदार-गमण विरइओ।
आयरियमप्पसत्थे-इत्थ पमायप्पसंगेण।।१५।।
अपरिग्गहिया इत्तर अणंग विवाह तिव्व अणुरागे।
चउत्थवयस्स इआरे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।१६।।"

भावार्थ -

अब चौथे अणुव्रत के विषय में (लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है।) प्रमाद के प्रसंग से, अथवा क्रोधादि अप्रशस्तभाव के उदय होने से, नित्य अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय कोई भी दूसरी स्त्रीगमन-मैथुनविरति में अतिचार लगे - ऐसा जो कोई आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

चौथे व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं - १. किसी की ग्रहण न की हुई वेश्या, विधवा आदि के साथ संभोग करना। २. अल्पकाल के लिए द्रव्यादि देकर ग्रहण करने में आई हुई वेश्या, विधवा के साथ संभोग करना। ३. परस्त्री के साथ काम-क्रीड़ा या हस्तकर्मादि करना। ४. दूसरों के पुत्र-पुत्री का विवाह आदि कराना। ५. विषय-भोग करने की अत्यन्त आसक्ति तथा कामशास्त्रोचित काम-क्रीड़ा आदि करना।

नोट - इस अणुव्रत में वेश्या, विधवा, उपेक्षित स्त्री एवं कुँवारी कन्या के साथ सम्बन्ध करना - ये सब इस व्रत के अतिचार कहे गए हैं।

(पाँचवे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"इत्तो अणुव्वये पंचमम्मि, आयरिअमप्पसत्थम्मि।
परिमाण परिच्छेए, इत्थ पमायप्पसंगेणं।।१७।।
धण धन्न खित्त वत्थू रूप सुवन्ने अ कुविअ परिमाणे।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।१८।।"

भावार्थ -

अब पाँचवें अणुव्रत के विषय में (लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ।) प्रमादवश अतृप्तिरूप, अथवा अप्रशस्त क्रोधादि भावों के उदय से परिग्रहव्रत में अतिचार लगे - ऐसा जो आचरण किया हो, तो उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

धन (द्रव्य), धान्य (अन्न), क्षेत्र, वास्तु का (गृह आदि भूमि), सोना, चाँदी, कांस्य, ताम्र आदि द्विपद, अर्थात् दास-दासी आदि; चतुष्पद, अर्थात् गाय, भैंस, बैल, अश्व आदि - इन सबका परिमाण उल्लंघन करने से दिवस सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ।

(छठवें व्रत के अतिचारों की आलोचना)

"गमणस्स उ परिमाणे दिसासु उड्ढं अहे य तिरियं च।
वुड्ढि सइअंतरद्धा पढमंमि, गुणव्वए निंदे।।१९।।"

भावार्थ -

अब मैं पहले गुणव्रत दिक्परिमाणव्रत के अतिचारों की आलोचना करता हूँ। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं -

१. ऊर्ध्वदिशा में जाने का परिमाण लांघने से २. तिर्यक्, अर्थात् चारों दिशाओं तथा चारों विदिशाओं में जाने का परिमाण लांघने से ३. अधोदिशा में जाने का परिमाण लांघने से ४. क्षेत्र का परिमाण बढ़ जाने से, जैसे आठों दिशाओं में सौ-सौ योजन तक आने- जाने का नियम करने के बाद आवश्यकता पड़ने पर एक दिशा में पचास योजन तक गया हो तथा दूसरी दिशा में डेढ़ सौ योजन तक जाए, तो इस व्रत में अतिचार लगता हैं, अर्थात् एक तरफ के नियमित क्षेत्र-प्रमाण को घटाकर दूसरी तरफ उतना क्षेत्र बढ़ाकर वहाँ तक जाए, तो इस व्रत में अतिचार लगता है। ५. क्षेत्र का परिमाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या मार्ग भूल जाने से - पहले गुणव्रत में जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

नोट - पहले गुणव्रत में आठों दिशाओं में जाने आने के परिमाण की प्रतिज्ञा होती है।

(सातवें व्रत के अतिचारों की आलोचना)

"मज्जम्मि अ मंसम्मि अ, पुप्फे अ फले अ गंध मल्ले अ।
उवभोगे-परिभोगे बीअम्मि गुणव्वए निंदे।।२०।।
सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोल दुप्पोलियं च आहारे।
तुच्छोसहि भक्खणया, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।२१।।"

भावार्थ -

सातवाँ व्रत भोजन और कर्म - दो तरह से होता है। इन दोनों गाथाओं में भोजन सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना की गई है।

मदिरा, मांस आदि वस्तुओं का सेवन करने से तथा पुष्प, फल, सुगंधित द्रव्यादि पदार्थों का परिमाण से ज्यादा भोग-उपभोग करने से जो अतिचार लगे हैं, उनकी मैं निंदा करता हूँ। सावद्य आहार का त्याग करने वाले को जो अतिचार लगते हैं, वे अतिचार इस प्रकार हैं - १. निश्चित किए हुए परिमाण से अधिक सचित्त आहार के भक्षण में २. सचित्त से लगी हुई अचित्त वस्तु, जैसे बीजयुक्त बेर, आम आदि के भक्षण में ३. अपक्व आहार आदि के भक्षण में, दुपक्व आहार तथा आचार आदि के भक्षण में एवं ४. तुच्छौषधि वनस्पतियों के भक्षण में दिवस सम्बन्धी जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ।

यहाँ निम्न बाईस वस्तुओं का वर्जन किया गया है - १-५. पाँच उदुम्बर, अर्थात् उदुम्बर, वट, प्लक्ष, उम्बर और पीपल - इन पाँचो के फल। ६-९. चार महाविगई १०. बर्फ ११. विष १२. ओले १३. सर्व प्रकार की मिट्टी १४. रात्रिभोजन १५. बहुबीज १६. अनंतकाय १७. अचार १८. घोलवड़ा १९. बैंगन २०. अनजाने फल-फूल २१. तुच्छफल २२. चलित रस।

आगे की निम्न दो गाथाओं में कर्म के अतिचारभूत पन्द्रह कर्मादानों का त्याग करने का निर्देश दिया गया है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"इंगाली वण साडी, भाडी, फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव दंत लक्ख रस केस विस विसयं।।२२।।
एवं खु जंत पिल्लण-कम्मं निल्लंछणं च दव दाणं।
सरदह तलाय सोसं, असई पोसं च वज्जिज्जा।।२३।।"

भावार्थ -

इन गाथाओं में पन्द्रह कर्मादान, जो बहुत सावद्य होने के कारण श्रावक के लिए त्यागने योग्य हैं, उनको त्यागने के लिए कहा गया है -

१. अंगारजीविका - जिसमें भट्टी का उपयोग मुख्य होता हो - ऐसे व्यापारों द्वारा जीविका में निम्न कार्यों का समावेश होता हैं - १. भडभूंजे का काम २. कुम्भकार का काम ३. स्वर्णकार का काम ४. लोहकार का काम ५. कांस्यकार का काम ६. ईंट पकाने का काम आदि।

२. वनजीविका - इस कर्म में पुष्प, पत्र, फल आदि का छेदन, भेदन करके तथा उनका विक्रय करके जीविका का उपार्जन किया जाता है। धान्य को दलने-पीसने के कार्य को भी इसी कर्म में समाविष्ट किया गया है।

३. शकटजीविका - जिसमें गाड़ी तथा उनके भागों को बनाकर जीविका का उपार्जन किया जाए, उसे शकटजीविका कहते हैं, जैसे - गाड़ी के यंत्र आदि बनाकर बेचना।

४. भाटकजीविका - भार का वहन करने वाले ऊँट, अश्व, बैल आदि किराए पर देकर उससे अपनी आजीविका चलाए, उसे भाटकजीविका कहते हैं।

५. स्फोटकजीविका - पत्थर आदि फोड़कर आजीविका चलाने को स्फोटकजीविका कहते हैं, जैसे - तालाब, कुएँ आदि खोदना, शिलाएँ तोड़ना आदि व्यापार। ये कर्म श्रावक हेतु पूर्ण रूप से वर्जित कहे गए हैं।

६. दंतवाणिज्य - पशुओं के दाँत, केश, नख, चर्म, रोम आदि वस्तुओं का व्यापार दंतवाणिज्य कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. लाक्षावाणिज्य - लाख, नील, मनःशिल, सुहागा, धातु वगैरह की वस्तुओं का व्यापार लाक्षावाणिज्य कहलाता है।

८. रसवाणिज्य - शहद, मक्खन, मदिरा आदि का व्यापार रसवाणिज्य कहलाता है।

९. केशवाणिज्य - द्विपद (दास, दासी) एवं चतुष्पद (जानवरों) का व्यापार करना केशवाणिज्य कहलाता है।

१०. विषवाणिज्य - विष, शस्त्र, हल-यंत्र, हरिताल, लोहादि का व्यापार करना विषवाणिज्य कहलाता है।

११. यंत्रपीडनकर्म - रहट्ट आदि जलयंत्र, एरण्डी, सरसों, ईक्षु आदि पीसना, अर्थात् घाणी चलाने को यंत्रपीडनकर्म कहते हैं।

१२. निर्लांछनकर्म - अश्व, हाथी आदि के अंडकोश, कर्ण एवं कम्बल (गाय, बैल के गले में नीचे की तरफ लटकने वाली खाल) का छेदन करने को निर्लांछनकर्म कहते हैं।

१३. दवदानकर्म - शोख से आग लगाने, पुण्यबुद्धि से आग लगाने तथा वन में आग लगाने आदि को दवदानकर्म कहते हैं।

१४. शोषणकर्म - सरोवर, तालाब, बाँध, द्रह आदि के जल को सुखाने का कर्म शोषणकर्म कहलाता है।

१५. असती-पोषण कर्म - धन के लिए दास-दासी, मैना, तोता, बिलाव, मुर्गा, मोर, कुत्ते आदि का पालन-पोषण करना।

अब अनर्थदण्ड व्रत के अतिचारों की आलोचना हेतु एक साथ तीन गाथाएँ बताई गई हैं -

"सत्थग्गि मुसल जतंग तण कट्ठे मंत-मूल-भेसज्जे।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।२४।।
ण्हाणुव्वट्टण वन्नग विलेवणे सद्दरूव रस गन्धे।
वत्थासण आभरणे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं।।२५।।
कंदप्पे कुकुइए मोहरिअहिगरण भोग अइरित्ते।
दंडंमि अणट्ठाए तइयंमि गुणव्वए निंदे।।२६।।"

भावार्थ -

अब आठवें व्रत में लगे हुए अतिचारों की आलोचना करता हूँ। शस्त्र, अग्नि, मूसल आदि कूटने के साधन विभिन्न प्रकार के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृण, काष्ठ, मूल और औषधि आदि (बिना कारण) दूसरों को देते हुए अथवा दिलाते हुए दिवस सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ।

अतिमात्रा में स्नान, उबटन, वर्णक, विलेपन स्वयं करने या दूसरों से करवाने, अतिमात्रा में अविधिपूर्वक एवं व्यसन के रूप में शब्द, रस, गंध, स्पर्श का भोगोपभोग करने एवं वस्त्र, आसन, आभरण आदि के विषय में सेवित अनर्थदण्ड से दिवस सम्बन्धी जो छोटे-बड़े अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ।

अनर्थदण्ड विरति व्रत नाम के तीसरे गुणव्रत के विषय में लगे हुए अतिचारों की मैं निंदा करता हूँ। इस व्रत के निम्न पाँच अतिचार हैं - १. इन्द्रियों में विकार पैदा करने वाली कथाएँ कहना, अथवा दूसरों का उपहास करना २. किसी को व्याकुल करने के लिए भांड आदि की भाँति हास्यादि वचन बोलना ३. अधिक बोलना या दूसरों की अतिस्तुति या निन्दा करना ४. ऊखल, मूसल आदि पापोपकरण तैयार रखना ५. आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग की सामग्री रखना। ये क्रमशः कंदर्प, कौत्कुच्य, मौर्ख्य, अधिकरणता एवं भोगातिरिक्तता नाम के पाँच अतिचार हैं।

विशिष्टार्थ -

"भोगाअइरित्ते - कामशास्त्र का श्रवण एवं शारीरिक कुचेष्टाएं करना।

(सामायिक व्रत के अतिचारों की आलोचना)

"तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सइ विहूणे।
सामाइय वितह-कए, पढमे सिक्खावए निंदे।।२७।।"

भावार्थ -

प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन न करने के कारण जो अतिचार लगे हैं, उनकी मैं निंदा करता हूँ। वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं - १-३. मन, वचन और काया का अशुभ व्यापार ४. अनस्थान एवं ५. स्मृति न रहना, अर्थात् सामायिक की है या नहीं ? - इस प्रकार की विस्मृति होना।

(दसवें देशावकासिक-व्रत के अतिचारों की आलोचना)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गलक्खेवे।
देसावगासिअम्मि बीए सिक्खावए निंदे।।२८।।"

भावार्थ -

देशावकासिक-व्रत नाम के दूसरे शिक्षाव्रत के विषय में लगे हुए अतिचारों की मैं निन्दा करता हूँ। इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं -

१. आनयन - नियमित सीमा के बाहर स्वयं न जाकर किसी अन्य से कोई वस्तु मंगाना या किसी को बुलाना। २. प्रेष्य-प्रयोग - नियत सीमा के बाहर कोई चीज भेजनी हो, तो व्रतभंग होने के भय से स्वयं न जाकर किसी अन्य द्वारा भेजना। ३. शब्दानुपात - नियमित क्षेत्र के बाहर रहे हुए किसी व्यक्ति को खांसी, खंखार आदि जोर से शब्द करके उसे अपने स्वरूप कार्य को बतलाना। रूपानुपात - नियमित क्षेत्र के बाहर से किसी को बुलाने की इच्छा हुई हो, तो व्रतभंग के भय से स्वयं न जाकर, हाथ, मुँह आदि अंग दिखाकर उस व्यक्ति को अपने आने की सूचना देना। पुद्गलक्षेप - नियमित क्षेत्र के बाहर ढेला, पत्थर आदि फैंककर अपना कार्य बताना।

(पौषधोपवास-व्रत के अतिचारों की आलोचना)

"संथाररूच्चारविही-पमाय तह चेव भोयणाभोए
पोसह विहि विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे।।२९।।"

भावार्थ -

पौषधोपवास-व्रत में कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं निंदा करता हूँ। इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं - १. विधिपूर्वक संथारा न करना २. विधिपूर्वक प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना न करना ३.-४. लघुनीति एवं बड़ी नीति करने की जगह का प्रतिलेखना एवं प्रमार्जन न करना ५. पौषध में भोजन आदि की चिंता करना।

(अतिथिसंविभाग-व्रत के अतिचारों की आलोचना)

"सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस मच्छरे चेव।
कालाइक्कम दाणे, चउत्थे सिक्खावए निंदे।।३०।।"

भावार्थ -

साधु को देने योग्य अन्न-पानादि वस्तु को नहीं देने की बुद्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सचित्त पदार्थ पर रख देना, अथवा अचित्त वस्तु डाल देना २. अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढंकना ३. न देने की बुद्धि से अपनी वस्तु को पराई तथा देने की बुद्धि से पराई वस्तु को अपनी वस्तु कहना ४. मत्सर आदि कषायपूर्वक दान देना एवं ५. समय बीत जाने पर भिक्षा आदि के लिए निमंत्रण करना - इस प्रकार अतिथिसंविभाग सम्बन्धी पाँच अतिचारों में से जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं निन्दा करता हूँ।

(बारहवें व्रत में संभावित अन्य अतिचारों की आलोचना)

"सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि।।३१।।"

भावार्थ -

१. ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों वाले ऐसे सुविहित साधुओं पर, २. व्याधि से पीड़ित, तपस्या आदि से खिन्न दुःखी साधुओं पर ३. असंयत साधुओं पर या अन्य मत के कुलिंगी-ऐसे असंयमी साधुओं पर या द्रव्यलिंगी साधुओं पर राग या द्वेषपूर्वक अनुकम्पा की हो, तो उसकी मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

(सम्यक्त्व का भंग करने वाले अन्य अतिचारों की आलोचना)

"साहूसु संविभागो, न कओ तव-चरण करण जुत्तेसु।
संते फासु अदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि।।३२।।"

भावार्थ -

निर्दोष अन्न-पानी आदि साधु को देने योग्य वस्तुएँ अपने पास उपस्थित होने पर भी; तपस्वी, चारित्रशील, क्रियापात्र साधु का योग होने पर भी मैंने प्रमादादि के कारण उसे दान न दिया हो, तो ऐसे दुष्कृत्य की मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

(संलेखना (अनशन) व्रत के अतिचारों की आलोचना)

"इहलोए परलोए, जीविअ-मरणे अ आसंस-पओगे।
पंचविहो अइआरो, मामज्झ हुज्ज मरणंते।।३३।।"

भावार्थ -

संलेखना-व्रत के निम्न पाँच अतिचार हैं - १. इहलोकाशंसा-प्रयोग, अर्थात् जीवितमहोत्सव आदि की आकांक्षा २. परलोकाशंसा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग, अर्थात् स्वर्ग एवं मोक्ष की वांछा रखना ३. जीविताशंसा-प्रयोग, अर्थात् जीने की इच्छा करना ४. मरणाशंसा-प्रयोग, अर्थात् मरने की इच्छा करना और ५. कामभोगाशंसा-प्रयोग, अर्थात् निदानपूर्वक राज्य, देवत्व की आकांक्षा करना - मृत्यु के अन्तिम समय तक मुझे न लगे। इस प्रकार की कामना की गई है।

(मन, वचन एवं काया से लगे हुए अतिचारों की आलोचना)

"काएण काइअस्स, पडिक्कमे वाइस्स वायाए।
मणसा माणसिअस्स, सव्वस्स वयाइआरस्स।।३४।।"

भावार्थ -

वध-बन्धादि अशुभ काययोग से लगे हुए व्रतातिचारों का तप तथा कायोत्सर्ग आदि काययोग से, सहसा-अभ्याख्यान आदि अशुभ वचनयोग से लगे हुए व्रतातिचारों का मिथ्या दुष्कृत आदि देने रूप, शुभ वचनयोग से तथा दुष्चिंतन आदि अशुभ मनःयोग से लगे हुए व्रतातिचारों का शुभध्यान आदि मनोयोग से प्रतिक्रमण करता हूँ। इस प्रकार सर्वव्रतों के अतिचारों का प्रतिक्रमण करें।

(सभी अतिचारों की आलोचना)

"वंदण-वय-सिक्खा गारवेसु, सण्णा-कसाय दंडेसु।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे।।३५।।"

भावार्थ -

वन्दन, व्रत, शिक्षा, समिति और गुप्ति करने योग्य हैं। इनको न करने से जो अतिचार लगे हों तथा गौरव, संज्ञा, कषाय और दंड - ये छोड़ने योग्य हैं, इनको करने से जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निंदा करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

वंदण - वन्दन दो प्रकार का है - १. चैत्यवंदन २. गुरुवन्दन। चैत्यवंदन के अनादर आदि अतिचार बताए गए हैं तथा गुरुवंदन के अनादर आदि तेंतीस अतिचार बताए गए हैं।

वय - बारह व्रतों के प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बताए गए हैं एवं पन्द्रह कर्मादान बताए गए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिक्खा - अविनय आदि अतिचारों से युक्त हो शिक्षा ग्रहण करना।

गारवेसु - ऋद्धि, रस एवं साता में लोभ रखना - ये गौरव के अतिचार हैं।

सन्नासु - आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा एवं परिग्रहसंज्ञा का आधिक्य होना संज्ञा सम्बन्धी अतिचार हैं।

कसायेसु - क्रोध, मान, माया एवं लोभ का आधिक्य होना कषाय सम्बन्धी अतिचार हैं।

दंडेसु - जिन अशुभयोग से आत्मा दंडित होती हैं, उसे दंड कहते हैं, उसके तीन भेद हैं - १. मनोदंड २. वचनदंड ३. कायादंड।

गुत्तीसु - मन, वचन एवं काया को सत् प्रवृत्तियों में नहीं लगाना, गुप्ति सम्बन्धी अतिचार हैं।

समिईसु - ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, उत्सर्ग आदि समितियों का प्रमादपूर्वक आचरण करना - ये समिति सम्बन्धी अतिचार हैं।

इस प्रकार पूर्व में कहे गए इन सभी अतिचारों की मैं निंदा करता हूँ।

अब निम्न गाथा के माध्यम से सम्यग्दृष्टि को अल्पकर्म का बन्ध होता है, यह बताया गया है -

"सम्मदिट्ठी जीवो, जइवि हु पावं समायरइ किंचि।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धंधसं कुणइ।।३६।।"

भावार्थ -

सम्यग्दृष्टि जीव (गृहस्थ श्रावक) को यद्यपि (प्रतिक्रमण करने के अनन्तर भी) अपना निर्वाह चलाने के लिए कुछ पाप-व्यापार अवश्य करना पड़ता है, तो भी उसको कर्मबन्ध अल्प होता है, क्योंकि वह निर्दयतापूर्वक पाप-व्यापार नहीं करता।

अब निम्न गाथा के माध्यम से यह बताया गया है कि किस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अल्प कर्मबन्ध का विनाश करता है -

"तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खिप्पं उवसामेई, वाहिव्व सुसिक्खिओ विज्जो।।३७।।"

भावार्थ -

जिस प्रकार सुशिक्षित अनुभवी (कुशल) वैद्य व्याधि को शीघ्र शांत कर देता है, वैसे ही सम्यक्त्वधारी सुश्रावक उस अल्प कर्मबन्ध को भी प्रतिक्रमण, पश्चाताप और प्रायश्चित्तरूप उत्तरगुण द्वारा जल्दी नाश कर देता है।

अब निम्न दो गाथा में दिए गए दृष्टान्तों से कर्मोपशम को समझाते हैं -

"जहा विसं कुट्ठ गयं, मंत मूल विसारया।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्विसं।।३८।।
एवं अट्ठविहं कम्मं, राग दोस समज्जिअं।
आलोअंतो अ निंदतो, खिप्पं हणइ सुसावओ।।३९।।"

भावार्थ -

जिस प्रकार गारूड़िक-मंत्र और जड़ी-बूटी को जानने वाला अनुभवी कुशल वैद्य रोगी के शरीर में व्याप्त स्थावर एवं जंगम विष को मंत्रादि द्वारा दूर कर देता है और उस रोगी का शरीर विषरहित हो जाता है, उसी प्रकार राग-द्वेष से बांधे हुए ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों को सुश्रावक गुरु के पास आलोचना तथा अपनी निंदा करते हुए शीघ्र क्षय कर डालता है।

(इसी बात को विशेष रूप से कहते हैं)

"कयपावो वि मणुस्सो, आलोइय निंदिय गुरुसगासे।
होइ अइरेग लहुओ, ओहरिअ भरूव्व भारवहो।।४०।।"

भावार्थ -

जिस प्रकार बोझ उतर जाने पर भारवाहक के सिर पर भार कम हो जाता है, उसी प्रकार गुरु के सामने पाप की आलोचना तथा आत्मा की साक्षी से निन्दा करने पर सुश्रावक के पाप अत्यन्त हल्के हो जाते हैं।

अब निम्न गाथा में प्रतिक्रमण (आवश्यक) का फल बताते हैं-

"आवस्सएणं एएण, सावओ जइ वि बहुरओ होई।
दुक्खाणमंत किरिअं, काही अचिरेण कालेण।।४१।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ -

यद्यपि श्रावक (सावद्य आरम्भों में आसक्त होने के कारण) बहुत कर्मों वाला होता है, तो भी इस आवश्यक (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान) द्वारा अल्प समय में दुःखों का अन्त करेगा, मोक्ष पाएगा।

(विस्मरण हुए अतिचारों की आलोचना)

"आलोअणा बहुविहा, न य संभरिआ पडिक्कमण काले।
मूलगुण उत्तरगुणे, तं निंदे तं च गरिहामि।।४२।।"

भावार्थ -

मूलगुण (पाँच अणुव्रत) और उत्तरगुण (तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत) के विषय में लगे हुए अतिचारों की आलोचना बहुत प्रकार की है, तथापि उन आलोचनाओं में से कोई आलोचना प्रतिक्रमण करते समय याद न आई हो, तो उसकी मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

अब खड़े होकर निम्न गाथाएँ बोलें -

"तस्स धम्मस्स केवलि पन्नत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए, विरओमि विराहणाए।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं।।४३।।"

भावार्थ -

मैं केवली भगवान् के कहे हुए श्रावकधर्म की आराधना के लिए तैयार हुआ हूँ और उसकी विराधना से विरत हुआ हूँ। मैं सब प्रकार के अतिचारों का मन, वचन और काया से प्रतिक्रमण करके पापों से निवृत्त होकर श्री ऋषभदेव से लेकर श्री महावीर तक के चौबीस तीर्थंकरों को वन्दन करता हूँ।

अब निम्न दो गाथा के माध्यम से क्रमशः चैत्यवंदना एवं गुरुवंदना की गई है -

"जावंति चेइआइं उड्ढे अ अहे अ तिरिअ लोए अ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं।।४४।।
जावंत केवि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंडविरयाणं।।४५।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों गाथाओं की व्याख्या पूर्ववत् ही है।

निम्न गाथा के माध्यम से कर्मक्षय के हेतुरूप मनोरथ बताए गए हैं -

"चिरसंचिय पाव-पणासणीइ भवसय सहस्स महणीए।
चउवीस जिण विणिग्गय - कहाइ बोलंतु में दिअहा।।४६।।"

भावार्थ -

चिरकाल से संचित पापों का नाश करने वाली तथा लाखों जन्म-जन्मांतरों का नाश (अंत) करने वाली और जो सभी तीर्थंकरों के पवित्र मुखकमल से निकाली हुई हैं, ऐसी सर्वहितकारक धर्मकथा में ही, अथवा जिनेश्वरों के नाम का कीर्तन, उनके गुणों का गान और उनके चरित्रों का वर्णन आदि वचन की पद्धति द्वारा ही मेरे दिन-रात व्यतीत हों।

प्रतिक्रमण के बाद अब यहाँ निम्न गाथा से स्वयं के लिए मंगल की याचना की है-

"मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ।
सम्मदिट्ठी देवा दिंतु समाहिं च बोहिं च।।४७।।"

भावार्थ -

अरिहंत, सिद्ध, साधु, श्रुत (अंग, उपांग आदि शास्त्र) और धर्म - ये सब मेरे लिए मंगलरूप हों तथा सम्यग्दृष्टि-देव समाधि (चित्त की स्थिरता) एवं बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति मे मेरे सहायक हों।

"पडिसिद्धाणं करणे किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ परूवणाए अ।।४८।।"

भावार्थ -

आगम में निषेध किए हुए स्थूल हिंसादि पापकार्यों को करने पर और सामायिक, देवपूजा आदि करने योग्य कार्यों को नहीं करने पर जो दोष लगें, तो उनको दूर करने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है तथा जैनतत्त्वों में अश्रद्धा करने पर एवं जैनागम से विरूद्ध प्ररूपण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने पर जो पाप लगे हों, उनको दूर करने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है।

यहाँ प्रायश्चित्त-विधि में जो पाप प्रतिक्रमण द्वारा शोधनीय होते हैं, उन्हीं का प्रतिक्रमण होता है।

अब निम्न गाथा के माध्यम से सब जीवों से क्षमापना करते हैं -

"खामेमि सव्व जीवे ..... एव महमालो."

इन दोनो गाथाओं की व्याख्या यतिप्रतिक्रमणसूत्र के समान ही है। यह श्राद्ध- प्रतिक्रमणसूत्र की व्याख्या हैं।

यहाँ यति (साधु) एवं श्राद्ध (श्रावकादि) के प्रतिक्रमण सम्बन्धी सभी सूत्रों की व्याख्या की गई है, किन्तु ग्रन्थ-विस्तार के भय से सूत्रों से सम्बन्धित मुद्राओं का यहाँ विवेचन नहीं किया गया है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण-आवश्यक की यह विधि सम्पूर्ण होती है।

अब कायोत्सर्ग-आवश्यक की व्याख्या करते हैं -

काया की गति को हीन करना, अर्थात् काय के प्रति ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है-

पूर्व के पापकर्मों का निःशेष रूप से घात करने के लिए, पाप की विशुद्धि के लिए, विघ्न का उपशमन करने के लिए तथा कभी-कभी देव (अरिहंत, सिद्ध आदि) की आराधना के लिए भी कायोत्सर्ग करते हैं। "मैं कायोत्सर्ग करता हूँ अथवा कायोत्सर्ग में स्थित होता हूँ"- यह कहकर निम्न सूत्र बोलें।

"अन्नत्थ उससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलिए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउसग्गो जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि तावकायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ -

मैं कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा करता हूँ, उसमें निम्नलिखित आगारों के सिवाय दूसरे किसी भी कारण से मैं इस कायोत्सर्ग का भंग नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करूँगा। वे आगार ये हैं - श्वास लेने से, श्वास छोड़ने से, खांसी आने से, छींक आने से, जम्हाई लेने से, डकार आने से, अपानवायु सरकने से, चक्कर आने से, पित्त-विकार के कारण मूर्च्छा आने से, सूक्ष्म अंग संचार होने से, अर्थात् रोम खड़े होने से, कम्पारी आदि होने से, सूक्ष्म रीति से शरीर में श्लेष्म आदि का संचार होने से, सूक्ष्मदृष्टिसंचार, अर्थात् नेत्रस्फुरण आदि होने से - ये कारण उपस्थित होने से जो काय-व्यापार हों, उससे मेरा कायोत्सर्ग भंग न हो - ऐसे ज्ञान तथा सावधानी के साथ खड़ा रहकर वाणी-व्यापार सर्वथा बन्द करता हूँ तथा चित्त को प्रस्तुत शुभध्यान में जोड़ता हूँ और जब तक 'णमो अरिहंताणं', अर्थात् अरिहंतों को नमस्कार हो - यह पद बोलकर कायोत्सर्ग पूर्ण न करूं, तब तक अपनी काया को पाप- कर्मों से हटाता हूँ।

विशिष्टार्थ -

छींक आदि तथा मूर्च्छा आदि के आने पर मुखवस्त्रिका द्वारा मुख को ढकने में, अथवा नीचे बैठने पर भी कायोत्सर्ग अभग्न ही होता है, अन्यथा खांसी या जंभाई लेते समय मुख खुला होने पर, अथवा मूर्च्छा आदि के कारण नीचे गिर जाने पर संयम एवं आत्मा की (संयमात्मा) विराधना होती है।

अब कायोत्सर्ग का भंग करने पर भी कायोत्सर्ग अभग्न रहता है, उन अपवादों को बताते हैं -

१. वसति अथवा समीप में अग्नि का उपद्रव होने पर २. पंचेन्द्रिय जीव आड़े उतरें, उस समय स्वयं सरककर स्थापनाचार्य एवं उपकरणों के आड़ नहीं पड़ने दें ३. चोर आदि उपद्रव होने पर ४. मल, श्लेष्म, वात आदि से क्षुभित होने पर ५. सर्प- सिंहादि का संकट आने पर तथा ६. कदाचित् यति या श्रावक आदि को सर्प या बिच्छु डस रहा हो, उस समय इन सभी आगारों से कायोत्सर्ग का भग्न करने पर भी कायोत्सर्ग अभग्न ही रहता है।

आदि शब्द से यहाँ उक्त आगारों के अतिरिक्त विद्युतपात्, मेघसंपात (वर्षा के समय), स्वचक्र अथवा परचक्र, राजा आदि का भय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर तथा उप्रदव होने पर भी (बीच में ही) कायोत्सर्ग पारने पर कोई दोष नहीं लगता है।

अब कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष बताते हैं -

१. घोटक-दोष - घोड़े के समान एक पैर ऊँचा एवं एक पैर नीचे रखना।

२. लता-दोष - वायु से बेल (लता) हिलती है, उस प्रकार शरीर का हिलाना।

३. स्तम्भादि-दोष - खम्भे का सहारा लेकर खड़े रहना।

४. कुड्य (भित्ति)-दोष - भित्ति का सहारा लेकर खड़े रहना।

५. माल-दोष - माला हो, तो उसको सिर टिकाकर खड़े रहना।

६. शबरी-दोष - नग्न भीलड़ी की तरह गुह्यस्थान को हाथ से ढंकना।

७. वधू-दोष - नव परिणिता (वधू) की तरह सिर नीचा रखना।

८. निगड-दोष - निगड में पग डाले हों, उस तरह से पैर संकुचित या विस्तारित (पोहले) रखना।

९. लम्बोत्तर-दोष - नाभि के ऊपर तथा ढ़ीचण के नीचे तक लम्बा वस्त्र रखना। (साधु नाभि के नीचे और ढ़ीचण से चार अंगुल ऊपर चोलपट्टा पहनते हैं, उसी को लक्ष्य में रखकर यह दोष बताया गया है।)

१०. स्तन-दोष - डांस एवं मच्छरों से रक्षा करने के लिए स्त्री की भाँति हृदय को आच्छादित करके रखना।

११. शकट-दोष एवं संयती-दोष - गाड़ी के ऊध की तरह पग के अंगूठे तथा पानी को मिलाकर खड़े रहना तथा शीतादि के भय से साध्वीजी की तरह दोनों कंधे ढककर रखना।

१२. खलिन-दोष - घोड़े के चौकड़े की तरह रजोहरणयुक्त हाथ रखना।

१३. वायस-दोष - कौएं की तरह आँख फेरना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. कपित्थ-दोष - पहने हुए वस्त्र पसीने से मैले हो जाएंगे - इस भय से कपड़ों को इकट्ठे करके रखना, अर्थात् उनका गोपन करके रखना।

१५. शिरकम्प-दोष - यथाविष्ट की भाँति सिर हिलाना।

१६. मूकदोष - मूक व्यक्ति की भाँति हूं-हूं करना।

१७. भ्रू-अंगुली-दोष - नमस्कार-मंत्र आदि गिनने के लिए अंगुली का आलंबन लेना अथवा बार-बार पलक झपकाना।

१८. मदिरा-दोष - वारुणी (शराबी) की तरह नमस्कार-मंत्र गिनते समय बड़बड़ाहट करना।

१९. प्रेक्ष्य-दोष - वानर की तरह आस-पास देखते रहना तथा होंठ हिलाना।

- इस प्रकार कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष बताए गए हैं। सभी अनुष्ठानों को करते समय साधु के लिए जो विशिष्ट बाते हैं, वे इस प्रकार हैं - साधु को नाभि से नीचे तथा घुटने से चार अंगुल ऊपर चोलपट्टा पहनना चाहिए। दाएँ हाथ में मुखवस्त्रिका तथा बाएँ हाथ में रजोहरण होता हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि कायोत्सर्ग नमस्कारमंत्र द्वारा पूर्ण करना चाहिए एवं कुछ आचार्यों का मत है कि जिनस्तुति द्वारा कायोत्सर्ग पूर्ण करना चाहिए। उत्तरार्द्ध की गाथाओं में कायोत्सर्ग के जो उन्नीस दोष बताए हैं, उन दोषों का त्याग करते हुए सभी कायोत्सर्ग में "चन्देसुनिम्मलयरा" गाथा तक चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे तथा नमस्कार-मंत्र के चिन्तन में नवपद का चिन्तन करे। सभी कायोत्सर्ग 'नमो अरिहंताणं' पद बोलकर पूर्ण करे, उसके बाद यथायोग्य स्तुति बोले। इस प्रकार आवश्यक-विधि में कायोत्सर्ग-आवश्यक की यह विधि पूर्ण होती है।

अब प्रत्याख्यान-आवश्यक की व्याख्या करते हैं। प्रत्याख्यान दो प्रकार के होते हैं - १. मूलगुण-प्रत्याख्यान एवं २. उत्तरगुण-प्रत्याख्यान। देशविरति एवं सर्वविरति के भेद से मूलगुण-प्रत्याख्यान के दो भेद होते हैं - १. साधुओं के पंचमहाव्रत सर्वमूलगुण- प्रत्याख्यान कहलाते हैं तथा २. श्रावकों के पंचाणुव्रत देशमूलगुण-प्रत्याख्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाते हैं। उत्तरगुण-प्रत्याख्यान भी दो प्रकार के होते हैं - १. आंशिक (देश) २. सर्व। साधुओं के सर्व उत्तरगुण-प्रत्याख्यान अनेक प्रकार के होते हैं जैसे - पिंडविशुद्धि, समिति, भावना आदि। साधु के उत्तरगुण प्रत्याख्यान भी दो प्रकार के होते हैं - १. प्रतिमारूप एवं २. अभिग्रह।

श्रावकों के देश-उत्तरगुण-प्रत्याख्यान में तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत आते हैं। इन दोनों को मिलाकर सर्व-उत्तरगुण-प्रत्याख्यान के अनागत आदि दस भेद होते हैं। इन प्रत्याख्यानों का पालन स्वयं करना चाहिए तथा समाधि के अनुसार दूसरों को आहार का दान तथा तप के सम्बन्ध में उपदेश देना चाहिए। वे दस प्रकार के प्रत्याख्यान इस प्रकार हैं -

१. अनागत - पर्यूषण-पर्व में करने योग्य अट्ठम आदि तप, ग्लान आदि की वैयावृत्य का काम होने से पर्यूषण से पहले करना अनागत-तप है।

२. अतीत (अतिक्रान्त) - अशक्ति तथा वैयावृत्य में संलग्न होने से चातुर्मास आदि में करने योग्य तपश्चर्या पर्यूषण आदि बीतने के बाद करना।

३. कोटि-सहित - एक तप की समाप्ति होने पर उसी दिन प्रत्याख्यान द्वारा दूसरे तप का आरम्भ करना, अर्थात् दो तप की संधि से युक्त पच्चक्खाण को कोटि-सहित प्रत्याख्यान कहते हैं।

४. नियन्त्रित-प्रत्याख्यान - जो प्रत्याख्यान रोगी होने पर भी सभी को नियत समय पर, अर्थात् प्रत्येक मास की अष्टमी आदि तिथियों में निश्चित रूप से करना पड़ता है, वह नियन्त्रित-प्रत्याख्यान कहलाता है। प्रथम संघयण वालों द्वारा यह प्रत्याख्यान किया जाता था, वर्तमान में यह प्रत्याख्यान विच्छिन्न हो गया है।

५. साकार - आकार (मर्यादा) सहित प्रत्याख्यान को साकार-प्रत्याख्यान कहते हैं। आहार आदि का त्याग कर देने पर भी गुरुजनों के कहने से आहार आदि ग्रहण करना पड़े, तो भी प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. अनाकार - सभी आगारों से रहित प्रत्याख्यान को अनाकार-प्रत्याख्यान कहते हैं।

७. परिमाणकृत - आहार-पानी के विषय में दांत (दत्ति) एवं कवल की संख्या का परिमाण करना, परिमाणकृत-प्रत्याख्यान कहलाता है।

८. निरवशेष-प्रत्याख्यान - चारों प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करना निरवशेष-प्रत्याख्यान कहलाता है।

९. साकेत - अंगुष्ठ, मुष्टि, ग्रन्थि आदि चिन्हों का संकल्प करके विरति में रहने को साकेत-प्रत्याख्यान कहते है।

१०. अद्धा-प्रत्याख्यान - काल-परिमाण सहित प्रत्याख्यान को अद्धा-प्रत्याख्यान कहते हैं। इस प्रत्याख्यान के दस भेद हैं -

(१) नवकारसी - नमस्कारमंत्र सहित सूर्योदय के दो घड़ी तक का जो प्रत्याख्यान होता हैं, उसे नवकारसी-प्रत्याख्यान कहते है।

(२) पौरुषी - जिस समय धूप में खड़े होने पर अपनी छाया पुरुष-प्रमाण, अर्थात् स्वशरीर-प्रमाण पड़े, उस समय तक का प्रत्याख्यान पौरुषी प्रत्याख्यान कहलाता है, अर्थात् सूर्योदय से एक प्रहर तक का प्रत्याख्यान पौरुषी कहलाता है।

(३) पूर्वार्द्ध - मध्याह्न तक, अर्थात् दिन के पूर्वार्द्ध तक का प्रत्याख्यान पूर्वार्द्ध कहलाता है।

(४) एकासन - एक आसन से बैठकर एक वक्त भोजन करना, एकासन कहलाता है।

(५) एकस्थान - भोजन करते समय जिस स्थिति में बैठा हो, अन्त तक उसी स्थिति में बैठे रहना, अर्थात् हाथ-पैर आकुंचन-प्रसारण न करना।

(६) आचाम्ल - जिसमें आम्लरस का त्याग होता हैं तथा एक बार आहार-पानी ग्रहण किया जाता है, उसे आचाम्ल-प्रत्याख्यान कहते हैं।

(७) अभक्तार्थ - उपवास, अर्थात् तीनों आहारों का जो त्याग होता है, वह अभक्तार्थ-प्रत्याख्यान कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(८) चरिम-प्रत्याख्यान - दिन के अन्त में या भव के अन्त में किया जाने वाला प्रत्याख्यान क्रमशः दिवसचरिम व भवचरिम-प्रत्याख्यान कहलाता हैं।

(९) अभिग्रह - ग्रन्थिमुष्टि होने तक जो प्रत्याख्यान होता है, उसे अभिग्रह कहते हैं। ग्रन्थिसहित प्रत्याख्यान में कपड़े में गाँठ बांधकर प्रत्याख्यान लिया जाता है, अर्थात् जब तक गाँठ बंधी हुई होती है, तब तक वह प्रत्याख्यान रहता है और जैसे ही गाँठ खोल देते है, तो अभिग्रहीत प्रत्याख्यान पूर्ण हो जाता हैं। इसी प्रकार मुष्टिसहित प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। मुष्टिसहित प्रत्याख्यान में जब तक मुष्टि खुली होती हैं, तब तक प्रत्याख्यान होते हैं तथा मुष्टि बाँधने पर प्रत्याख्यान पूर्ण हो जाता है। सामान्यतः यह प्रत्याख्यान जिन्हें प्रत्याख्यान ग्रहण करने के सूत्र नहीं आते, उनके द्वारा लिया जाता है।

(१०) निर्विकृति - विकृति का सर्वथा त्याग करना या विगई की संख्या का परिमाण करना निर्विकृति कहलाता है।

अब इनके अपवादों (आगारों) की संख्या बताते हैं -

नवकारसी में दो अपवाद (आगार) होते हैं, पौरुषी में छः आगार होते हैं। पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ) में सात आगार होते हैं। एकासने में आठ अपवाद होते हैं। एकस्थान में सात अपवाद होते हैं। आयम्बिल में आठ आगार होते हैं। अभक्तार्थ में पाँच अपवाद होते हैं तथा पानक-प्रत्याख्यान में छः आगार होते हैं। चरिम-प्रत्याख्यान में चार आगार होते हैं। अभिग्रह के चार या पाँच अपवाद होते हैं। नीवि में आठ या नौ आगार होते हैं।

नमस्कारसहित सूत्र -

"उग्गए सूरे नमोक्कारसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं-असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

सूर्योदय होने पर नमस्कारसहित दो घड़ी दिन चढ़े तक का मैं प्रत्याख्यान ग्रहण करता हूँ और अशन, पान, खादिम और स्वादिम -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन चारों ही प्रकार के आहार का अनाभोग एवं सहसाकार अपवादपूर्वक त्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

'नमोक्कार सहियं' बोलने के पश्चात् गुरु कहते हैं - "प्रत्याख्यान करो", अथवा बहुत से लोगों के होने पर गुरु कहते हैं- "प्रतिषिद्ध", अर्थात् जो वस्तुएँ ऊपर बताई गई हैं, उनका त्याग करो। इस समय शिष्य कहता है -"मैं प्रत्याख्यान करता हूँ।"

चार प्रकार का आहार -

अशन - ओदन आदि अनाज, सत्तू आदि चूर्ण (आटा), मूँग आदि कठोल, राब आदि खाद्य पदार्थ, खाजा, खीर आदि पक्वान्न, आदु आदि सब्जियाँ, मालपुआ आदि अशन आहाररूप हैं। जिनको खाने से बल में वृद्धि होती हों तथा क्षुधा शान्त होती हो, उसे अशन कहते हैं।

ओदन - शालि (चावल), कंगु, चीनक, क्रोद्रव आदि धान्य को ओदन में समाहित किया गया है।

सत्तू - यव, मसूर, कुलत्थ, ब्रीहि एवं चनक (चने) आदि के चूर्ण को सत्तू कहते हैं। मूंग, मोठ, मसूर, तुअर, उड़द, कुलत्थ आदि द्विदल अन्न का मूंग शब्द में समावेश किया गया है।

राब - छाछ एवं अनाज मिलाकर बनाई गई राब आदि खाद्य पदार्थ का राब शब्द में समावेश किया गया है।

खीर - खीर आदि शब्द का तात्पर्य खीर, दही, छाछ, घी आदि है।

आदु - सूरनादि शब्द का तात्पर्य सभी प्रकार की गीली जमीनकंद है।

मंडकादि - मंडक आदि शब्द का तात्पर्य पुएँ, पूरणपोली, कंसार आदि हैं।

पाण - कांजी, जौ आदि का पानी, अनेक प्रकार की सुरा, कुआ, बावड़ी, तालाब आदि का जल, ककड़ी, तरबूज आदि का पानी पानकरूप है। तृष्णा एवं दाह का शमन करने के लिए जिसका पान किया जाता है, उसे पान, अर्थात् पेय पदार्थ कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यवादि जल का तात्पर्य-यव, तिल, तुष आदि के जल से है। सुरादि का तात्पर्य है - काष्ठ, चूर्ण (आटा), फल का रस, पुष्प का रस, अर्थात् शहद द्वारा बनाए गए पेय पदार्थ, जो अपुष्टिकारक एवं अतृप्तिकारक होते हैं। सर्वप्रकार के अप्काय बर्फ, ओले, शुद्ध जल आदि, ककड़ी आदि का जल - जो पुष्टि करने वाला नहीं है - ऐसे ईक्षुरस को छोड़कर शेष सभी पुष्प और फलों का रस।

खादिम - भूंजे हुए गेहूँ, चना आदि, दाँतों के लिए हितकारी गोंद, खांड, गन्ना आदि; खजूर, नारियल, द्राक्ष आदि; ककड़ी, आम, फणस आदि फल - ये सब खादिम हैं।

भक्तोस - भुना हुआ धान, जिसका आहार करने से भोजन के समान ही तृप्ति होती है। दंत - दाँतों को व्यायाम देने वाले वृक्षोत्पादित सभी प्रकार के आराद्ध और शाक। दंत शब्द का अर्थ देशविशेष में प्रसिद्ध गुड़, शहद एवं विकृति डालकर बनाया हुआ द्रव्यविशेष भी है, जिसे चबाने से दाँतों का व्यायाम हो जाता है। खजूर, नारियल, द्राक्षा आदि पदार्थों का अर्थ जगप्रसिद्ध है। यहाँ आदि शब्द का ग्रहण बादाम आदि के लिए किया गया है। ककड़ी आदि शब्द द्वारा सुस्वादु एवं अबलकारी बिम्बीफल आदि फलों का ग्रहण किया गया है। आम आदि शब्द द्वारा नारंगी, जम्बीर, बिजौरा आदि षड्रस वाले फलों का ग्रहण किया गया है। पनस शब्द द्वारा कटहल आदि मधुर रस वाले फलों का ग्रहण किया गया है - इस प्रकार खादिम पदार्थ अनेक प्रकार के होते हैं। सुख एवं स्वाद के लिए खाये जाने वाले पदार्थों को खादिम कहते हैं।

स्वादिम - दतौन (दतुवन), पान, सुपारी आदि अनेक प्रकार के मुखवास, तुलसी के पत्ते, अजवाइन आदि, मधुयष्टी, पीपल, सौंठ आदि अनेक प्रकार के स्वादिम हैं।

दतौन दाँत को स्वच्छ बनाने वाला - इसकी यह व्याख्या प्रसिद्ध है, अतः यहाँ पृथक् से व्याख्या नहीं की गई है। ताम्बूल शब्द द्वारा यहाँ पाँच प्रकार के सुगंधित पदार्थों का ग्रहण किया गया है। तुलसी शब्द द्वारा यहाँ सभी प्रकार के सुगन्धित एवं कसैले द्रुमपत्रों का ग्रहण किया गया है। कुहेटक शब्द द्वारा यहाँ भर्भर्या (भभोरी

Jain Education International . For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कत्था) आदि का ग्रहण किया गया है। मधुयष्टी, पीपल एवं सौंठ आदि - इनकी व्याख्या भी जगप्रसिद्ध है। यहाँ आदि शब्द द्वारा त्रिफला, सुपारी, लवंग, इलायची, जायफल आदि सभी शुष्क पुष्प, पत्र एवं फल आदि जो देहपुष्टि करने वाले नहीं हैं, उन्हें स्वादिम कहते हैं। स्वादिम अनेक प्रकार के होते हैं।

मुख को सुगन्धित करने के लिए तथा आनंद के लिए जिन पदार्थों को चूसकर स्वाद लिया जाता है, उन्हें स्वादिम कहते हैं।

नियम का भंग होने पर उससे लगने वाले दोष के निवारण के लिए अपवाद (आकार) को ग्रहण करते हैं।

अणाभोगेणं - स्वयं की इच्छा से, अर्थात् लगनपूर्वक किसी कार्य को करना आभोग कहलाता है तथा उसकी विपरीत स्थिति होने पर, अर्थात् विस्मृतिपूर्वक या व्यवधानपूर्वक कार्य करना अणाभोग कहलाता है।

सहसाकार - अचानक या उत्सुकतापूर्वक किसी कार्य को करने से, अथवा कार्य की उत्पत्ति स्वयमेव होने से, अर्थात् पवन आदि से आहत होकर मुख में कुछ गिर जाने पर जो दोष लगता है; उस दोष के निवारणार्थ जो आकार रखते हैं; उसे सहसाकार कहते हैं।

इस प्रकार इस प्रत्याख्यान में दो अपवाद (आकार) होते हैं - १. अनाभोग एवं २. सहसाकार।

पौरुषीसूत्र -

पौरुषी प्रत्याख्यान में छः आकार होते हैं। इसका सूत्र इस प्रकार है -

"पोरसियं पच्चक्खाहि उग्गए सूरे चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्व समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

पौरुषी का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूर्योदय से लेकर अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम - चारों ही आहार का प्रहर दिन चढ़े तक अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन एवं सर्वसमाधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्ययाकार - इन छहों (अपवादों) आकारों के सिवाय पूर्णतया त्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

पच्छन्नकालेण - बादल अथवा आँधी के कारण सूर्य के ढक जाने से पौरुषी पूर्ण हो जाने की भ्रान्ति से आहार कर लेना।

दिसामोहेणं - पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि दिशा का ज्ञान न होने पर, अर्थात् पूर्व को पश्चिम समझकर पौरुषी न आने पर भी सूर्य के ऊँचा चढ़ जाने की भ्रान्ति से अशनादि का सेवन कर लेना।

साहुवयणेणं - "पौरुषी आ गई"- इस प्रकार किसी साधु भगवंत के कहने पर बिना पौरुषी आए ही पौरुषी पारण कर लेना।

सव्वसमाहिवत्तियागारेणं - सभी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका एवं गण की समाधि बनी रहे - इस प्रकार आदर-सम्मान का जो भाव है, उस आदरभाव के कारण अशनादि का सेवन करना।

इस प्रकार इस पौरुषी-प्रत्याख्यानसूत्र में छः अपवाद (आहार) हैं।

पूर्वार्द्धसूत्र -

इस सूत्र में सात आकार हैं। पूर्वार्द्ध प्रत्याख्यान का सूत्र इस प्रकार है -

"उग्गए सूरे पुरिमड्ढं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं-असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं महत्तरागारेणं सव्व समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्द्ध तक, अर्थात् दो प्रहर तक चारों प्रकार के आहार - अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम का अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, महत्तराकार और सर्वसमाधि प्रत्ययाकार - इन सातों अपवादों (आगारों) के सिवाय पूर्णतया त्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

महत्तरागारेणं - गच्छ के मुख्य, अर्थात् आचार्य, संघ के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमुख, नगर के प्रमुख, विद्या गुण आदि में ज्येष्ठ तथा राजा के आदेश से मर्यादापूर्वक जो किया जाए, उसे महत्तरागार कहते हैं।

एकासन-प्रत्याख्यानसूत्र -

इस प्रत्याख्यान में आठ अपवाद (आकार) होते हैं।

एकासन-प्रत्याख्यान का सूत्र इस प्रकार है -

"एकासणं पच्चक्खामि दुविहं तिविहं चउव्विहंपि वा आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं। अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आंउटण पसारणेणं, गुरु अब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

मैं एकासन-तप स्वीकार करता हूँ। फलतः अशन, खादिम और स्वादिम - इन तीन प्रकार के, अथवा अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम - इन चार प्रकार के आहारों का १. अनाभोग २. सहसाकार ३. सागारिकाकार ४. आकुंचन-प्रसारण ५. गुर्वभ्युत्थान ६. पारिष्ठापनिकाकार ७. महत्तराकार एवं ८. सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - इन आठ अपवादों (आगारों) के सिवाय त्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

सागारियागारेणं - जिसके घर में रह रहें हों, अथवा पड़ोसी, अथवा शय्यातर, उनकी प्रार्थनारूप जो अपवाद होता है, उसे सागारिकाकार कहते हैं।

आउंटणपसारणेणं - भोजन करते समय हाथ-पैर आदि अंगों का सिकोड़ना या फैलाना। इस पद में समाहार द्वन्द समास है।

गुरुऽब्भुट्ठाणेणं - गुरु के आने पर एकासन करते-करते आसन त्याग कर खड़े होना।

पारिट्ठावणियागारेणं - अन्नादि के परित्याग को पारिष्ठापनिका कहते हैं। उसका आकार-अनुरोध होने से भी प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है। आहारादि को परठ देने में बहुत दोषों की सम्भावना रहती है, उन दोषों के निवारण के लिए पुनः उस आहार का उपभोग कर लेने से प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकस्थान-प्रत्याख्यानसूत्र -

एकस्थान-प्रत्याख्यान में सात आगार होते हैं। एकस्थानसूत्र इस प्रकार है -

"एक्कासणं एगट्ठाणं पच्चक्खामि, चउविहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

एकासनरूप एकस्थानव्रत को ग्रहण करता हूँ। अशन, पान, खादिम, स्वादिम - इन चारों आहारों का १. अनाभोग २. सहसाकार ३. सागारिकाकार ४. गुर्वभ्युत्थान ५. पारिष्ठापनिकाकार ६. महत्तराकार एवं ७. सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - इन सातों अपवाद (आगारों) के सिवाय पूर्णतया त्याग करता हूँ।

इस प्रत्याख्यान में आकुंचन-प्रसारण आकार नहीं होता है।

आयम्बिलसूत्र -

इस सूत्र में आठ अपवाद (आगार) होते हैं। आयम्बिल का सूत्र इस प्रकार है -

"आयंबिलं पच्चक्खामि अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

आयंबिल, अर्थात् आचाम्लतप ग्रहण करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, उत्क्षिप्तविवेक, गृहस्थसंसृष्ट, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - उक्त आठ अपवाद (आकार), अर्थात् अपवादों के अतिरिक्त अनाचाम्ल-आहार का त्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

लेवालेवेणं - लेप का तात्पर्य दधि, घृत, तेल आदि से पहले लिप्त होना है। अलेप का अर्थ है, बाद में पोंछकर अलिप्त कर देना, किन्तु पोंछ देने पर भी विकृति का कुछ अंश लिप्त रहा ही होता है। अतः आचाम्ल में लेपालेप का अपवाद (आकार) रखा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गिहत्थसंसट्ठेणं - जो आहार गृहस्थ द्वारा विकृति से समस्पर्शित किया गया हो - ऐसा आहार लेने में साधु को कोई दोष नहीं लगता है।

अखंडित सूत्रपाठ के लिए श्रावकों के प्रत्याख्यान में यह अपवाद (आकार) बोला जाता है।

उक्खित्तविवेगेणं - कदाचित् विकृति से रहित वस्तु के ऊपर विकृति रखी हुई हो, तो उस विकृति को उठाकर वह वस्तु देना उक्खित्त विवेक आकार कहलाता है। कहा भी गया है -"मक्खन, घी एवं तेल में तली वस्तु, दही, गुदा, घी, गुड़ आदि कठिन द्रव्य में नौ आगार हैं तथा प्रवाही विगय, जैसे-दूध, तेल आदि में आठ आगार हैं।" मक्खन तथा तेल एवं घी में बनाए गए पकवान - दोनों ही अद्रव तथा पिण्डरूप होते हैं तथा दही, पिशितं, अर्थात् गुदा, घृत एवं गुड़ - ये सब भी अद्रव होते हैं - यदि ये सब वस्तुएं आयम्बिल की वस्तु के ऊपर हों, तो उसे उतारकर दिए जाने पर उस वस्तु के ग्रहण करने में कोई दोष नहीं लगता है और वस्तु यदि सद्रव हो और उनके उतारकर दिए जाने पर अधिक मात्रा में विकृति से संस्पृष्ट हो, तो उस वस्तु का ग्रहण करने में विकृति का दोष लगता है। निर्विकृति-प्रत्याख्यान में नौ अपवाद होते हैं, असंस्पृष्ट द्रव्यों में "उत्क्षिप्तविवेक" अपवाद को छोड़कर शेष आठ अपवाद होते हैं।

परम अखंडित सूत्र होने से इसे इसी प्रकार बोला जाता है।

अभक्तार्थ-उपवाससूत्र -

"उग्गए सूरे, अभत्तट्ठं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि तिविहं पि आहारं-असणं पाणं खाइमं साइमं। अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्व समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

सूर्योदय से लेकर अभक्तार्थ उपवास ग्रहण करता हूँ। फलतः अशन, पान, खादिम, स्वादिम - चारों ही प्रकार के आहार का, अथवा पान के सिवाय अनाभोग त्रिविध आहार का सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - इन पाँचों अपवादों (आकार) के सिवाय पूर्णतया त्याग करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिविहार - त्रिविधाहार उपवास में पानी लिया जाता है, अतः जल सम्बन्धी छः अपवाद (आगार) मूल पाठ में सव्वसमाहिवत्तियागारेणं के आगे इस प्रकार बढ़ाकर बोलना चाहिए -

"पाणस्स लेवालेवेण वा अच्छेण वा बहुलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा"

उक्त जल सम्बन्धी आगारों का भावार्थ इस प्रकार है -

लेपकृत - अन्नादि लेप से युक्त जल को लेपकृत कहते हैं।

अलेपकृत - लेप से रहित, अर्थात् जिसका पात्र में लेपन लगता हो, ऐसे पात्र का पानी।

अच्छ - स्वच्छ या निर्मल प्रासुक जल।

बहल - कलुषित, अर्थात् धुंधला पानी।

ससिक्थ - अन्न के कणों से युक्त पानी।

असिक्थ - अन्न के कणों से रहित, अर्थात् छना हुआ धोवन-जल, जिसमें अन्न के कण नहीं हों।

अनेक प्रकार के प्रासुक-जल होने से पानक सम्बन्धी ये प्रत्याख्यान मात्र साधुओं के लिए ही होते हैं। अन्य गच्छों में श्रावकों के लिए भी इन छः अपवादों (आगारों) का निर्देश दिया गया है।

दिवसचरिम एवं भवचरिम सूत्र - दिवसचरिम या भवचरिम प्रत्याख्यान में चार अपवाद (आकार) होते हैं। इसका सूत्र इस प्रकार है -

"दिवसचरिमं भवचरिमं वा पच्चक्खामि तिविहंपि चउव्विहं पि वा असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

दिवसचरम (अथवा भवचरम का) व्रत ग्रहण करता हूँ, फलतः अशन, पान, खादिम और स्वादिम - चारों प्रकार के आहार का, अथवा अशन, खादिम और स्वादिम - इन तीन प्रकार के आहार का अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - इन चार अपवादों (आकारों) के सिवाय पूर्णतया त्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ -

दिवसचरिम - दिवस का अन्तिम भाग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवचरिम - आयु का अन्तिम भाग।

अभिग्रहसूत्र -

ग्रन्थिसहित, मुष्टिसहित, उच्छ्वाससहित अंगुष्ठसहित आदि अभिग्रह-प्रत्याख्यान में चार या पाँच अपवाद (आकार) होते हैं। अभिग्रहसूत्र इस प्रकार है -

"गंठिसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि अथवा अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

मैं ग्रंथिसहित व्रत का ग्रहण करता हूँ, अतएव अशन, पान, खादिम, स्वादिम - चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार एवं सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - इन चार आकारों, अथवा पारिष्ठापनिकाकार सहित पाँच अपवादों (आकारों) के सिवाय अभिग्रहपूर्ति तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

निर्विकृतिसूत्र -

निर्विकृतिसूत्र में आठ या नौ अपवाद (आकार) होते हैं। निर्विकृति का सूत्र इस प्रकार है -

"निविगइयं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं, लेवालेवेणं गिहत्थसंसिट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावनियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

मैं विकृतियों का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसागार, लेपालेप, गृहस्थसंसृष्ट, उत्क्षिप्तविवेक, प्रतीत्यम्रक्षिक, पारिष्ठापनिक, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - इन आकारों, अथवा प्रतीत्यम्रक्षिक को छोड़कर शेष आठ अपवादों (आकारों) के सिवाय विकृति का परित्याग करता हूँ।

विशिष्टार्थ - पडुच्चमक्खिएणं - भोजन बनाते समय जिन रोटी आदि पर सिर्फ अंगुली से घी आदि चुपड़ा गया हो, ऐसी वस्तुओं को ग्रहण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना प्रतीत्यप्रक्षित अपवाद (आगार) कहलाता है।

नवनीओगाहिमए नामक गाथा के आधार पर "उत्क्षिप्तविवेक" अपवाद में तरल विकृतियों के स्पर्श के अपेक्षा से आठ नहीं वरन् नौ अपवाद होते हैं।

विकृति - मन, वचन, काया का काम आदि के साथ सम्बन्ध कराने वाला होने से तथा सद्भावों को विकारी करने से, उन्हें विकृति कहते हैं और सूत्र के अनुसार वे दस प्रकार की हैं - १. दूध २. दही ३. घी ४. तेल ५. गुड़ ६. घी एवं तेल में तले हुए पकवान - ये छः विकृतियाँ भक्ष्य हैं। ७. मधु ८. मद्य ९. मांस एवं १०. मक्खन - ये चार विकृतियाँ अभक्ष्य हैं।

गाय, भेड़, ऊंटड़ी (मादा ऊँट), बकरी और घेटी (भेड़) के भेद से दूध पाँच प्रकार का है। ऊंटडी के दूध को छोड़कर दही आदि चार प्रकार के ही होते हैं। तिल, अलसी, कुसुंभा और सरसों के भेद से तेल भी चार प्रकार का है। गुड़ विगई के दो भेद हैं - द्रव-गुड़ और कठोर या पिण्डरूप गुड़। घी या तेल से भरी हुई कड़ाही में छन्-छन् शब्द करते हुए जो वस्तु तली जाती है, उसे कड़ाही-विकृति कहते हैं। प्रथम के दो या तीन पावे (घाण) ही कड़ाही-विकृति मानी जाती है, इसके बाद बनाई गई वस्तु योगवाहियों को निर्विकृति के प्रत्याख्यान होने पर भी आगाढ़ कारणों से कल्पनीय है। इसी प्रकार शेष विकृतियाँ भी निर्विकृति के प्रत्याख्यान में लेना कल्प्य है। अब निर्विकृतियों की विस्तार से चर्चा करते हैं -

पेय, दुग्धाटी, दुग्धावलेहिका, दुग्धसाटिका तथा खीर - ये पाँच दूध के निवियाते हैं। खीर और पेय - इन दोनों की व्याख्या प्रसिद्ध है। शेष तीन की व्याख्या इस प्रकार है -

दूध की विकृति - खटाई डालकर बनाई हुई दूध की वस्तु दुग्धसाटिका, द्राक्ष डालकर उबाला हुआ दूध पयसाटी, दूध में चावल का आटा डालकर बनाई हुई राब आदि अवलेहिका हैं।

दही की विकृति - घोलवड़ा, घोल, श्रीखण्ड, करबा, लवणयुक्त मन्थन किया हुआ सांगरी आदि से युक्त अथवा रहित दही निवियाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घी की विकृति - औषधि डालकर पकाया हुआ घी, घी की किट्टी, घी में पकी हुई औषध के ऊपर की तरी, पूरी आदि तलने के बाद बचा हुआ घी तथा विस्यंदन - ये पाँच घी के निविगाते हैं।

तैल की विकृति - तेल की मलाई, तिलकुट्टी, पूडी आदि तलने के बाद बचा हुआ तेल, औषध पकाने के बाद उसके ऊपर से उतारा हुआ तेल, लाक्षा आदि डालकर पकाया हुआ तेल - ये पाँच तेल के निविगाते हैं।

गुड़ की विकृति - आधा उबाला हुआ गन्ने का रस, गुड़ का पानी, मिश्री, गुड़ की चाशनी और शक्कर - ये पाँच गुड के निविगाते हैं।

अवगाहित (पक्वान्न) की विकृति - एक पावा निकालने के बाद के पावे, तीन पावे निकालने के बाद के पावे, गुड़धानी आदि, जल लापसी तथा तवे पर घी या तेल का पोता देकर बनाई हुई पूड़ी (टिकड़ा) आदि - ये पाँच पक्वान्न विगय के निविगाते हैं।

इस प्रकार इन छः भक्ष्य विकृतियों में से बनाए गए तीस प्रकार के निविगाते भी (निर्विकृति के प्रत्याख्यान में) भक्ष्य हैं।

अब अभक्ष्यविकृति का विवेचन करते हैं -

शहद के तीन भेद हैं - मधुमक्खी, कीट एवं भ्रमर से निर्मित शहद।

शराब के दो भेद हैं - काष्ठ (गन्ने के रस) एवं आटे से बनाई गई शराब।

मांस तीन प्रकार के प्राणियों का होता है - जलचर, स्थलचर एवं खेचर।

नवनीत (मक्खन) के चार प्रकार पूर्व में बताए गए हैं।

गृहस्थ-संसृष्ट - गृहस्थ द्वारा स्वयं के लिए बनाए गए दुग्धादि से संस्पृष्ट भात आदि के ऊपर चार अंगुल-परिमाण दूध और दही तैरते हों, तो वह मिश्रित भात निविगाता कहलाता है।

इसी प्रकार अन्य वस्तुएँ जैसे - चार अंगुल-परिमाण ऊपर तैरते हुए दूध, दही और मदिरा से मिश्रित भात आदि संस्पृष्ट कहलाते हैं, विगईरूप नहीं माने जाते। इससे अल्प हो जाने पर वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विगयरूप हो जाते हैं। प्रवाही गुड़, घी और तेल से एक अंगुल-प्रमाण मिश्रित कूर आदि संस्पृष्ट द्रव्य माने जाते हैं। अर्द्ध अंगुल-प्रमाण शहद या मांस के रस से मिश्रित वस्तु संस्पृष्ट-द्रव्य है, विगयरूप नहीं होती। गुड़, मांस और मक्खन के आर्द्रामलक-प्रमाण टुकड़ों से मिश्रित भात आदि विगयरूप नहीं माने जाते हैं। इस प्रकार विकृति-प्रत्याख्यान में गृहस्थ-संस्पृष्ट-विकृति की विशेष व्याख्या की गई है।

अप्रावरणसूत्र -

अप्रावरणसूत्र में पाँच अपवाद (आकार) होते हैं। यतिजन एकान्त को देखकर अचेलधर्म के पालनार्थ अप्रावरण (प्रावरण से रहित) होते हैं।

अप्रावरणसूत्र इस प्रकार है -

"अप्पावरणं पच्चक्खामि चउव्विहंपि आहारं - असनं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं महत्तरागारेणं सव्व समाहिवत्तियागारेणं वोसरामि।"

भावार्थ -

मैं अप्रावरणव्रत का प्रत्याख्यान करता हूँ, अतएव अशन, पान, खादिम, स्वादिम - इन चारों ही प्रकारों के आहार का अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, महत्तराकार एवं सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - इन पाँच अपवादों (आकारों) के सिवाय त्याग करता हूँ।

शेष सभी अभिग्रह प्रत्याख्यानों में यथा - साधुवन्दना, चैत्यवंदना आदि अभिग्रहों से युक्त प्रत्याख्यानों में चार आकार होते हैं। इसी प्रकार परिभोग, देशावकासिक आदि प्रत्याख्यानों में चार अपवाद (आकार) होते हैं, वे इस प्रकार हैं -

"देशावकासिकं भोगं परिभोगं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

भावार्थ -

मैं निम्न अपवाद (आकार) पूर्वक देशावकासिक, भोगोपभोग-व्रत का प्रत्याख्यान करता हूँ। वे चार अपवाद (आकार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार हैं - १. अनाभोग २. सहसाकार ३. महत्तराकार एवं ४. सर्वसमाधिप्रत्ययाकार।

किसी कारणवश यदि गृहीत प्रत्याख्यान का परित्याग करना पड़े और उससे जो आचरण का भंग होता है, उस अशुद्धि की शुद्धि पुनः उसी प्रत्याख्यान द्वारा करें। इस प्रकार सभी प्रत्याख्यानों की व्याख्या की गई है। अब प्रत्याख्यान-शुद्धि बताते हैं -

प्रत्याख्यान-शुद्धि के छः प्रकार हैं, जो इस प्रकार से हैं -

१. श्रद्धाशुद्धि २. ज्ञानशुद्धि ३. विनयशुद्धि ४. अनुभाषणशुद्धि ५. अनुपालनशुद्धि ६. भावशुद्धि - इन सब की व्याख्या इस प्रकार हैं -

श्रद्धाशुद्धि - सर्वज्ञों ने जो प्रत्याख्यान जिस विधि से, जिस अवस्था में तथा जिस काल में करने के लिए कहा है, उसी प्रकार से, उसी अवस्था में और उसी काल में वह प्रत्याख्यान करने योग्य है - इस प्रकार की श्रद्धा रखना श्रद्धाशुद्धि है।

ज्ञानशुद्धि - द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से प्रत्याख्यान को जानकर तथा मूलगुण- भेद से विकल्पों को जानकर ज्ञाता के पास प्रत्याख्यान करना ज्ञानशुद्धि कहलाती है।

विनयशुद्धि - मन-वचन एवं कायागुप्ति तथा विनयपूर्वक गुरु को वंदन कर प्रत्याख्यान करने को विनयशुद्धि कहते हैं।

अनुभाषणशुद्धि - गुरु द्वारा प्रत्याख्यानसूत्र के जो अक्षर, पद एवं व्यंजन जिस रूप में कहे गए हैं, उन्हें उसी प्रकार शुद्धिपूर्वक दोहराना अनुभाषणशुद्धि है।

अनुपालनशुद्धि - प्रत्याख्यानों को भंग न करते हुए जिस रूप में ग्रहण किया है, उसी रूप में उसका पालन करना अनुपालनशुद्धि है।

भावशुद्धि - राग-द्वेष आदि के परिणामों से प्रत्याख्यान को दूषित नहीं करना भावशुद्धि है।

दूसरे प्रकार से शुद्धि के छः प्रकार निम्नांकित हैं - १. स्पर्शित २. पालित ३. शोभित ४. तीरित ५. कीर्तित एवं ६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराधित। इनसे प्रत्याख्यान विशुद्ध होता है। इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। इनकी व्याख्या इस प्रकार है -

उचित काल में विधिपूर्वक ग्रहण किया गया प्रत्याख्यान स्पर्शित कहलाता है। सतत उपयोग और सतर्कतापूर्वक पालन किया गया प्रत्याख्यान पालित कहलाता है। प्रत्याख्यान पूर्ण होने पर गुरु द्वारा प्रदत्त शेष भोजन करना शोभित-प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का समय पूर्ण हो जाने पर भी कुछ समयपर्यन्त प्रत्याख्यान में रहना तीरित-प्रत्याख्यान है। गोचरी के समय किए हुए प्रत्याख्यान की स्मृतिपूर्वक आहार करना कीर्तित-प्रत्याख्यान है। स्पर्शित आदि छः कारणों द्वारा पूर्ण किया गया प्रत्याख्यान आराधित कहलाता है।

प्रत्याख्यान का फल इस प्रकार है - प्रत्याख्यान का फल दो प्रकार का बताया गया है - १. इहलोक सम्बन्धी धम्मिलकुमार आदि का तथा परलोक सम्बन्धी दामन आदि। प्रत्याख्यान से कर्म के आने का द्वारबंध होता है, उससे तृष्णा का छेदन होता है, तृष्णा के छेद से मनुष्यों को अतुल उपशम प्रकट होता है, जिससे उसका प्रत्याख्यान शुद्ध होता है, शुद्ध प्रत्याख्यान से - १. चारित्रधर्म निश्चय से प्रकट होता है २. पुराने कर्मों का विवेक (निर्जरा) होता है ३. अपूर्वकरण गुण प्रकट होता है, जिससे केवल ज्ञान होता है और केवलज्ञान से शाश्वत सुख के स्थानरूप ४. मोक्ष होता है।

अब देशविरति एवं सर्वविरति आदि व्रतोच्चार के सभी प्रत्याख्यान बताते हैं - इसके एक सौ सैंतालीस से अधिक भंग (विकल्प) हैं। वे इस प्रकार हैं -

१. मन २. वचन ३. काया ४. मन-वचन ५. मन-काया ६. वचन-काय एवं ७. मन-वचन-काया - ये सात विकल्प योग के होते हैं। इसी तरह से - १. करना २. कराना ३. अनुमोदन करना ४. करना और कराना ५. करना और अनुमोदन करना ६. कराना और अनुमोदना करना एवं ७. करना, कराना और अनुमोदना करना - इस प्रकार इन सातों का सात से गुणा करने पर उनपचास विकल्प होते हैं। इनसे भूत, वर्तमान एवं भविष्य - इन तीनों कालों की अपेक्षा से गुणा करने पर एक सौ सैंतालीस विकल्प

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। ये विकल्प किस प्रकार से होते हैं, उनका विवेचन पुनः मूलग्रन्थ में आगे की तीन गाथाओं के माध्यम से किया गया है।

प्रथम कोष्टकत्रय - मन से, वचन से एवं काया से न स्वयं करूंगा न दूसरों से कराऊंगा न करने वालों की अनुमोदना करूंगा। - यह एक भंग है।

द्वितीय कोष्टकत्रय - इसमें तीन भंग होते हैं - १. मन-वचन-काया से न तो स्वयं करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा २. मन-वचन-काया से न तो स्वयं करूंगा और न ही करने वालों की अनुमोदना करूंगा ३. मन-वचन-काया से न तो दूसरों से कराऊंगा और न ही करने वालों की अनुमोदना करूंगा।

तृतीय कोष्टकत्रय - इसमें तीन भंग होते हैं - १. मन-वचन-काया से न तो स्वयं करूंगा २. मन-वचन-काया से न दूसरों से कराऊंगा एवं ३. मन-वचन-काया से न करने वालों की अनुमोदना करूंगा।

चतुर्थ कोष्टकत्रय - इसमें तीन भंग होते है - १. मन, वचन से न तो स्वयं करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा, न करने वालों की अनुमोदना करूंगा २. मन-वचन-काया से न तो स्वयं करूंगा और न करने वालों की अनुमोदना करूंगा ३. वचन एवं काया से न तो स्वयं करूंगा, न दूसरों से करवाऊंगा और न ही करने वालों की अनुमोदना करूंगा।

पंचम कोष्टकत्रय - इसमें नौ भंग होते है - १. मन-वचन से स्वयं करूंगा और दूसरों से करवाऊंगा २. मन-वचन से स्वयं करूंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा ३. मन-वचन से दूसरों से करवाऊंगा ४. मन एवं काया से स्वयं करूंगा और दूसरों से करवाऊंगा ५. मन एवं काया से स्वयं करूंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा ६. मन एवं काया से दूसरों से करवाऊंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा ७. वचन एवं काया से स्वयं करूंगा और दूसरों से करवाऊंगा ८. वचन एवं काया से स्वयं करूंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा ९. वचन एवं काया से दूसरों से करवाऊंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ कोष्टकत्रय - इसमें नौ भंग होते हैं - १. मन से न तो स्वयं करूंगा २. मन एवं काया से न स्वयं करूंगा ३. मन एवं वचन से न स्वयं करूंगा ४. वचन एवं काया से न स्वयं करूंगा ५. मन एवं काया से न दूसरों से करवाऊंगा ६. वचन एवं काया से न दूसरों से करवाऊंगा ७. मन एवं वचन से न करने वालों की अनुमोदना करूंगा ८. मन एवं काया से न करने वालों की अनुमोदना करूंगा एवं ९. वचन एवं काया से न करने वालों की अनुमोदना करूंगा।

सप्तम कोष्टकत्रय - इसमें तीन भंग होते हैं - १. मन से न तो स्वयं करूंगा, न दूसरों से करवाऊंगा और न ही करने वालों की अनुमोदना करूंगा २. वचन से न तो स्वयं करूंगा, न दूसरों से करवाऊंगा और न ही करने वालों की अनुमोदना करूंगा एवं ३. काया से न तो स्वयं करूंगा, न दूसरों से करवाऊंगा और न ही करने वालों की अनुमोदना करूंगा।

अष्टम कोष्टकत्रय - इसमें नौ भंग होते हैं - १. मन से स्वयं करूंगा और दूसरों से करवाऊंगा २. मन से स्वयं करूंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा ३. मन से दूसरों से करवाऊंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा ४. वचन से स्वयं करूंगा और दूसरों से करवाऊंगा ५. वचन से स्वयं करूंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा ६. वचन से दूसरों से करवाऊंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा ७. काया से स्वयं करूंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा ८. काया से स्वयं करूंगा और दूसरों से करवाऊंगा ९. काया से दूसरों से करवाऊंगा और करने वालों की अनुमोदना करूंगा।

नवम कोष्टकत्रय - इसमें भी नौ भंग होते हैं - १. मन से स्वयं करूंगा २. मन से दूसरों से करवाऊंगा ३. मन से करने वालों की अनुमोदना करूंगा ४. वचन से स्वयं करूंगा ५. वचन से दूसरों से करवाऊंगा ६. काया से स्वयं करूंगा ७. काया से दूसरों से करवाऊंगा एवं ८. काया से करने वालों की अनुमोदना करूंगा। इस प्रकार सर्व भंग मिलकर उनपचास भंग होते हैं, अर्थात् सर्व भंगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की कुल संख्या - १+३+३+३+६+६+३+६+६ = ४६ होती है और इन ४६ भंगों के तीनों काल की अपेक्षा से, अर्थात् न तो भूत में किया, न वर्तमान में किया और न ही भविष्य में करूंगा की अपेक्षा से (४६ X ३ = १४७) १४७ भंग होते हैं।

इस प्रकार प्रत्याख्यान-आवश्यक का यह प्रकरण पूर्ण होता है।

इस प्रकार संक्षेप में क्रमशः षडावश्यक - १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दन ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग एवं ६. प्रत्याख्यान की व्याख्या की गई है। जो अवश्य करणीय है, उसे आवश्यक क्रिया कहते हैं। साधु एवं श्रावकों के लिए षडावश्यक नित्य करणीय हैं। उसके लिए विधि बताते हैं। सर्वप्रथम सामायिक की विधि बताते हैं। वह इस प्रकार है -

सर्वविरति-सामायिक की विधि प्रव्रज्याग्रहण की विधि में कही गई है, अतः इन दोनों की विधि उसमें देखें। वर्तमान में श्रावकों द्वारा जो अवश्य करणीय है, ऐसी सामायिक-आवश्यक की विधि बताते हैं-

सर्वकार्यों के आरम्भ में सर्वप्रथम परमेष्ठीमंत्र का पाठ करते हैं, तो आवश्यकविधि में नमस्कारमंत्र का पाठ क्यों नहीं करें ? अतः सर्वप्रथम नमस्कारमंत्र बोलें। सामायिक की संक्षिप्त विधि - मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, नमस्कारमंत्र, सामायिक का पाठ, इरियावहि, आसन की प्रतिलेखना, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान एवं गुरु-साधुओं को वन्दन करना - यह सामायिक की विधि है।

व्याख्या -

सर्वप्रथम श्रावक आसन को लेकर आगे रख दे तथा गुरु को नमस्कार करके इस प्रकार बोलें -"हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे सामायिक ग्रहण करने के लिए मुखवस्त्रिका-प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" इस प्रकार (अनुज्ञा प्राप्त करने के बाद) बैठकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करता है। तत्पश्चात् खड़े होकर तीन बार या एक बार नमस्कारमंत्र बोलता है। तत्पश्चात् गुरु के आगे (श्रावक) इस प्रकार कहें - "हे भगवन् ! सामायिकदण्डक का उच्चारण कराएं।" तत्पश्चात् गुरु तीन बार या एक बार सामायिकदण्डक का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाठ बोलते हैं। श्रावक भी गुरु द्वारा बोले गए पाठ का उच्चारण करता है। तत्पश्चात् श्रावक विधिपूर्वक गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करता है। तत्पश्चात् बैठकर खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहता है -"हे भगवन् ! मुझे आसन ग्रहण करने की तथा आसन की प्रतिलेखना करने की आज्ञा दें।" इस प्रकार कहकर प्रतिलेखना के पच्चीस बोलों द्वारा काष्ठासन की प्रतिलेखना करे तथा उसी प्रकार पादप्रोंछन की भी प्रतिलेखना करे। पुनः श्रावक खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहता है -"हे भगवन् ! मैं स्वाध्याय करूं ?" तत्पश्चात् अनुज्ञा प्राप्त होने पर खड़े होकर तीन बार नमस्कारमंत्र अथवा "जयइ जगजीवजोणी" की पाँच गाथा बोलता है। फिर क्षमाश्रमण के आगे कहता है - "हे भगवन् ! कृपा करके आप मुझे प्रत्याख्यान कराएं।"

दोपहर के समय गुरु निम्न प्रत्याख्यान कराए -

"सामाइयचरियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहार असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।"

संध्या के समय गुरु "दिवसचरिम" प्रत्याख्यान न कराए। यहाँ इतना विशेष है कि श्रावक की शक्ति के अनुसार द्विविधाहार, त्रिविधाहार या चतुर्विधाहार का प्रत्याख्यान कराए।

अन्य गच्छों में सामायिक-विधि में सर्वप्रथम ईर्यापथिकी की क्रिया करते हैं, तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करते हैं। फिर क्रमशः नमस्कारमंत्र एवं सामायिक-दण्डक का उच्चारण करते हैं। तत्पश्चात् आसन ग्रहण करना, प्रतिलेखना करना, स्वाध्याय करना, प्रत्याख्यान करना एवं गुरु तथा साधु भगवंतों को वन्दन करने की क्रिया करते हैं। सामायिक-पारणे के समय मुँहपत्ति की प्रतिलेखना करके दो बार खमासमणासूत्रपूर्वक सामायिक-पारणे की इच्छा व्यक्त करते हैं। तत्पश्चात् सामायिक- पारणे की गाथा तथा परमेष्ठीमंत्र बोलकर सामायिक को पूर्ण करते हैं।

अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिट) के बाद, अर्थात् सामायिक का काल पूर्ण होने पर (श्रावक) कहता है -"हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(संकल्पित) सामायिकव्रत को पूर्ण करने हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" इस प्रकार कहकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करता है। पुनः खमासमणा देकर कहता है - "हे भगवन् ! (संकल्पित) सामायिकव्रत को पूर्ण करूं ?" उस समय गुरु कहते हैं - "पुनः करने योग्य है।" तत्पश्चात् दूसरी बार खमासमणापूर्वक कहता है -"हे भगवन् ! मैं (संकल्पित) सामायिकव्रत को पूर्ण करता हूँ।" उस समय गुरु कहते हैं -"यह आचार त्यागने योग्य नहीं है।" तत्पश्चात् श्रावक मुख पर मुखवस्त्रिका आच्छादित करके तथा सिर को भूमि पर रखकर (लगाकर) सामायिक पारणे का निम्न सूत्र बोले -

भावार्थ -

हे भगवन् ! दशार्णभद्र, सुदर्शन, स्थूलिभद्र और वज्रस्वामी ने घर का त्याग करके (साधु-दीक्षा लेकर) वास्तव में जीवन सफल किया है - साधु इनके समान होते हैं। ऐसे साधुओं को वन्दन करने से निश्चय ही पापकर्म नष्ट होते हैं, शंकारहित भाव की प्राप्ति होती है, मुनिराजों को शुद्ध आहार आदि देने से निर्जरा होती है, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्बन्धी अभिग्रह की प्राप्ति होती है। घातीकर्मसहित छद्मस्थ मूढ़ मन वाला यह जीव किंचित्मात्र स्मरण कर सकता है (सब नहीं), अतः जो मुझे स्मरण है, उनकी तथा जो स्मरण नहीं हो रहे हैं, वे सब मेरे दुष्कृत (पाप) मिथ्या हों, अर्थात् उनके लिए मुझे बहुत पश्चाताप हो रहा है। मैंने मन से जो-जो अशुभ चिंतन किया हो, वचन से जो-जो अशुभ बोला हो तथा काया से जो-जो अशुभ किया हो, वह मेरा सब दुष्कृत मिथ्या हो। सब जीव कर्मवश होकर चौदह राजलोक में (संसार में) भ्रमण करते हैं, मैं उन सबको क्षमा करता हूँ और वे भी मुझे क्षमा करें। हे जीवसमूह ! आप सब क्षमापना करके मुझे क्षमा करो। मैं सिद्धों की साक्षी में आलोचना करता हूँ कि मेरा किसी भी जीव के साथ वैर-भाव नहीं है। सामायिक-व्रतधारी जब तक तथा जितने समय तक मन में नियम रखकर सामायिक करता है, तब तक और उतने समय तक वह (सामायिक व्रतधारी) अशुभ कर्मों का नाश करता है। सामायिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विधिपूर्वक ग्रहण की है और विधिपूर्वक ही पूर्ण की है - विधिपूर्वक ग्रहण करते समय तथा विधिपूर्वक पारते समय - इन दोनों प्रकार की क्रिया में जो कोई भी अविधि या आशातना हुई हो, तो मेरा वह पाप मिथ्या दुष्कृत हो। तत्पश्चात् परमेष्ठीमंत्र बोले - इस प्रकार सामायिक का यह प्रकरण पूर्ण होता है।

सामायिक का प्रसंग होने से अब यहाँ पौषध की विधि बताते हैं। जिस दिन श्रावक या श्राविका को पौषध लेने की अभिलाषा हो, उस दिन प्रातःकाल या संध्या के समय साधु या साध्वी के समीप जाए तथा अंगप्रतिलेखना करके उच्चार प्रस्रवण भूमि एवं मात्रक की प्रतिलेखना करे।

पौषध की विधि संक्षेप में इस प्रकार बताई गई है - श्रावक सर्वप्रथम गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे। तत्पश्चात् क्रमशः पौषधव्रत ग्रहण करने हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, नमस्कारमंत्र एवं पौषधदण्डक का उच्चारण, सामायिकव्रत ग्रहण करने हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, नमस्कारमंत्र एवं सामायिकदण्डक का उच्चारण, आसन की प्रतिलेखना स्वाध्याय, गुरुवन्दन, उपधि, स्थण्डिलभूमि एवं वसति की प्रतिलेखना करे। आहार करने पर वंदना करे। यह पौषध की संक्षिप्त विधि बताई गई है।

अब उसकी व्याख्या करते हैं -

स्थापित स्थापनाचार्य के समीप जाकर गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके श्रावक इस प्रकार बोलता है - "हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे पौषधव्रत ग्रहण करने के लिए मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा दें।" इसके बाद मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके तथा खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन कर इस प्रकार कहता है - "हे भगवन् ! आज्ञा दीजिए, मैं पौषध करूं ? गुरु कहते हैं - आज्ञा है।" दूसरी बार खमासमणा देकर श्रावक कहता है -"हे भगवन् ! पौषध में स्थिर होऊं ? गुरु कहते हैं - "हाँ पौषध में स्थिर बनो।" तत्पश्चात् श्रावक खड़े होकर तीन बार नमस्कारमंत्र बोलता है। तत्पश्चात् गुरु के आगे कहता है -"हे भगवन् ! पौषधदण्डक का (पौषध ग्रहण करने का पाठ) उच्चारण कराए।" तत्पश्चात् गुरु तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बार या एक बार पौषधदण्डक का उच्चारण करते हैं तथा श्रावक भी उनके द्वारा उच्चारित दण्डक का अनुसरण, अर्थात् उच्चारण करता है। पौषधव्रत ग्रहण करने का दण्डक (मूलपाठ का भावार्थ) इस प्रकार है -

भावार्थ -

हे पूज्य ! मैं पौषध करता हूँ। उसमें आहार-पौषध देश से (कुछ अंश से), अथवा सर्व से (सर्वांश से) ग्रहण करता हूँ, शरीर-सत्कार-पौषध सर्व से करता हूँ। ब्रह्मचर्य-पौषध सर्व से करता हूँ और अव्यापार-पौषध भी सर्व से करता हूँ। इस तरह चार प्रकार के पौषधव्रत में स्थित होता हूँ। जहाँ तक दिन अथवा अहोरात्रपर्यन्त मैं प्रतिज्ञा का सेवन करूं, वहाँ तक मन, वचन और काया से सावद्य प्रवृत्ति न करूं और न करवाऊं। हे भगवन् ! इस प्रकार की जो कोई अशुभ प्रवृत्ति हुई हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ, उन अशुभ प्रवृत्तियों को मैं बुरी मानता हूँ, उसकी गर्हा करता हूँ तथा इस अशुभ प्रवृत्ति को करने वाले कषायात्मा का मैं त्याग करता हूँ।

यहाँ दिवस एवं अहोरात्रि के पौषध में आहार ग्रहण करने के लिए, अर्थात् आहार ग्रहण करने के उद्देश्य से "आहार पोसह देसओ"- इन पदों का उच्चारण करे, शेष सब उसी प्रकार से बोले। तत्पश्चात् बैठकर इस प्रकार कहे - "हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे सामायिकव्रत ग्रहण करने हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा दें।" इस प्रकार से कहकर श्रावक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तत्पश्चात् श्रावक खड़ा होकर तीन बार या एक बार नमस्कारमंत्र का उच्चारण करे। फिर श्रावक कहे - "हे भगवन् ! सामायिकदण्डक का उच्चारण कराएं।" तत्पश्चात् गुरु तीन बार या एक बार सामायिकदण्डक का उच्चारण कराते हैं। (मूलग्रन्थ में यहां करेमि भंते का पाठ दिया गया है।) तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके वर्षाकाल में श्रावक कहे - "हे भगवन् ! मुझे काष्ठासन ग्रहण करने की तथा उसकी प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" शेष आठ मास में काष्ठासन की जगह पादप्रोंछन ग्रहण करने की तथा उसकी प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा मांगते हैं। इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिलेखना की अनुज्ञा मांगकर पाट, अथवा पादप्रोंछन की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! मुझे स्वाध्याय करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" (अनुज्ञा प्राप्त होने के पश्चात्) "मैं स्वाध्याय करता हूँ"- इस प्रकार कहे तथा खड़ा होकर तीन बार नमस्कारमंत्र पढ़कर "जयइ जगजीवजोणी" इत्यादि पाँच या पच्चीस गाथाएँ बोले। तत्पश्चात् पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! उपधि ग्रहण करने की तथा उसकी प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" इस प्रकार कहकर यदि पूर्व में प्रतिलेखना काल के समय वस्त्र एवं पौषधागार आदि की प्रतिलेखना न की हो, तो उस समय प्रतिलेखना करे और यदि प्रतिलेखना कर ली हो, तो उस समय मात्र खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन ही करे। तत्पश्चात् दो बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके श्रावक कहे -"हे भगवन् ! वसति ग्रहण करने हेतु तथा उसकी प्रतिलेखना करने हेतु अनुज्ञा प्रदान करें।" इस प्रकार कहकर यदि पूर्व में प्रतिलेखनाकाल के समय वसति, मात्रक आदि की प्रतिलेखना न की हो, तो उस समय प्रतिलेखना करे। यदि प्रतिलेखना कर ली हो, तो भी खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके उसकी पूर्ति करे। दण्डप्रोंछन द्वारा वसति की प्रमार्जना करे। तत्पश्चात् पुनः गुरु के समीप आकर खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके इस प्रकार कहे -"हे भगवन् ! कृपा करके आप मुझे प्रत्याख्यान कराएं।" तत्पश्चात् श्रावक यदि आहार करने का इच्छुक हो, तो प्रातः पौषध ग्रहण करते समय दिवस सम्बन्धी पौषध में गुरु नवकारसी (सूर्योदय से ४८ मिनिट तक चारों आहार का त्याग) प्रत्याख्यान कराएं। (यहाँ मूलग्रन्थ में नवकारसी के प्रत्याख्यान का सूत्र दिया गया है।) तत्पश्चात् स्वाध्यायकाल के समय पुनः आयम्बिल, एकभक्त, निर्विकृति आदि या त्रिविधाहार उपवास का प्रत्याख्यान कराये। रात्रिपौषध में संध्या के समय दिवसचरिम प्रत्याख्यान कराएं। अगर श्रावक ने आहार ग्रहण किया हो, तो वह दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करता है और उसने यदि आहार ग्रहण नहीं किया है, तो वह द्वादशावर्त्तवन्दन नहीं करके आचार्य, उपाध्याय, गुरु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं साधुओं को सामान्य वन्दन करता है। - इस प्रकार पौषध ग्रहण करने की यह सामान्य विधि बताई गई है।

अहोरात्रि का पौषध ग्रहण करने की विधि इस प्रकार है -

ब्रह्ममुहूर्त में पूर्वोक्त विधि से (श्रावक) पौषध ग्रहण करता है। पूर्व में उल्लेखित संख्या के अनुसार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके उपधि एवं वसति की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् प्रतिक्रमण का समय होने पर प्राभातिक (प्रातःकाल) का प्रतिक्रमण करता है। प्रतिक्रमण के अन्त मे दो बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके बहुवेल, अर्थात् अनेक छोटी-छोटी क्रियाओं को करने की आज्ञा प्राप्त करता है तथा उन क्रियाओं को करता है। इस प्रकार बहुवेल का आदेश प्राप्त करके आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधुओं को वन्दन करता है। तत्पश्चात् प्रतिलेखनाकाल के आने पर खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहता है -"हे भगवन् ! मुझे प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान कीजिए।" पुनः दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहता है -"मैं प्रतिलेखना करता हूँ।" इस प्रकार कहकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! मुझे अंग प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान कीजिए" तथा दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके -"मैं अंग-प्रतिलेखना करता हूँ"- इस प्रकार कहकर अपने वस्त्रों की प्रतिलेखना करके स्थापनाचार्य की प्रतिलेखना करे। पुनः श्रावक कहे -"हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे उपधि ग्रहण करने हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" इस प्रकार कहकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! उपधि ग्रहण करूं ?" तथा दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन कर कहे -"हे भगवन् ! उपधि की प्रतिलेखना करूं ?" इस प्रकार कहकर वस्त्र, कंबल आदि की प्रतिलेखना करता है। पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहता है- "हे भगवन् ! वसति की अनुज्ञा प्रदान करें।" दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! वसति की प्रतिलेखना करूं ?" इस प्रकार कहकर वसति एवं मात्रकादि की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिलेखना करता है। पुनः, गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहता है -"हे भगवन् ! स्वाध्याय करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहता है - "मैं स्वाध्याय करता हूँ।" तत्पश्चात् रात्रि के अन्तिम प्रहर में जिस समय नमस्कारसहित प्रत्याख्यान करते हैं, उसी समय अपनी शक्ति के अनुसार एकभक्त, निर्विकृति, आयम्बिल या उपवास का प्रत्याख्यान करता है। फिर परमेष्ठीमंत्र का जाप करता है, पुस्तक आदि का वाचन करता है अथवा साधुओं से आगमों का (शास्त्रों का) श्रवण करता है। तत्पश्चात् प्रहर से कुछ कम (एक पाद कम) समय व्यतीत होने पर खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके श्रावक कहता है -"हे भगवन् ! प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक कहे -"मैं प्रतिलेखना करता हूँ।" तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके सर्व वस्त्र, पात्रोपकरण आदि की प्रतिलेखना करे। फिर "हे भगवन् ! आवस्सही"- इस प्रकार कहकर तथा उपाश्रय से निकलकर चैत्य में जाकर देववन्दन करता है। तत्पश्चात् यदि श्रावक आहार करने का इच्छुक हो, तो (लिए गए) प्रत्याख्यान का समय पूर्ण होने पर कहता है -"हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे प्रत्याख्यान के पारण हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" (अनुज्ञा प्राप्त होने पर) मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"जिनका समय पूर्ण हो गया है, ऐसे त्रिविधाहार अथवा चतुर्विधाहार के एक प्रहर के, अथवा दो प्रहर के, अथवा निर्विकृति के, अथवा आयम्बिल के, अथवा एकासन के, अथवा जलसहित उपवास के प्रत्याख्यान को मैं पूर्ण करता हूँ।" तत्पश्चात् शक्रस्तव का पाठ करे तथा बीस या सोलह गाथाओं तक स्वाध्याय करे। फिर यथासंभव अन्न का अतिथिसंविभाग (दान) करे। मुख, हस्त एवं पाद आदि की प्रतिलेखना करके नमस्कारमंत्र पढ़कर राग एवं द्वेष से रहित होकर गृहस्थ के पात्र में प्रासुक आहार ग्रहण करे। पाँच समितियों से युत होकर स्वगृह में जाकर स्वयोग, अर्थात् स्वयं के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनाया गया प्रासुक आहार ग्रहण करे, अथवा पौषधशाला में पूर्व निर्दिष्ट स्वजनों द्वारा लाया गया, अथवा भिक्षाटन द्वारा लाया गया प्रासुक आहार ग्रहण करे। भोजन करने के बाद गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके, शक्रस्तव बोलकर तथा द्वादशावर्त्तवन्दन करके दिवसचरिम त्रिविध या चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करता है। यदि पुन (श्रावक को) शरीर की चिन्ता हेतु बाहर जाना हो, तो दूसरी बार "भगवन् ! आवस्सही"- इस प्रकार कहकर साधु के समान ही उपयुक्त निर्जीव स्थण्डिलभूमि पर जाकर विधिपूर्वक उच्चार-प्रस्रवण (मल-मूत्र) का त्याग करे तथा पुनः उसी प्रकार विधिपूर्वक पौषधागार में आकर "निस्सीही"- इस प्रकार कहकर प्रवेश करे। तत्पश्चात् गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके इस प्रकार कहे -"हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करने की अनुज्ञा प्रदान करें। आवश्यक होने से पूर्व-पश्चिम, उत्तर अथवा दक्षिण दिशा में दिशा का अवलोकन करके तथा स्थण्डिलभूमि के जो विभिन्न विकल्प हैं, तदनुसार उनका प्रमार्जन करके, मल-मूत्र आदि का विसर्जन करके, पुनः जाने के निषेधपूर्वक पौषधशाला में प्रवेश करता हूँ। इस प्रकार आने-जाने में पौषधव्रत के नियमों की खण्डना या विराधना हुई हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो। "तत्पश्चात् स्वाध्याय एवं शुभध्यान द्वारा प्रथम प्रहर तक दिन को व्यतीत करता है। प्रतिलेखना का समय होने पर खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन्! प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान करे। दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहता है -"मैं प्रतिलेखना करता हूँ।" इस प्रकार कहकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! पौषधशाला की प्रमार्जना करता हूँ।" तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका तथा पादप्रोंछन की प्रतिलेखना करे। पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! अंगप्रतिलेखना करने की अनुज्ञा प्रदान करे।" पुनः दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"मैं अंग की प्रतिलेखना करता हूँ।" आहार करने वाला, अर्थात् भक्तार्थी सर्वप्रथम स्थापनाचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्रतिलेखना करके पहने हुए वस्त्रों की प्रतिलेखना करता है। तत्पश्चात् पौषधशाला की प्रमार्जना करके सफाई करे। फिर प्रतिलेखित स्थापनाचार्य को संस्थापित करे। तत्पश्चात् पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। फिर पूर्व की भाँति स्वाध्याय करे। तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! उपधि एवं स्थंडिलभूमि की प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा दें।" दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! मैं उपधि एवं स्थण्डिलभूमि की प्रतिलेखना करता हूँ।" फिर वस्त्र, कम्बल आदि की प्रतिलेखना करके पुनः शुभध्यान में स्थिर होता है। कालवेला के आने पर, अर्थात् प्रतिक्रमण का समय होने पर उच्चार-प्रस्रवण (मल-मूत्र का त्याग) करने हेतु चौबीस प्रकार की स्थण्डिलभूमि की प्रतिलेखना करता है। तत्पश्चात् उस दिन के अनुसार सांवत्सरिक, चातुर्मासिक, पाक्षिक या दैवसिक प्रतिक्रमण करता है। उसके बाद साधुओं से विशेष रूप से क्षमापना करता है। फिर स्वाध्यायपूर्वक रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत करता है। तत्पश्चात् शरीर-चिन्ता, अर्थात् लघुनीति करके गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करता है। फिर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! रात्रि-संथारा करने की अनुज्ञा प्रदान करें।" दूसरी बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"मैं रात्रि-संथारे में स्थिर होता हूँ।" इस प्रकार कहकर शक्रस्तव का पाठ करे। तत्पश्चात् संस्तारक एवं शरीर का प्रमार्जन करके, संस्तारक के जानु के ऊपर के भाग तक उत्तरपट्ट को मिलाकर भूमि पर स्थापित करे। फिर कहे -"अनुज्ञा दीजिए, अन्य सब प्रवृत्तियों का निषेध करता हूँ, क्षमाक्षमण को नमस्कार हो"- इस प्रकार कहकर संस्तारक के ऊपर बैठता है। वहाँ तीन बार नमस्कारमंत्र बोलकर, तीन बार चतुःशरण का पाठ बोलकर, निम्न तीन गाथाएँ बोलता है - "उत्तम गुणरत्नों से विभूषित देहवाले परम गुरुओं रात्रि का प्रथम प्रहर अच्छी तरह परिपूर्ण हुआ है, अतः रात्रि-संथारे में स्थिर होने की अनुज्ञा दीजिए।।१।। संथारे की विधि (हे भगवन् !) संथारे की अनुज्ञा दीजिए, हाथ का तकिया करके बाईं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करवट से और मुर्गी की तरह पाँव रखकर सोता हूँ। सोने में असुविधा हो, तो भूमि का प्रमार्जन कर बाद में पाँव लम्बे करूं।।२।। यदि पैर लम्बे करने के बाद में संकुचित करना पड़े, तो घुटनों को पूंजकर संकुचित करूं और करवट बदलनी पड़े, तो शरीर का प्रमार्जन कर करवट बदलूं - यह इसकी विधि है। यदि कायचिन्ता के लिए उठना पड़े, तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विचारणा करनी और इतना करने पर भी यदि निद्रा न उड़े, तो हाथ से नाक दबाकर श्वास को रोकना और इस प्रकार निद्रा से सम्यक्तया जागकर, तब प्रकाशवाले द्वार के सामने देखकर, जाकर कायचिंता का निवारण करे। यह इसकी विधि है।।३।। इन तीन गाथाओं को पढ़कर हाथ-पैर संकोच कर तथा बाएं हाथ का तकिया बनाकर बाईं करवट से सो जाए। पुनः यदि (रात्रि में) करवट बदलनी हो, तो शरीर एवं संस्तारक की प्रतिलेखना करे। (रात्रि में) शरीर की चिंता (मल-मूत्र का विसर्जन करने) हेतु उठे, तो शरीर-चिन्ता से निवृत्त होकर गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे। पुनः एक बार "अणुजाणह परमगुरु." - इन तीन गाथाओं को बोले तथा पुनः सो जाए। लेटे हुए भी निद्रा न आए, तो शुभध्यान करे। तत्पश्चात् रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठकर देह-चिन्ता से निवृत्त होए। तत्पश्चात् गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके रात्रि में आए कुस्वप्न एवं दुःस्वप्न के प्रायश्चित्त तथा चित्त के विशोधन हेतु "मैं कायोत्सर्ग करता हूँ"- इस प्रकार कहकर कायोत्सर्ग करे तथा शक्रस्तव का पाठ करे। तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके सामायिकदण्डक (पाठ) का उच्चारण करे तथा प्रतिक्रमण का समय होने तक स्वाध्याय करे। पुन शुभध्यानपूर्वक शेष रात्रि व्यतीत करे और प्रतिक्रमण का समय होने पर प्राभातिकप्रतिक्रमण करे। फिर पुनः पूर्ववत् सर्व प्राभातिक क्रिया करे। पौषध का समय पूर्ण होने पर श्रावक कहे -"हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे पौषध पूर्ण करने हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करने की अनुज्ञा दें।" अनुज्ञा प्राप्त होने पर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -" हे भगवन् ! इच्छापूर्वक पौषध पारने (पूर्ण करने) की अनुज्ञा दें।" दूसरी बार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"मैं पौषधव्रत को पूर्ण करता हूँ।" मुखवस्त्रिका को मुख पर लगाकर तथा सिर को भूमि पर रखकर पौषध पारने का निम्न पाठ बोले -

भावार्थ -

सागरचन्द्र एवं कामदेव श्रावक चंद्रावतंसक राजा और सुदर्शन सेठ धन्य हैं, जिनकी पौषध की प्रतिमा जीवन के अंत समय तक अखण्डित रही। जो गर्भावास में भयभीत होता है, वह इस संसार में दुर्लभ महामुनि की भाँति जीवों को अभयदान देकर तथा मणि-सुवर्ण के प्रति ममत्व का त्याग करके पौषध करता है। पौषध करने से शुभभाव आते हैं एवं अशुभभावों का नाश होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। पौषध करने से व्यक्ति की नरक एवं तिर्यंचगति का छेदन होता है - ऐसा जो कहा जाता है, उसमें भी कोई संदेह नहीं है। सामायिक, पौषध अथवा देशावगासिक में जीव का जो समय व्यतीत होता है, वह समय सफल समझना चाहिए। बाकी का समय तो संसारवृद्धि का हेतु है। पौषध करने से चक्रवर्ती के समान वैभव की तथा कालान्तर में मोक्षपद की प्राप्ति होती है। महर्षियों द्वारा पौषध का यह फल बताया है।"

तत्पश्चात् नमस्कारमंत्र बोलकर सामायिकव्रत पूर्ण करने हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके पूर्ववत् सामायिक पारता है (पूर्ण करता है)। फिर पौषध पूर्ण कर लेने पर निश्चित रूप से साधुओं एवं सत्पुरुषों का अतिथिसंविभाग करे, अर्थात् दान दे। अहोरात्रिक-पौषध की यह विधि बताई गई है। सामायिक की दो घटिका (श्रावक) नमस्कार-जाप, प्रतिक्रमण आदि द्वारा पूर्ण करे। कुछ सामान्यजन सामायिक में पाँच सौ नमस्कारमंत्र का जाप करने के लिए कहते हैं। सामायिक पूर्ण करने के बाद पुनः पुनः सामायिक ग्रहण करना - यह परम्परा है। इस आवश्यक प्रकरण में सामायिक की विधि संपूर्ण होती है।

अब चैत्यवंदन की विधि बताते हैं - सर्वप्रथम स्थापनाचार्य की स्थापना करे। वन्दन, प्रतिक्रमण, आलोचना, क्षमापना आदि क्रियाएँ गुरु के आगे करना उचित है, किन्तु चैत्यवंदन अरिहंत भगवान का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दनकर्म है, अतः उन्ही के आगे करना उचित है, इसलिए स्थापनाचार्य की स्थापना करते हैं। परमेष्ठीमंत्र से स्थापित स्थापनाचार्य में भगवत्कल्पना एवं गुरु की कल्पना करके उसके आगे दोनों की क्रिया करना श्रेयस्कर है। जैसा कि आगम में कहा गया है -

श्री जिनेश्वर भगवंत के अभाव में जिस प्रकार श्री जिनेश्वर भगवंत की प्रतिमा का आमंत्रण और सेवा सफल होती है, उसी प्रकार गुरु के अभाव में गुरु के आदेश और दर्शन हेतु स्थापनाचार्य सफल है। जैसे देवता या मंत्र आदि के परोक्ष होने पर भी उनकी उपासना की जाती है, उसी प्रकार गुरु के परोक्ष होने पर भी उनके प्रति विनय एवं सेवा हेतु स्थापनाचार्य की स्थापना करे। इस प्रकार उक्त कारणों से स्थापनाचार्य की स्थापना करते हैं। उसकी परिमाण-शुद्धि इस प्रकार है - स्थापनाचार्य का परिमाण उत्कृष्टतः चौबीस अंगुल, मध्यमतः बारह अंगुल एवं जघन्यतः मुष्टि के अन्दर आ जाए-इतना होता है। उत्तम देवदार वृक्ष के काष्ठ या रत्नों से निर्मित स्थापनाचार्य को बारह अंगुल दीर्घ देवदार वृक्ष की काष्ठ से निर्मित कालदंड पर आगे रखते हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि स्थापनाचार्य रत्न या शंख के होने चाहिएं - ये उनकी अपनी मान्यता है, अन्य मान्यताओं को भी दोषपूर्ण नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार स्थापित स्थापनाचार्य की साधु एवं श्रावक-दोनों समय मुखशुद्धि करके प्रतिलेखना करे। उसके आगे चैत्यवंदन करे। यतियों के लिए दिन-रात में सात चैत्यवंदन करना अनिवार्य है। श्रावकों के लिए भी यही कहा गया है। जैसा कि कहा गया है - साधुओं को अहोरात्रि में सात बार चैत्यवंदन करना चाहिए तथा गृहस्थों को तीन, पाँच या सात बार चैत्यवंदन करना चाहिए। यतियों के सात चैत्यवंदन इस प्रकार बताए गए हैं - १. ब्रह्ममुहूर्त में निद्रा से उठने पर २. प्राभातिक-प्रतिक्रमण के समय ३. चैत्य-परिपाटी के समय ४. प्रत्याख्यान पारने हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करते समय ५. भोजन करने के पश्चात् ६. सांयकालिक-प्रतिक्रमण के समय एवं ७. शयन करते समय। गृहस्थ के लिए भी इसी प्रकार सात चैत्यवंदन बताए गए हैं - १. शयन से पूर्व २. जागने पर, अर्थात् प्रातः उठने पर ३. भोजन करने से पूर्व - इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार ये तीन चैत्यवंदन होते हैं। चैत्यदर्शन के समय एवं भोजन के बाद चैत्यवंदन - इस प्रकार पाँच तथा दोनों समय प्रतिक्रमण करते समय - इस प्रकार गृहस्थों के भी सात चैत्यवंदन बताए गए हैं। चैत्यवंदन की विधि तीन प्रकार की बताई गई है। वह इस प्रकार है - "नमस्कार-पाठ द्वारा जघन्य तथा दो दंडक एवं स्तुति-युगल द्वारा मध्यम एवं पाँच दण्डक, चार स्तुति, स्तवन एवं प्रणिधानों द्वारा उत्कृष्ट चैत्यवंदन होता है।" नमस्कारपूर्वक परमात्मा के आगे परमेष्ठीमंत्र पढ़ना - यह जघन्य चैत्यवंदन है - इस प्रकार की विधि से किया जाने वाला चैत्यवंदन जघन्य-चैत्यवंदन है। दो दंडक और दो स्तुतियों द्वारा मध्यम चैत्यवंदन होता है। जैसे - परमात्मा के या स्थापनाचार्य के समक्ष जाकर जिनस्तव, शक्रस्तव, चैत्यस्तव, साहूवंदन, प्रस्तुत जिनस्तोत्रपाठ, जयवीयराय एवं गुरुवंदन - इस प्रकार की विधि से किया जाने वाला चैत्यवंदन मध्यम होता है, जिसकी व्याख्या इस प्रकार है -

व्याख्या - सर्वप्रथम अर्द्ध सिंहासन में बैठकर मुख पर मुखवस्त्रिका या वस्त्रांचल लगाकर तथा दोनों हाथों की अंजलि बनाकर इस प्रकार कहता है -"हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे चैत्यवंदन करने की अनुज्ञा दीजिए।" यहाँ जिन एक सौ सत्तर तीर्थंकरों को वन्दन किया है, वे सब मोहरहित हैं तथा देवताओं से पूजित हैं एवं उनके वर्ण भिन्न-भिन्न हैं। कोई श्रेष्ठ सुवर्ण समान पीत वर्ण के हैं, कोई शंख जैसे सफेद वर्ण वाले हैं, कोई प्रवाल जैसे लाल वर्ण वाले हैं, कोई नीलममणि जैसे नीलवर्ण है वाले और कोई मेघ जैसे श्याम वर्ण वाले हैं। इन पाँचों वर्णों में सब तीर्थंकरों के वर्ण आ जाते हैं - इन सबको मैं वन्दन करता हूँ। इस प्रकार आर्या छंद के राग में उक्त गाथा बोले। तत्पश्चात् शक्रस्तव का पाठ करे। फिर "जावंति चेइयाइं" गाथा बोले तथा उसके बाद खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके "जावंति केवि."- यह गाथा बोले। तत्पश्चात् "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः"- यह कहकर प्रस्तुत जिनस्तोत्र का पाठ करे। उसके बाद "जयवीयराय" सूत्र बोले। तत्पश्चात् आचार्य, उपाध्याय, गुरु एवं साधु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को वन्दन करे। इस प्रकार मध्यम चैत्यवंदन की यह विधि सम्पूर्ण होती है।

अब उत्कृष्ट चैत्यवंदन की विधि बताते है -

उत्कृष्ट चैत्यवंदन में क्रमशः जिनस्तव, शक्रस्तव, चैत्यस्तव, जिनस्तुति, चतुर्विंशतिस्तव, सर्वलोक अरिहंत चैत्यस्तव तथा उनकी स्तुति, श्रुतस्तव कायोत्सर्ग, श्रुतस्तुति और सिद्धस्तव कहकर, वैयावृत्यकर देवों का कायोत्सर्ग और उनकी स्तुति करे। पुनः शक्रस्तव, चैत्यवंदन एवं साधुवंदन, जिनस्तोत्र एवं जयवीयराय की गाथाओं द्वारा जो चैत्यवंदन किया जाता है, उसे उत्कृष्ट चैत्यवंदन कहते हैं। इसकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है -

सर्वप्रथम गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके कहे - "हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे चैत्यवंदन करने की अनुज्ञा दीजिए - इस प्रकार कहकर आर्या छंद के राग में "वरकनक" जिनस्तव बोले। तत्पश्चात् शक्रस्तव का पाठ करके "अरिहंत चेइयाणं करेमि काउसग्गं"- इस प्रकार बोलकर अन्नत्थसूत्र बोले तथा नमस्कारमंत्र का कायोत्सर्ग करे। "नमोअरिहंताणं"- इस प्रकार बोलकर कायोत्सर्ग पूर्ण करे तथा "नमोऽर्हत्." बोलकर प्रस्तुत जिनस्तुति की एक गाथा बोले। पुनः चतुर्विंशतिस्तव बोलकर "सव्वलोए अरिहंत. वंदणवत्तियाए यावत् वोसिरामि" तक बोले। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का चिन्तन करे। "नमो अरिहंताणं"- इस प्रकार बोलकर कायोत्सर्ग पूर्ण करे तथा सर्वजिनस्तुति बोले। तत्पश्चात् श्रुतस्तव का पाठ बोलकर "सुअस्स भगवओ करेमि काउसग्गं वंदणवत्तियाए. यावत् अप्पाणं वोसरामि"- इस प्रकार बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का चिन्तन करे। "नमो अरिहंताणं"- इस प्रकार बोलकर कायोत्सर्ग पूर्ण करे तथा श्रुतस्तुति बोले। फिर सिद्धस्तव का पाठ बोलकर "वैयावच्चगराणं संतिगराणं समदिट्ठि समाहिगराणं करेमि काउसग्गं अन्नत्थ. यावत् अप्पाणं वोसिरामि"- इस प्रकार बोलकर पूर्ववत् कायोत्सर्ग करके "नमो अरिहंताणं" बोलकर कायोत्सर्ग पूर्ण करे तथा "नमोऽर्हत्" कथनपूर्वक वैयावृत्यकर देवता की स्तुति बोले। पुनः बैठकर शक्रस्तव का पाठ बोले। तत्पश्चात् चैत्यगाथा (जावंतिचेइआइं.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं साधुगाथा (जावंतकेवि साहु.) बोले। उसके बाद "नमोऽर्हत्." कथनपूर्वक प्रस्तुत जिनस्तोत्र बोले। तत्पश्चात् "जयवीयराय." की गाथा बोले तथा उसके बाद आचार्य, उपाध्याय, गुरु एवं साधुओं को वन्दन करे - इस प्रकार से किया गया चैत्यवंदन उत्कृष्ट होता है।

इस प्रकार आवश्यक प्रकरण में शक्रस्तव एवं चतुर्विंशतिस्तव की यह विधि बताई गई है।

अब वन्दन की विधि बताते हैं। द्वादशावर्त्तवन्दन की विधि इस प्रकार है - जैसे कहा गया है - प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग हेतु, अपराध की क्षमापना के लिए, प्राहुणा तरीके कोई नए मुनि आए, आलोचना, प्रत्याख्यान एवं संलेखना आदि महान कार्यों के लिए द्वादशावर्त्तवन्दन करना चाहिए। यहाँ सर्वप्रथम सामान्य वन्दन करे। तत्पश्चात् उत्कृष्ट चैत्यवंदन तथा मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तवंदन करे। तत्पश्चात् "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसियं आलोएमि." - इस प्रकार कहकर पुनः द्वादशावर्त्तवन्दन करे। तत्पश्चात् "इच्छाकरेण संदिसह भगवन् देवसियं खामेमि."- इस प्रकार क्षमापन करे। पुनः द्वादशावर्त्तवन्दन करके प्रत्याख्यान करे। तत्पश्चात् आचार्य, उपाध्याय, गुरु एवं साधु को वन्दन करे। चैत्यवंदन न करने पर भी गुरु का आदर करने के लिए वन्दन करे। स्वाध्याय के समय भी वन्दन करना चाहिए। इसी प्रकार कायोत्सर्ग, क्षमापना, आलोचना एवं गुरु की उपासना - इन सभी कार्यों में भी उत्तमता की प्राप्ति के लिए वन्दन करना चाहिए। एक बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना द्वारा तीन बार द्वादशावर्त्तवन्दन होता है। इन तीनों ही वन्दनों में एक-एक वन्दन क्रमशः आलोचना, क्षमापना एवं प्रत्याख्यान के हेतु किया जाता है। वन्दन करने से पूर्व सभी जगह गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे।

इस प्रकार आवश्यक प्रकरण में वन्दन की विधि संपूर्ण होती है।

अब प्रतिक्रमण की विधि बताते हैं, वह इस प्रकार है -

गुरु के आगे या स्थापनाचार्य के आगे खमासमणासूत्रपूर्वक साधक कहता हैं - "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् इरियावहियं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पडिक्कमामि यावत् अप्पाणं वोसिरामि''- इस प्रकार कहकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तव बोले। गमनागमन का प्रतिक्रमण कहाँ-कहाँ करना चाहिए, यह बताते हुए कहते हैं - चैत्यवंदन, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, आहारसंग्रह तथा इसी प्रकार आलोचना के समय, आगम पढ़ने से पूर्व, लोच के समय, मल-मूत्र आदि का उत्सर्ग करने पर, आवागमन करने पर, भिक्षाचर्यादि की आलोचना के समय, वसति एवं उपधि की प्रतिलेखना करने पर, ध्यान करने से पूर्व एवं सचित्त जल का स्पर्श (लेप) होने पर, कालग्रहण एवं स्वाध्याय हेतु प्रस्थापन करने पर, अप्रतिलेखित मार्ग में रात्रि के समय संचरण करने पर, बीस धनु (चार हाथ का एक धनु) परिमाण से अधिक दूर जाने पर साधु, अर्थात् श्रमणों को गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करनी चाहिए।

इस प्रकार ईर्यापथिक-प्रतिक्रमण करने के कारण बताए गए हैं।

अब चैत्यवन्दन, गुरुवंदन, क्षमापना, आलोचना, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान आदि इन सबको संयुक्त करके प्रतिक्रमण की विधि बताते हैं। सर्वप्रथम प्रभातकालीन-प्रतिक्रमण की विधि बताते है -

इरियावहि, कुस्वप्न-विशुद्धि हेतु कायोत्सर्ग, गुरुवंदन, अतीत का प्रतिक्रमण, शक्रस्तव, खड़े होकर सामायिक-दंडक बोलना, कायोत्सर्ग करना, चतुर्विंशतिस्तव बोलना, पुनः कायोत्सर्ग करना, श्रुतस्तव बोलना, पुनः कायोत्सर्ग करना, सिद्धस्तव बोलकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, वन्दन, आलोचना, संस्तारकसूत्र (प्रतिक्रमणसूत्र), वन्दन, क्षमापनावन्दन, सामायिकदंडक, कायोत्सर्ग, चतुर्विंशतिस्तव, मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, वन्दन, स्तुतित्रिक, उत्कृष्ट देववंदन एवं शक्रस्तव बोलना, प्राभातिक-प्रतिक्रमण की विधि है। अब विस्तारपूर्वक इसकी विधि बताते हैं -

सर्वप्रथम गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे। तत्पश्चात् ''कुस्सुमिणराई पायच्छित्त विशोधनार्थं करेमि काउसग्गं अन्नत्थ. यावत् अप्पाणं वोसिरामि''- इस प्रकार बोलकर कायोत्सर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तव बोले। तत्पश्चात् चार खमासमणासूत्रपूर्वक क्रमशः आचार्य, उपाध्याय, गुरु एवं सभी साधुओं को वन्दन करके "भगवन् राईपडिक्कमणंठाउं। सव्वस्सवि राईदुच्चिंतिय दुब्भासिय, दुचिट्ठिय इच्छाकारेण संदिसह भगवन् इच्छं तस्स मिच्छामि दुक्कडं" - इस प्रकार से बोले। तत्पश्चात् संपूर्ण शक्रस्तव बोले तथा खड़े होकर सामायिक-दण्डक (करेमिभंते.), आलोचनापाठ (इच्छामिठामि.) एवं तस्सउत्तरीसूत्र आदि बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तव बोलकर सर्वलोक के अर्हत चैत्यों की स्तवना करने हेतु चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके श्रुतस्तव (पुक्खर.) बोले। पुनः कायोत्सर्ग करे तथा कायोत्सर्ग में साधुवर्ग "सयणासणन्नपाणे."- इस गाथा का चिन्तन करे। श्रावकवर्ग यहाँ कायोत्सर्ग में "नाणंमि दंसणंमि."- अतिचार की इन आठ गाथाओं का चिन्तन करे। (मूलग्रन्थ में यहाँ वे आठों ही गाथाएँ मूल रूप में दी गई है।) कायोत्सर्ग पूर्ण करके सिद्धस्तव (सिद्धाणं.) बोलकर बैठ जाए और बैठकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। सभी जगह मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना एवं द्वादशावर्त्तवन्दन के समय उत्कटिक आसन में बैठे। तत्पश्चात् वन्दन करके "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् राइयं आलोएमि"- इस प्रकार बोलकर आलोचना का पाठ (इच्छामिठामि.) बोले। तत्पश्चात् साधु, ज्येष्ठ आदि के अनुक्रम से "संथारा उवट्ठणाए. यावत् तस्स मिच्छामि दुक्कडं" तक यह सूत्र बोले। श्रावक "सव्वस्सवि राईय." का पाठ बोले। तत्पश्चात् साधु तथा श्रावक स्वयं के लिए जो-जो उचित है ऐसा, अर्थात् साधु श्रमणसूत्र (पगामसज्झाय) बोले तथा श्रावक वंदित्तुसूत्र बोले। तत्पश्चात् पुनः द्वादशावर्त्तवन्दन करके "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् राइयं खामेमि इच्छं खामेमि राइयं."- इस प्रकार बोलकर क्षमापना करे। क्षमापना करके पुनः द्वादशावर्त्तवन्दन करके श्रावक ललाट पर अंजलि लगाकर "आयरिय उवज्झाय." इन तीन गाथाओं को बोले। गच्छ-परम्परा के अनुसार कहीं-कहीं साधु भी ये तीन गाथाएँ बोलते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। तत्पश्चात् सामायिकदण्डक, आलोचनापाठ, तस्सउत्तरी एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में षण्मासिक एवं वर्धमानतप का एक बार चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके चतुर्विंशतिस्तव बोले। चतुर्विंशतिस्तव बोलकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे तथा द्वादशावर्त्तवन्दन करे। तत्पश्चात् शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान करे। फिर "इच्छामोणुसट्ठियं."- इस प्रकार कहकर नीचे बैठ जाए तथा तीन स्तुति बोले। तत्पश्चात् शक्रस्तव बोलकर चार स्तुतियों द्वारा उत्कृष्ट चैत्यवंदन करे। पुनः शक्रस्तव का पाठ बोलकर आचार्य, उपाध्याय, गुरु एवं सर्व साधुओं को वन्दन करे। गच्छ-परम्परा में अन्तर होने से कुछ लोग शक्रस्तव के बाद स्तोत्र बोलकर फिर आचार्यादि को वन्दन करते हैं। तत्पश्चात् दो बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके क्रमशः "भगवन् पडिलेहणं संदिसावेमि एवं पडिलेहणं करेमि"- इस प्रकार कहकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। यहाँ प्रतिलेखना की विधि संक्षेप में बताते हैं - सूर्य उदय होने पर मुखवस्त्रिका, चोलपट्ट, कल्पत्रय, रजोहरण, संस्तारक, उत्तरपट्टक की प्रतिलेखना करे।

तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करने के बाद दो बार खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके क्रमशः कहे -"भगवन् अंग पडिलेहणं सदिसावेमि, अंगपडिलेहण करेमि।" इस प्रकार कहकर स्थापनाचार्य, चोलपट्ट, कल्पत्रय (ओढ़ने की तीन चादर) एवं रजोहरण की प्रतिलेखना करे। इन सबकी प्रतिलेखना की विधि साधु-प्रतिलेखना-विधि से जाने। तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे - "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् उपधि मुहपत्ति पडिलेहेमि।" पुनः दो बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके क्रमशः कहे - "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् उपधि संदिसावउं, उपधि पडिलेहउं"- इस प्रकार कहकर संस्तारक, उत्तरपट्ट आदि की प्रतिलेखना करें। पुनः दो बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके क्रमशः कहे- "भगवन् वसति संदिसावउं, वसति पडिलेहउं"- इस प्रकार कहकर वसति एवं मात्रक (स्थण्डिलभूमि) की दंडप्रोंछन से प्रमार्जना करे। तत्पश्चात् गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके गुरु के आगे दो बार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके क्रमशः कहे- "इच्छाकारेण संदिसह भगवन् सज्झाय संदिसावेमि, सज्झाय करउं।" तत्पश्चात् नमस्कारमंत्र बोलकर दशवैकालिकसूत्र का प्रथम या प्रथम एवं द्वितीय अध्ययन अथवा "जयइ जगजीव." सूत्र की पाँच या पच्चीस गाथाएँ बैठकर बोले। तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके- "भगवन् उपयोगं करेमि, उपयोगस्स करावणत्थं करेमि काउस्सगं. अन्नत्थ. यावत् अप्पाणं वोसिरामि"- इस प्रकार कहकर नमस्कारमंत्र का कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप में नमस्कारमंत्र बोले। तत्पश्चात् साधुजन इस प्रकार बोलते हैं -"इच्छाकारेण संदिसह।" गुरु कहते हैं- "लाभु"। पुनः, साधुजन कहते हैं- "भगवन् कह लेसहं" गुरु कहते है- "जह गहियं पुव्व साहूहिं।" पुनः, साधु कहते है- "इच्छं आवस्सियाए जस्स विजुग्गत्ति।" तत्पश्चात् क्रम से साधुओं को वन्दन करते हैं। उसके बाद साधु धर्मव्याख्यान एवं पढ़ने-पढ़ाने का कार्य करते हैं। उसका कालसूचन जैसा पूर्व में बताया गया है, उसी प्रकार है। यहाँ विशेष इतना है कि जिस समय पुरुष-परिमाण की छाया होती है, उसे पौरुषी (प्रहर) कहते हैं। इसको स्पष्ट करने हेतु आगे बताया गया है कि जब सूर्य कर्क राशि में संक्रान्त होता है, उस समय पूर्वाह्न या अपराह्न में जिस समय शरीर-परिमाण की छाया होती है, उसे पौरुषी कहते हैं। इसी प्रकार सभी दिनों की पौरुषी के सम्बन्ध में जानना चाहिए। दक्षिणायन के प्रथम दिन में दायाँ कर्ण सूर्य की तरफ रखकर पुरुष खड़ा हो जाए (समय व्यतीत होने पर) जिस समय शरीर की छाया द्विपदी होती है, उस समय पौरुषी होती है। जैसा कि कहा गया है -"आषाढ़ मास में द्विपदा (दो पाद की) पौरुषी होती है, पौष मास में चतुष्पदा (चार पाद की) तथा चैत्र और आश्विन मास में त्रिपदा (तीन पाद की) पौरुषी होती है। सात रात में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और एक मास में चार अंगुल की वृद्धि-हानि होती है, (अर्थात् श्रावण से पौष तक वृद्धि होती है तथा माघ से आषाढ़ तक हानि होती है।) प्रहर में एक पाद कम सम्बन्धी अधिकार पौरुषी-छाया के आधार पर समझना चाहिए - ऐसा साधुजनों का कथन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्येष्ठ (ज्येष्ठमासीय मूलनक्षत्र), आषाढ और श्रावण - इस प्रथम त्रिक में छः अंगुल, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक - इस द्वितीय त्रिक में आठ अंगुल तथा मृगशिर, पौष और माघ - इस तृतीय त्रिक में दस अंगुल और फाल्गुन, चैत्र एवं वैशाख - इस चतुर्थ त्रिक में आठ अंगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखना का पौरुषीकाल होता है। पौष मास में छाया शरीर-परिमाण, अर्थात् चारपाद और उससे नौ अंगुल अधिक होती है। फिर घटते-घटते आषाढ़ मास में तीन पाद रह जाती है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, उसके अनुसार इनका प्रमाण विशेष जान लेना चाहिए। पौष मास में मध्याह्न में (१२ बजे के समय) हाथ की छाया बारह अंगुल होती है, वह प्रत्येक मास में दो-दो अंगुल कम होती हुई आषाढ़ मास में पूर्णतः समाप्त हो जाती है। इसे सरलता से जानने के लिए द्वादशारयंत्र का न्यास करना चाहिए।

उसके बाद साधु खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -"हे भगवन् ! प्रथम प्रहर का बहुत काल व्यतीत हो चुका है, साधुगण यथायोग्य कार्यों के हेतु तत्पर हों ?" इस प्रकार कहे तथा मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके मिट्टी, नारियल, काष्ठ या आलाबु से बने सभी पात्रों की प्रतिलेखना करें। तत्पश्चात् चैत्यपरिपाटी आदि कर्म करके गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे। उसके बाद (संकल्पित) प्रत्याख्यान पूर्ण करने हेतु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् "पारावउं भातपाणी निव्विय आंबिल एकासणं कारेहं। पोरसि पुरिमढ चउव्विहाहारेहिं जीवकाचि वेला तइए पारावेमि"- इस प्रकार कहकर चैत्यवंदन करे। दोनों प्रतिक्रमण (रात्रिक एवं दैवसिक-प्रतिक्रमण) एवं चैत्यपरिपाटी आदि में जिनेश्वर परमात्मा का उत्कृष्ट चैत्यवंदन करते हैं तथा अन्यत्र सभी जगह मध्यम चैत्यवंदन करते हैं। भोजन आदि करने के बाद सोते एवं जागते समय मध्यम चैत्यवंदन करते हैं। तत्पश्चात् क्रमशः पूर्व में बताई गई सम्पूर्ण दिनचर्या में स्थित होते हुए चतुर्थ प्रहर का प्रारम्भ होने पर प्रतिलेखना के समय पूर्व में कहे गए अनुसार, अर्थात् प्रातःकाल में की गई प्रतिलेखना के अनुसार क्रमशः प्रतिलेखना करे। यहाँ विशेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से भाण्डोपकरण आदि की प्रतिलेखना करे। वसति का प्रमार्जन करने के बाद पुनः गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे। उसके बाद -"भगवन् सज्झाय मुहपत्तिं पडिलेहेमि"- इस प्रकार कहकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके क्रमशः कहे -"भगवन् सज्झाय संदिसावेमि, सज्झाय करेमि" (भगवन्! स्वाध्याय हेतु अनुमति दें, स्वाध्याय करूं ?) उसके बाद नमस्कारमंत्र बोलकर "जयइ जगजीवजोणी." इत्यादि पाँच गाथाएँ बोले। तत्पश्चात् मुनि ने आहार किया हो, तो वन्दन करे, आहार न किया हो, तो वन्दन न करे। उसके बाद खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके क्रमशः कहे -"भगवन् उवही थंडिल्ला संदिसावउं उवही थंडिल्ला पडिलेहउं"(हे भगवन् ! उपधि एवं स्थण्डिल भूमि की प्रतिलेखना करने की अनुमति दें, उपधि एवं स्थण्डिल भूमि की प्रतिलेखना करूं ?) प्रतिलेखना करने के बाद शक्ति के अनुसार त्रिविधाहार या चतुर्विधाहार का दिवसचरिम प्रत्याख्यान करे। तत्पश्चात् संध्या का समय होने पर प्रतिक्रमण हेतु मुनि सभी कार्यों का त्याग करके मुनि-मण्डली में स्थित हो, श्रावक भी पूर्व में बताई गई विधि के अनुसार सामायिकव्रत को ग्रहण करे। दैवसिक-प्रतिक्रमण की संक्षिप्त विधि इस प्रकार है -

इरियावहि, कालोयगोयरचरिया की गाथा, प्रत्याख्यान, उत्कृष्ट देववंदन, सामायिक दण्डक एवं आलोचना का पाठ, कायोत्सर्ग, वंदन, क्षमापना, वंदन, आचार्यों आदि को क्षमापना, सामायिक दण्डक एवं आलोचना का पाठ, कायोत्सर्ग, चतुर्विंशतिस्तव, चैत्यस्तव, कायोत्सर्ग, श्रुतस्तव, कायोत्सर्ग, सिद्धस्तव, श्रुतदेवता का कायोत्सर्ग, स्तुति, मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, वंदन, स्तुतित्रिक का कथन, शक्रस्तव अर्हत्स्तुति, प्रायश्चित्त तथा क्षुद्रोपद्रव का कायोत्सर्ग करना - इस प्रकार अनुक्रम से दैवसिक प्रतिक्रमण करे। अब विस्तार से इसकी व्याख्या करते हैं -

सर्वप्रथम गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे। तत्पश्चात् साधु "गोयरचरी पडिक्कमणत्थं करेमि काउसग्गं अन्नत्थ यावत् अप्पाणं वोसिरामि" - इस प्रकार बोलकर नमस्कारमंत्र का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग करे। तत्पश्चात् कायोत्सर्ग पूर्ण करके "कालोयगोयरचरिया." गाथा बोले। तत्पश्चात् दिवसचरिम-प्रत्याख्यान करे। उसके बाद प्रतिक्रमण प्रारम्भ करे। सर्वप्रथम विधिपूर्वक उत्कृष्ट चैत्यवंदन करे। तत्पश्चात् "इच्छाकारेण संदिसह भगवन देवसियं पडिक्कमणं ठाउं ? सव्वस्सवि देवसिय."- इस प्रकार बोले। उसके बाद "करेमि भंते" का पाठ, "इच्छामिठामि काउसग्गं जो मे देवसिओ., तस्सउत्तरी." का पाठ बोलकर कायोत्सर्ग करे। यति (साधु) कायोत्सर्ग में "सयणासणन्नपाणे." गाथा का चिन्तन करे तथा श्रावक "नाणंमि दंसणंमिय."- इन आठ गाथाओ का चिन्तन करें। कायोत्सर्ग पूर्ण करके चतुर्विंशतिस्तव बोले। उसके बाद मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तवंदन करे। तत्पश्चात् "इच्छाकारेण संदिसह भगवन देवसियं आलोएमि." - यह पाठ बोलकर साधु यथाक्रम से "ठाणेकमणे." सूत्र बोले। उस समय श्रावक "सव्वस्सवि देवसिय." गाथा बोले। तत्पश्चात् श्रावक वंदित्तुसूत्र एवं साधु श्रमणसूत्र बोलें। उसके बाद वन्दन करे। तत्पश्चात् "इच्छाकारेण संदिसह भगवन देवसियं खामेउ. इच्छं खामेमि"- इस प्रकार बोलकर क्षमापना करे। पुनः द्वादशावर्त्तवन्दन करे तथा श्रावक "आयरिय उवज्झाए." सूत्र बोले। गच्छ-परम्परा में भेद होने से कुछ गच्छों में साधु भी यह सूत्र बोलते हैं। तत्पश्चात् "करेमि भंते" एवं "इच्छामि ठामि." का पाठ बोलकर "तस्सउत्तरी." एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में दो बार चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तव बोले। तत्पश्चात् सर्व चैत्यस्तव बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर श्रुतस्तव बोलकर पुनः कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके सिद्धस्तव बोले। उसके बाद श्रुतदेवता का कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके श्रुतदेवता की स्तुति बोले। इसी प्रकार क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करके स्तुति बोले। यहाँ पर गच्छ-परम्परा में भेद होने से कुछ लोग शासन-देवता वैरोट्या आदि का कायोत्सर्ग एवं स्तुति करते हैं। तत्पश्चात् नमस्कारमंत्र बोलकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा द्वादशावर्त्तवंदन करे। उसके बाद "इच्छामोणुसट्ठियं तथा नमोर्हत्सिद्धा." बोलकर निम्न तीन गाथाएँ बोले -

"नमोस्तु वर्धमानाय स्पर्धमानायकर्मणा। तज्जयावाप्तमोक्षाय परोक्षाय कुतीर्थिनां।।१।। येषां विकचारविन्दराज्याज्जायायः क्रमकमलावलिंदधत्याः। सदृशैरिति संगतं प्रशस्यं कथितं सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः।।२।। कषायतापार्जितजन्तु निर्वृतिं करोतु यो जैनमुखाम्बुदोद्गतः। सः शुक्रमासोद्भववृष्टिसंनिभो दधातु तुष्टिं मयि विस्तरो गिरां।।३।।

भावार्थ -

जो कर्मरूप शत्रुओं के साथ युद्ध करते-करते अन्त में उन पर विजय पाकर मोक्ष को प्राप्त किए हुए हैं तथा जिनका स्वरूप मिथ्यात्वियों के लिए अगम्य है, ऐसे श्री महावीर प्रभु को मेरा नमस्कार हो।।१।।

जिन जिनेश्वरों के उत्तम चरण-कमलों की पंक्ति को धारण करने वाली देवरचित खिले हुए स्वर्ण-कमलों की पंक्ति के निमित्त से, अर्थात् उसे देखकर विद्वानों ने कहा है कि सदृशों के साथ अत्यन्त समागम होना प्रशंसा के योग्य है, ऐसे जिनेश्वर देव सबके लिए कल्याणकारी हों, सबके मोक्ष के निमित्त हों।।२।।

जिनेश्वर देवों की वाणी ज्येष्ठमास मेघवर्षा के सदृश अतिशीतल है, अर्थात् जैसे ज्येष्ठमास की वृष्टि ताप से पीड़ित लोगों को शीतलता पहुँचाती है, वैसे ही भगवान की वाणी कषाय से पीड़ित प्राणियों को शांति-लाभ कराती है। ऐसी शांतिदायक वाणी का मुझ पर अनुग्रह हो।।३।।

तत्पश्चात् शक्रस्तव का पाठ बोले। उसके बाद स्तोत्र बोले तथा खमासमणासूत्र पूर्वक आचार्य, उपाध्याय, गुरु एवं सर्वसाधुओं को नमस्कार करे। तत्पश्चात् दिवस सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त, अर्थात् विशोधन हेतु कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चार बार चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तव बोले। तत्पश्चात् दो बार खमासमणासूत्र से वंदन करके क्रमशः कहे - "भगवन् सज्झाय संदिसावेमि, सज्झाय करेमि।"- इस प्रकार कहकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन बार नमस्कारमंत्र बोले। तत्पश्चात् क्षुद्रोपद्रव के उपशमनार्थ कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चार बार चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तव बोले। तत्पश्चात् प्रव्रज्या-विधान का पाठ करे। इस प्रकार यह दैवसिक-प्रतिक्रमण की विधि बताई गई है।

अब पाक्षिक-प्रतिक्रमण की विधि बताते हैं -

संक्षिप्त रूप में पाक्षिक-प्रतिक्रमण की विधि - पाक्षिक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके वन्दन देना, संबुद्ध क्षमापना (संबुद्धा खामणा) करना, आलोचना करके पुनः वन्दन देना, प्रत्येक खामणा (क्षमापना) कर वन्दन करके क्रमशः पाक्षिकसूत्र एवं श्रमणसूत्र बोलना। फिर अभ्युत्थान, कायोत्सर्ग, मुखवस्त्रिका-प्रतिलेखना, वन्दन, समाप्तिवन्दन करना - यह पाक्षिक-प्रतिक्रमण की विधि है।

विवेचन -

चतुर्दशी के दिन दैवसिक-प्रतिक्रमण की भाँति ही प्रतिक्रमणसूत्र (पगामसज्झाय/ वंदित्तु) तक प्रतिक्रमण करे। तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करते हुए इस प्रकार कहे -"भगवन् पक्खियमुहपत्तियं पडिलेहेमि"- इस प्रकार बोलकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तवंदन करे। तत्पश्चात् "इच्छाकारेणसंदिसह भगवन् संबुद्धाखामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेउं। इच्छं खामेमि पक्खियं जं किंचि. इत्यादि यावत् तस्समिच्छामि दुक्कडं" तक बोले। तत्पश्चात् खड़ा होकर "भगवन् पक्खिअं आलोएमि इच्छं आलोएमि पक्खियं जो मे. इत्यादि सम्पूर्ण आलोचना का पाठ बोले। तत्पश्चात् गुरु कहते हैं - अपनी इच्छानुसार उपवासपूर्वक प्रतिक्रमण करो और पाक्षिक- आलोचना हेतु एक उपवास या दो आयम्बिल, अथवा तीन नीवि, अथवा चार एकासना, अथवा दो हजार गाथा का स्वाध्याय आदि तपस्या करते हुए अग्रिम पक्ष में प्रवेश करो।

पुनः द्वादशावर्त्तवन्दन करे। तत्पश्चात् खड़े होकर "देवसियं आलोइयं वइक्कंतं प्रत्येक खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेमि" इस प्रकार बोलकर नीचे बैठकर सर्वप्रथम गुरु या स्थापनाचार्य से इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पक्खियं खामेउं इच्छं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खामेमि पक्खियं जं किंचि''- इस प्रकार कहकर क्षमापना करे। पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके गुरु भगवंत के सुख-शांति एवं तप के बारे में पूछे। पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके पाक्षिक सुखशाता पूछे। पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके पक्षदिवस सम्बन्धी अभक्ति एवं आशातना की मन, वचन एवं काया से क्षमापना करे। तत्पश्चात् शिष्य गुरु एवं ज्येष्ठ मुनियों से क्रमपूर्वक क्षमापना करे। शिष्य जिस समय कहे -''भगवन् पक्खियं खामेमि'', अर्थात् पाक्षिक-क्षमापना करता हूँ, उस समय गुरु कहते हैं, ''अहमवि खामेमि तुब्भे'', अर्थात् मैं भी तुमसे क्षमायाचना करता हूँ। शिष्य जिस समय क्षमापना-दण्डक बोलता है, उस समय गुरु कहते हैं -''जं किंचि अपत्तियं परिपत्तियं अविणया सारिया वारिया चोइया पडिचोइया तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं'', अर्थात् मेरे द्वारा भी प्रेरणा, प्रतिप्रेरणा एवं आपकी सारसंभाल में जो कुछ अप्रीतिकर हुआ हो, तो मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो। पुनः शिष्य जिस समय खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके पाक्षिक ''सुख तप''- इस प्रकार बोले, उस समय गुरु कहते हैं -''देवगुरु की कृपा है।'' जिस समय शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके ''भगवन् पक्ष एवं दिवस में जो अभक्ति-आशातना हुई हो''- इस प्रकार कहता है, तो उस समय गुरु कहते हैं -''पक्ष-दिवस में जो भी अप्रीतिकर कार्य सम्पादित हुआ हो, तो वह दुष्कृत मिथ्या हो। (अप्रत्यउअ समाधान उपजाव्यउ तस्समिच्छामि दुक्कडं।) इस प्रकार यतियों से ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ के अनुक्रम से एवं श्रावकों से क्षमायाचना करे एवं उन्हें क्षमा प्रदान करे। तत्पश्चात् शिष्य कहते हैं -''इच्छापूर्वक चौरासी लाख जीवयोनि में मैंने पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, देव, तिर्यंच, मनुष्य, नारकी, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ता एवं अपर्याप्ता जीवों की विराधना की हो, तो तत्सम्बंधी मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो। जिन-प्रतिमा, पूजा के उपकरण, ज्ञान के उपकरण, गुरु, साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं की कोई विराधना की हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं मिथ्यादर्शन शल्य किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। तत्पश्चात् पुनः द्वादशावर्त्तवन्दन करे। तत्पश्चात् सभी गुरु के आगे कहते हैं - "देवसियं आलोइयं वइक्कंतं पक्खियं पडिक्कमावेह", अर्थात् दिवस एवं पक्ष सम्बन्धी प्रतिक्रमण कराए। प्रत्युत्तर में गुरु कहते हैं - "सम्मं पडिक्कमह", अर्थात् सम्यक् प्रकार से प्रतिक्रमण करो। तत्पश्चात् सामायिकसूत्र, आलोचनासूत्र, तस्सउत्तरी एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। उस समय मुनि भगवंतों में से कोई भी एक मुनि दो बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे-"भगवन् पाक्षिकसूत्र पढ़ने की अनुज्ञा दे, भगवन् पाक्षिक सूत्र पढ़ूं", प्रत्युत्तर में गुरु कहते हैं -"हाँ पढ़ो।" तत्पश्चात् (वह) खड़ा होकर पाक्षिकसूत्र बोलता है। अन्य सभी दोनों हाथों को लम्बा रखकर, अर्थात् कायोत्सर्ग -मुद्रा में पाक्षिकसूत्र का श्रवण करते हैं। पाक्षिकसूत्र पूर्ण होने पर कायोत्सर्ग पूर्ण करके नमस्कारमंत्र बोले। तत्पश्चात् पुनः प्रतिक्रमणसूत्र (पगामसिज्झाए आदिसूत्र) बोले। उसके बाद सामायिक का पाठ, आलोचना का पाठ आदि बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में बारह बार चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप में चतुर्विंशतिस्तव बोले। तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तवन्दन करे। उसके बाद सभी "समाप्ति खामणेणं पक्खियं खामेमि जं किंचि." का पाठ बोलें। उसके बाद खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके "पियं च मे जम्भे." गाथा बोले। प्रत्युत्तर में गुरु कहते हैं -"तुब्भे साहूहिं समंति।" पुनः शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके "पुव्विं चेइआइं." गाथा बोलता है। प्रत्युत्तर में गुरु कहते हैं-"अहमविचेइआइं वंदावेमि।" पुनः शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके "अब्भुट्ठियो." गाथा बोलता है। प्रत्युत्तर में गुरु कहते हैं-"नित्थारग पारगो होह", अर्थात् संसार-सागर से पार होओ। तत्पश्चात् शिष्य कहता है -"इच्छाकारि पाक्षिक हुयओ (अतः) पखदेवसी पडिक्कमावउ", अर्थात् हे भगवन्! पाक्षिक-प्रतिक्रमण हो गया, अब पुनः शेष देवसिक प्रतिक्रमण कराएं। तत्पश्चात् दैवसिक-प्रतिक्रमणसूत्र के बाद की जो विधि है, वह विधि करे। यहाँ इतना विशेष है कि भुवनदेवता आदि की स्तुति होती है, स्तोत्र के स्थान पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अजितशान्ति का पाठ बोलते हैं। चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की भी यही विधि है। मात्र इतना विशेष है कि चातुर्मासिक आलोचना में गुरु कहते हैं -"अपनी इच्छानुसार निरन्तर दो उपवासपूर्वक प्रतिक्रमण करो और चातुर्मासिक-प्रायश्चित्त हेतु दो उपवास या चार आयम्बिल, अथवा छः नीवि, अथवा आठ एकासना, अथवा चार हजार स्वाध्याय आदि तपस्या करते हुए अग्रिम पक्ष में प्रवेश करो।

चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग में बारह बार चतुर्विंशतिस्तव के स्थान पर बीस बार चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण में गुरु कहते हैं - "अपनी इच्छानुसार निरन्तर तीन उपवासपूर्वक प्रतिक्रमण करो और सांवत्सरिक-आलोचना हेतु तीन उपवास या छः आयम्बिल या नौ नीवि या बारह एकासना, अथवा छः हजार गाथा का स्वाध्याय आदि तपस्या करते हुए अग्रिम वर्ष में प्रवेश करो।"

सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग में चालीस चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। रात्रि-प्रतिक्रमण में देवसिक के स्थान पर सब जगह "राईयं" शब्द का उच्चारण करे। इसी प्रकार चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण में सब जगह "चाउमासिए" एवं सांवत्सरिक- प्रतिक्रमण में सब जगह "संवत्सरिए" शब्द का उच्चारण करे। चातुर्मासिक-क्षमापना में साधु "चउण्हं मासाणं अट्ठाणं पक्खाणं वीसुत्तरसयराईदियाणं ज किंचि अपत्तियं., अर्थात् चार मास, आठ पक्ष एवं एक सौ बीस रात्रि-दिवस में मेरे द्वारा जो कुछ अप्रीतिकर ..... शेष पूर्ववत्।"- इस प्रकार बोलकर ज्येष्ठ, कनिष्ठ के क्रम से साधुओं एव श्रावकों आदि से क्षमापना करते हैं। श्रावक-श्राविका के परस्पर क्षमापना करने की गाथा निम्नांकित है-

चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण में "चारिमास अट्ठपक्ख वीसोत्तरसय-राइदियाणं भणइ भासियइ बोलइ चालियइ तस्स मिच्छामि दुक्कड।" सांवत्सरिक-क्षमापना में साधु "द्वादशीण्हं मासाणं चउव्वीसाणं पक्खाणं तिणिसयसठराइदियाणं जं किंचि."- इस प्रकार बोले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक-श्राविका निम्न गाथा बोलकर परस्पर क्षमापना करें- "बारमासे चउवीस पक्खे तिणिसयसठराइदियाणं भणइ भासइ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"

इस प्रकार सभी प्रतिक्रमणों की विधि बताई गई है। दिन के अन्तिम प्रहर का बहुत कुछ भाग व्यतीत हो जाने पर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना एवं मध्यम चैत्यवंदन करे और फिर प्रतिक्रमण करे। साधु रात्रि में संथारा करे तथा दिन के प्रथम प्रहर में मुखवस्त्रिका एवं पात्र की प्रतिलेखना करे। रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर साधु कहे- "भगवन् बहुपडिपुन्ना पोरसी राइसंथारए ठामि।" तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके शक्रस्तव का पाठ बोलकर मध्यम चैत्यवंदन करे।

श्रावक यदि व्यग्र हो, प्रतिक्रमण करने की समुचित स्थिति में न हो, तब श्रावक प्रभात एवं संध्या के समय गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे। तत्पश्चात् उत्कृष्ट चैत्यवंदन द्वारा देववन्दन करे। उसके बाद गुरु के आगे मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तवन्दन करे। तत्पश्चात् आलोचना का पाठ बोले। उसके बाद प्रत्याख्यान करे। ज्ञानपूजा, रात्रिक, मंगल, दीपक करने के बाद श्रुत का कायोत्सर्ग करे, अर्थात् श्रुतस्तवं बोलकर पूर्ववत् श्रुत का कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का स्मरण करे तथा कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर श्रुत की स्तुति करे। तत्पश्चात् बोले -"यह जिनेन्द्र भगवान महावीर का श्रेष्ठ शासन तत्त्व के समग्र स्वरूप का उपदेशक, निवृत्ति-मार्ग का प्रकाशक तथा मिथ्यादर्शनों का प्रनाशक है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण-आवश्यक की विधि बताई गई है।

अब कायोत्सर्ग की विधि बताते हैं -

जिनचैत्य, श्रुत, तीर्थ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र - इन सब की पूजा एवं आराधना करने के लिए "वंदणवत्तियाए" का पाठ बोलकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। प्रायश्चित्त-विशोधन के लिए, उपद्रव के निवारण के लिए, श्रुतदेवता के आराधन के लिए एवं समस्त चतुर्निकाय देवताओं के आराधन के लिए,"वंदणवत्तियाए" पाठ की जगह "अन्नत्थसूत्र" बोलकर कायोत्सर्ग करे। इसी प्रकार गमनागमन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में लगे दोषों की आलोचना करते समय सभी जगह एक चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करे तथा प्रायश्चित्त के विशोधन के लिए क्षुद्रोपद्रव के निवारण के लिए, चतुर्निकाय के देवों की आराधना के लिए, इष्ट अरिहंत देव को प्रणाम करने के लिए जो कायोत्सर्ग करते हैं, उसमें चार बार चतुर्विंशतिस्तव का "चंदेसुनिम्मलयरा." तक चिन्तन करे। उत्कृष्ट देववन्दन एवं श्रुतदेवता आदि के आराधन में संपूर्ण चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करे, स्वाध्याय हेतु प्रस्थान करते समय किए जाने वाले कायोत्सर्ग में एक बार नमस्कारमंत्र का चिन्तन करे। प्रतिक्रमण-मध्य में किए जाने वाले कायोत्सर्गों का उन-उन स्थानों पर निर्देश दिया गया है और साधु अभिग्रहपूर्वक स्वेच्छा से जो कायोत्सर्ग करते हैं, उसमें अभिग्रह के अनुसार चतुर्विंशतिस्तव, अथवा नमस्कारमंत्र का कायोत्सर्ग करते हैं। सम्यक्त्वारोपण, नन्दी, योगोद्वहन, वाचना आदि में जो कायोत्सर्ग किए जाते हैं, उसमें एक बार चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करते हैं।

कायोत्सर्ग की यह विधि बताई गई है।

अब प्रत्याख्यान-आवश्यक की विधि बताते हैं - प्रत्याख्यान-आवश्यक में दस प्रकार के प्रत्याख्यान बताए गए हैं। उनकी विधि (योजना) इस प्रकार है -

नमस्कारसहित नवकारसी बियासना के प्रत्याख्यान -

"उग्गए सूरे नवकारसहियं पच्चक्खाहि चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं विगइसेसिआओ पच्चक्खाहि अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं बिआसणं पच्चक्खामि दुविहंपि आहारं असणं खाइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारणेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं द्रव्यसचित्तदेसावगासियं भोगं परिभोगं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(इस प्रकार इसमें नवकारसी[1] एवं बियासना - इन दो प्रत्याख्यानों की योजना की गई है।)

पौरूषी एक प्रहर एवं एकासन (एकासन) के प्रत्याख्यान -

"पोरसियं पच्चक्खामि उग्गए सूरे चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं विगइसेसियाउ पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं एकासन पच्चक्खामि तिविहंपि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारेणं गुरु अब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्व समाहिवत्तियागारेणं द्रव्यसचित्त देसावगासियं भोगपरिभोगं पच्चक्खाहि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।"

इस प्रकार इसमें पौरुषी एवं एकासन के प्रत्याख्यान की योजना की गई है। सार्द्धपौरुषी (साढ पोरसी, अर्थात् डेढ़ प्रहर) एवं निर्विकृति (नीवि) के प्रत्याख्यान की विधि-

"साढपोरसहियं पच्चक्खामि उग्गए सूरे चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं निविगइयं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्त विवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं एकासणं पच्चक्खामि तिविहंपि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउण्टणपसारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावाणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं द्रव्य सचित्त देसावगासियं भोगं परिभोगं

[1] ज्ञातव्य है कि नवकारसी के प्रत्याख्यान में सूर्योदय से एक मुहूर्त (४८ मिनिट) के लिए चारों आहार का त्याग होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।''

इस प्रकार इसमें सार्द्धपौरुषी एवं निर्विकृति के प्रत्याख्यान की योजना की गई है।

पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ, अर्थात् दो प्रहर) एवं आचाम्ल (आयम्बिल) के प्रत्याख्यान की विधि -

''उग्गए सूरे पुरिमढं पच्चक्खामि चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं आंबिलं पच्चक्खामि अन्नत्थाऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं एकासणं पच्चक्खामि तिविहंपि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारेणं गुरु अब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं एकासणं पच्चक्खामि तिविहंपि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।''

इस प्रकार इसमें पूर्वार्द्ध एवं आचाम्ल के प्रत्याख्यान की योजना की गई है।

अभक्त (उपवास) एवं अपराह्न (अवड्ढ) के प्रत्याख्यान की विधि -

''सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठं पच्चक्खामि तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणाहार अवड्ढं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं द्रव्यसचित्त देसावगासियं भोगं परिभोगं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।''

इस प्रकार इसमें अभक्त एव अपराह्न (अवड्ढ), अर्थात् तीन प्रहर के प्रत्याख्यान की योजना की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिवसचरिम-प्रत्याख्यान -

दिवसचरिमं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं देसावगासियं भोगं परिभोगं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।''

यह प्रत्याख्यान संध्या के समय सम्पूर्ण रात्रि के लिए किया जाता है। इस प्रकार दस प्रकार के प्रत्याख्यानों की विधि बताई गई है। नमस्कारसहित द्विधासन, पौरुषी, एकासन, निर्विकृति, सार्द्धप्रहर, आचाम्ल, मध्याह्न, अपराह्न एवं उपवास - इस प्रकार उपर्युक्त प्रत्याख्यानों में सामूहिक रूप से दसों प्रत्याख्यानों की विधि बताई गई है।

एकासन, एकस्थान, आचाम्ल, एकसिक्थ, मितग्रास, निर्विकृति, दत्ति तथा उपोषण (उपवास)- इन सबके प्रत्याख्यान एक साथ दे। नमस्कारसहित, पौरुषी आदि, अभिग्रह, पान एवं भोगोपभोग आदि के प्रत्याख्यानों का कथन एक साथ करे। एकसिक्थ, दत्ति, आयम्बिल एवं निर्विकृति आदि में एक स्थान पर बैठकर एक बार ही आहार ग्रहण किया जाता है।

ग्रंथिसहित या मुष्टिसहित एकासन एवं बियासन के प्रत्याख्यान की विधि -

''गंठिसहियं मुट्ठिसहियं वा पच्चक्खामि चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं विगइसेसियाओ पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेण उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं बियासणं एकासणं पच्चक्खामि दुविहं पि तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ बिआसणा एकासणं पच्चक्खाणं गंठिसहियं मुट्ठिसहियं वा पच्चक्खाहि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं निविगइयं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्त विवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं एकासणं पच्चक्खामि तिविहंपि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं द्रव्यसचित्त देसावगासियं भोगं परिभोगं, पच्चक्खाहि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।''

ग्रंथिसहित या मुष्टिसहित निर्विकृति, आचाम्ल, एकलसिक्थ, दत्ति या एकासन के प्रत्याख्यान की विधि -

''निविपच्चक्खाणं गंठिसहियं मुट्ठिसहियं वा पच्चक्खामि चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं आंबिलं पच्चक्खामि एकलसित्थं दत्तिं वा पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेण उक्खित्तविवेगेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं एकासणं पच्चक्खामि तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ (आंबिल एकलसिक्थदत्तिपच्चक्खाणं)।''

ग्रंथि एवं मुष्टिसहित त्रिविधाहार (तिविहार) उपवास के प्रत्याख्यान की विधि -

''सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठं पच्चक्खामि तिविहं पि आहार असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणाहार पोरसियं पुरिमड्ढं वा गंठिसहियं मुट्ठिसहियं वा पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं द्रव्य सचित्त देसावगासियं भोगं परिभोगं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।''

Jain Education International · For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विधाहार (चउविहार) उपवास के प्रत्याख्यान की विधि -

"सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं द्रव्यसचित्त देसावगासियं भोगं परिभोगं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।"

ग्रंथिसहित दिवस चरिम (रात्रि के समय किए जाने वाले) प्रत्याख्यान की विधि -

"दिवस चरिमं पच्चक्खामि तिविहं पि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं द्रव्यसचित्त देसावगासियं भोगं उपभोगं पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।"

ग्रंथिसहित एकस्थान के प्रत्याख्यान की विधि -

"गंठिसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं विगइसेसियाउ पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थ संसट्ठेणं उक्खित्त विवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिया-गारेणं एकासनं एकलट्ठाणं पच्चक्खामि, तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं भोगं परिभोगं पच्चक्खाहि अन्नत्थऽणाभोगेणं स-हसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।"

ग्रंथिसहित आठ कवल (अभिग्रह) के प्रत्याख्यान की विधि -

"गंठिसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं विगइसेसियाउ पच्चक्खामि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं एकासणं अट्ठकवलं पच्चक्खामि तिविहं पिं आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागारियागारेणं आउंटण पसारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं द्रव्यसचित्त नियम देसावगासियं भोगं परिभोगं पच्चक्खाहि अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।''

- इस प्रकार प्रत्याख्यानों की पिण्डित (सामूहिक) विधि बताई गई है।

''पच्चक्खाहि'' शब्द को प्रत्याख्यान कराने के लिए बोला जाता है तथा ''पच्चक्खामि'' स्वयं के प्रत्याख्यान करने के लिए बोला जाता है (संक्षेप में ''पच्चक्खाहि'' शब्द पर का वाचक है तथा ''पच्चक्खामि'' स्व का वाचक है)। ''पाणस्स'' का प्रत्याख्यान साधुओं के लिए होता है तथा द्रव्यादि का प्रत्याख्यान गृहस्थों के लिए होता है।

साधुओं के पाणस्स के प्रत्याख्यान की विधि -

''पाणस्स लेवालेवेणं वा अलेवालेवेणं वा अत्थेण वा बहुलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरइ।'' यह प्रत्याख्यान साधुओं के लिए होता है।

गृहस्थों के लिए ''द्रव्यसचित्त'' का प्रत्याख्यान होता है।

नमस्कारसहित, पौरुषी, पूर्वार्द्ध, एकासन, अभक्तार्थ प्रत्याख्यान में क्रमशः उग्गएसूरे नमुक्कार सहियं., पोरसियं उग्गए सूरे. चउ., साढ पोरसी. उग्गए. सूरे. उग्गए पुरिमड्ढ, सूरे उग्गए अवड्ढ, सूरे उग्गए अभत्तट्ठं पच्चक्खाइ सूत्र बोले। सार्द्धपोरसी, अपार्द्धपोरसी एवं पूर्वार्द्ध - इनके प्रत्याख्यानों का समावेश भी इनमें ही किया गया है तथा उनके आकार भी उन्हीं के समान हैं।

मुनिजन प्रत्याख्यान के अन्त में पाणस्स. के प्रत्याख्यान करते हैं। श्रावकजन भी प्रत्याख्यान के अन्त में द्रव्यसचित्त देसावगासियं के प्रत्याख्यान करते हैं।

पूर्व में कहे गए अनुसार, अर्थात् ''हवंति सेसेसु चत्तारि'' - इस वचन से इसमें चार अपवाद होते हैं।

श्रावक प्राभातिक-प्रतिक्रमण में प्रत्याख्यान के पहले सचित्तादि चौदह नियमों की संख्या करते हैं। वे चौदह नियम इस प्रकार हैं -

१. सचित्त - अप्रासुक, किन्तु भक्षणीय आहार को सचित्त कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. द्रव्य - प्रासुक भक्ष्य आहार को द्रव्य कहते हैं।
३. विकृति - पूर्व में कहे गए अनुसार विकृति दस प्रकार की होती है।
४. वाहन - अश्व आदि को वाहन कहते हैं।
५. ताम्बूल - सुपारी, पत्र (पान) आदि को ताम्बूल कहते हैं।
६. वस्त्र - जिनसे शरीर का आच्छादन हो, उन्हें वस्त्र कहते हैं।
७. कुसुम - पुष्पों की माला आदि को कुसुम में गृहीत किया गया है।
८. आसन - वेत्रासन एवं पाट आदि को आसन कहते हैं।
९. शयन - खाट, तकिया आदि जो सोने के काम में आते हैं।
१०. विलेपन - चन्दन, कस्तूरी आदि जिनका लेप किया जाता है, उन्हें विलेपन कहते हैं।
११. ब्रह्मचर्य - ब्रह्मव्रत का पालन करना ब्रह्मचर्य कहलाता है।
१२. दिशा - दिशा में जाने-आने का परिमाण करना।
१३. स्नान - तेल की मालिश करके जल से स्नान करने का परिमाण करना।
१४. भक्त - अन्न वगैरह का परिमाण करना।

गृहस्थ प्रतिदिन इन चौदह नियमों से सम्बन्धित वस्तुओं का परिमाण करते हैं।

"वोसिरामि एवं वोसिरइ" - ये दोनों त्यागवाचक शब्द हैं।

आवश्यक-विधि में प्रत्याख्यान की यह विधि बताई गई है।

उपर्युक्त प्रत्याख्यानों से सम्बन्धित शब्दों की व्याख्या पूर्ववत् ही है, अर्थात् उनकी व्याख्या पूर्व में किए गए अनुसार ही है।

नृप, मंत्री, परसेवक एवं बहुव्यवसायी आदि की आवश्यक की विधि इस प्रकार है-

सर्व वस्त्र एवं अलंकारों से युक्त होकर तथा शुद्धि करके देवता के आगे, अथवा पवित्र स्थान पर उत्तरासंग धारण कर पूर्व दिशा की तरफ मुख करके बैठे। सर्वप्रथम परमेष्ठीमंत्र बोले। तत्पश्चात् "पंचमहव्वयजुत्तो पंचविहायारपालणसमत्थो। पंचसमिओ तिगुत्तो छत्तीसगुणो गुरुमज्झ"- गाथा बोले। तत्पश्चात् इच्छाकारेण से लेकर मिच्छामि दुक्कडं तक इरियावहियं का पाठ बोले। उसके बाद "करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव आवस्सयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पज्जुवासामि दुविह." बोलकर शेष सामायिक-दण्डक (पाठ) का उच्चारण करे। तत्पश्चात् शक्रस्तव एवं सम्पूर्ण चतुर्विंशतिस्तव बोले। उसके बाद "धम्मुत्तरं वढउ" तक श्रुतस्तव बोले तथा इसी प्रकार "सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" तक सिद्धस्तव बोले। तत्पश्चात् "अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनश्लाकया। नेत्रमुन्मीलितं येनतस्मै श्री गुरवेनमः।"

भावार्थ - जिन्होनें अज्ञानरूपी अंधकार से अंधे लोगों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजनशलाका से खोले हैं, ऐसे गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

यह श्लोक बोलकर "आयरिय उवज्झाए." की तीन गाथाएँ बोले।

तत्पश्चात् इस प्रकार बोले -

शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की लालसा से यदि मैंने क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूपी कषाय किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा वह दोष मिथ्या हो। यदि मैंने अरिहंतदेव की प्रतिमा को अपवित्र स्थान पर स्थापित किया हो, उनके आसन का उल्लंघन किया हो, उनकी निन्दा की हो, उपहास आदि किया हो, तो वे मुझे क्षमा करें। यदि मैंने गुरु की तेंतीस आशातनारूप अविनय किया हो, तो वे मुझे क्षमा करें। यदि मैंने मिथ्यात्व, हिंसा, मृषा, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, आर्त एवं रौद्रध्यान द्वारा धर्म का लंघन किया हो, तो धर्म मुझे क्षमा करे। अपवित्र स्थान पर पुस्तक आदि रखकर तथा देशकाल आदि का ध्यान रखे बिना अध्ययन करके यदि मैंने ज्ञान की आशातना की हो, तो जिन-आगम मुझे क्षमा प्रदान करें। शंका करके तथा मिथ्यात्व पोषण द्वारा यदि मैंने दर्शन का उल्लंघन किया हो, तो सम्यग्दर्शन मुझे क्षमा प्रदान करें। वध-क्रिया, बंधन-क्रिया, अंगछेदन-क्रिया, अतिभार भरने एवं आहार-पानी में अंतराय करने रूप अतिचारों द्वारा यदि मैंने प्राणातिपात-अणुव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा वह दोष मिथ्या हो। मिथ्योपदेश, अभ्याख्यान, कूटलेख (मिथ्यालेख) गलत सलाह देने, एव स्वयं की गुप्त बातों को प्रकट करने रूप अतिचारों द्वारा यदि मैंने मृषावाद अणुव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरा वह दोष मिथ्या हो। चोर द्वारा लाई गई वस्तु रखने, चोर को सहायता करने, माल में मिलावट करके देने, राज्य के विरूद्ध कर्म करने एवं झूठे माप-तौल का उपयोग करने रूप अतिचारों द्वारा यदि मैंने अदत्तादान-अणुव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा वह दोष मिथ्या हो। इत्वरगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, परविवाहकरण, तीव्र अनुराग एवं अनंगक्रीड़ारूप अतिचारों द्वारा यदि मैंने मैथुन-अणुव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा वह दोष मिथ्या हो। धन, धान्य, सोना-चाँदी, बर्तन, क्षेत्रवास्तु, द्विपद (नौकर), चतुष्पद (गाय, भैंस आदि) की निश्चिंत संख्याओं का उल्लंघन करके यदि मैंने परिग्रह-अणुव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा वह दोष मिथ्या हो। ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक् दिशाओं में जाने-आने के परिमाण का अतिक्रमण करने, क्षेत्र-वृद्धि करने एवं दिशा सम्बन्धी नियम के विस्मृत होने रूप अतिचारों द्वारा यदि मैंने दिशा-परिमाण-व्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा वह दोष मिथ्या हो। सचित्त, सचित्त-प्रतिबद्ध-आहार, सचित्तमिश्र, संधान (बहुत से मादक द्रव्यों से निर्मित) एवं अपक्व आहार - इन अतिचारों द्वारा तथा अंगारवन, शकट, भाटक, स्फोटककर्म ; दांत, लाख, रस, केश एवं विष सम्बन्धी वाणिज्य ; यंत्र-पीलनकर्म, निर्लांछनकर्म, दवदानकर्म, जलशोषणकर्म, असतीपोषणकर्म - इन पन्द्रह कर्मादानों द्वारा भोगोपभोग-गुणव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा वह दोष मिथ्या हो। संयुक्ताधिकरण, भोगोतिरिक्तता, मौखर्य, कंदर्प, कौत्कुच्य रूप अतिचारों द्वारा यदि मैंने अनर्थदण्डविरमण- व्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा दोष मिथ्या हो। मनोदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, अनवस्था एवं स्मृतिविहीनत्वरूप अतिचारों द्वारा यदि मैंने सामायिक-शिक्षाव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा दोष मिथ्या हो। आनयन-प्रयोग, प्रेष्य-प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात एवं पुद्गलक्षेपरूप अतिचारों द्वारा यदि मैंने देशावगासिक-शिक्षाव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा दोष मिथ्या हो। अनादर (अनवस्था) सम्यक् प्रकार से पालन न करना, स्मृतिविहीनत्व, सम्यक् प्रकार से स्थंडिलभूमि एवं संस्तारक का सम्यक्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार से परीक्षण न किया हो, उसकी प्रतिलेखना न करने रूप अतिचारों से पौषधव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा दोष मिथ्या हो। सचित्त- निक्षेप, सचित्त-विधान, कालातिक्रम-दान, मात्सर्य, पर-व्यपदेशरूप अतिचारों द्वारा यदि मैंने अतिथिसंविभाग-गुणव्रत का उल्लंघन किया हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा दोष मिथ्या हो। पूरे दिन और रात में मैंने जो दुष्चिंतन किया हो, दुष्वचन बोला हो, दुष्चेष्टा की हो, तो तत्सम्बन्धी मेरा दोष मिथ्या हो। - इस प्रकार बोलकर निम्न पाठ बोले -

संसार में चार मंगल हैं - १. अरिहंत भगवान् मंगल हैं २. सिद्ध भगवान् मंगल हैं ३. साधु महाराज मंगल हैं एवं ४. सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म मंगल है।

संसार में चार उत्तम, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं - १. अरिहंत भगवान् लोक में उत्तम हैं २. सिद्ध भगवान् लोक में उत्तम हैं ३. साधुजन लोक में उत्तम हैं एवं ४.सर्वज्ञ प्ररूपित धर्मलोक में उत्तम हैं।

मैं चार की शरण स्वीकार करता हूँ - १. अरिहंतों की शरण स्वीकार करता हूँ २. सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ ३. साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ एवं ४. केवली प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ। तत्पश्चात् जिनस्तोत्र का पाठ करे। अखिल विश्व का कल्याण हो, सभी प्राणियों के परोपकार में तत्पर बन व्याधि-दुःख दौर्मनस्यादि का नाश हो और सर्वत्र मनुष्य सुख को प्राप्त करे - इस प्रकार की कामना करे। तत्पश्चात् परमेष्ठीमंत्र बोले। मन, वचन एवं काया के योग को शुभध्यान में केन्द्रित करके शुभ आवश्यक कार्य द्वारा सामायिक को पूर्ण करे। अतिचारों से रहित मेरे द्वारा की गई सामायिक अनुत्तर है, अर्हत् एवं गुरु के प्रसाद से पुनः क्षण-क्षण में मुझे इसकी प्राप्ति हो। "पुनरस्तु सामायिकं"- यह सामायिक पारने का श्लोक है। तत्पश्चात् प्रत्यक्ष रूप से या मन से गुरुवन्दन करे।

इस प्रकार नृप, मंत्री तथा कार्य में व्यग्र बने हुए गृहस्थों के प्रतिक्रमण की यह संक्षिप्त प्रतिक्रमण-विधि संपूर्ण होती है।

यदि कभी किसी प्रज्ञावान् को सामायिक एवं प्रत्याख्यान-दण्डक का मुखपाठ न आता हो, तो उसे मन से ग्रहण करे। सामायिक एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान-दण्डक का उच्चारण करके यदि कोई सामायिक ग्रहण करे, तो सामायिक एवं प्रत्याख्यान-दण्डक का ग्रहण होने से उसके मध्यगत आगारों (अपवादों) के कारण अतिचारों के लगने पर भी उसका सामायिक एवं प्रत्याख्यान अखण्ड रहता है, किन्तु मन से उन अतिचारों का आदर करने पर, अर्थात् दण्डक का उच्चारण न करके अतिचारों के लगने पर सामायिक एवं प्रत्याख्यान का भंग होता है। सामायिक एवं प्रत्याख्यान का भंग होने पर प्रायश्चित्त-विधि में कहे गए अनुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए तथा परमात्मा की पूजा, गुरु का सम्मान, सिद्धान्त का पठन, मुनि, जिनबिम्ब एवं पुस्तक का आदर करना, धर्मोपदेश का श्रवण करना, धर्मशास्त्र की व्याख्या करना अथवा गुरु की उपधि आदि की प्रतिलेखना करना, परमेष्ठीमंत्र का जाप करना, स्तोत्र का पाठ करना भी योग्य है। धर्म में लयलीन होकर विचक्षणों को सर्व आवश्यक करने चाहिए। मध्याह्न से मध्यरात्रि सम्बन्धी कर्म को दैवसिक एवं मध्यरात्रि से मध्याह्न तक किए जाने वाले कर्म को रात्रिक (कर्म) कहते हैं।

इस प्रकार आचार्य श्री वर्धमानसूरिविरचित आचारदिनकर के उभयधर्मस्तम्भ में षड् आवश्यक नामक अड़तीसवाँ उदय समाप्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनचालीसवाँ उदय
तप-विधि

अब तप की विधि बताते हैं। वह इस प्रकार है -
तप-महिमा - तप-विधान -

जो अत्यन्त दुस्साध्य हैं, जो कष्टसाध्य हैं तथा जो दूरस्थ हैं - वे सब वस्तुएं तपस्या द्वारा ही साध्य होती हैं, क्योंकि तपस्या का प्रभाव दुरितक्रम है, अर्थात् उसका कोई उल्लघंन नही कर सकता। जो व्यक्ति शिवकुमार की तरह गृहस्थ-आश्रम में रहकर भी तपस्या का आचरण करता है, वह देवसभा में भी कांति ,द्युति, महत्ता और स्फूर्ति को प्राप्त करने वाला (देव) होता है। जैसे अग्नि के प्रचण्ड तप में तपने से जिसका वर्ण उज्ज्वलता को प्राप्त होता है तथा ऐसा सुवर्ण सर्व धातुओं में विशिष्टता एवं श्रेष्ठता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार तप करने वाला मनुष्य सर्व मनुष्यों में शिरोमणि एवं विशिष्टता प्राप्त करता है। तप समग्र कर्म का भेदन करने वाला तथा विविध प्रकार की लब्धि को प्राप्त करने वाला है। नंदिषेण नामक ब्राह्मण जो स्वयं के घर में तथा नगर में भी महादुर्भागी माना जाता था, वह भी चारित्र ग्रहण करने के पश्चात् शमयुक्त तप में तत्पर होने से देव तथा मनुष्य द्वारा वंदन करने के योग्य हुआ, क्योंकि सूर्य तथा अग्नि से तपाया हुआ कच्चा घड़ा भी कांति को प्राप्त करता है। तीर्थंकरों तथा गीतार्थ मुनियों ने जिस तप की जो विधि कही है, उस तप को उसी विधि से करने वाला मनुष्य मनवांछित सिद्धियों को प्राप्त करता है। अगर दान देने की शक्ति न हो, तो पुण्यवंत मनुष्यों को स्वयं की शारीरिक-शक्ति के अनुसार अत्यंत दुष्कर, ऐसा तपकर्म अवश्य करना चाहिए।

तप बारह प्रकार का होता है। इसके दो भेद हैं -१. बाह्यतप और २. आभ्यंतरतप। उपवासादि करना छः प्रकार का बाह्यतप है। तीर्थंकरों एवं मुनिवरों ने क्रमपूर्वक तप की विधि बताई है। उनमे से कुछ तप केवली द्वारा भाषित हैं, कुछ तप गीतार्थ मुनिवरों द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषित हैं तथा कुछ तप के ऐहिक फल के इच्छुकों द्वारा आचरित हैं। इस प्रकार तप-विधि तीन प्रकार की है। इन तपों में योगोपधान मुख्य है तथा इसकी विधि केवली द्वारा भाषित है।

जिसमें कल्याणक, पुंडरीक आदि तप मुख्य हैं, वे तप गीतार्थ मुनियों द्वारा भाषित हैं तथा रोहिणी और कल्पवृक्ष आदि जो तप हैं, वे तप ऐहिक या लौकिक फल की अपेक्षा वाले तप हैं।

इस प्रकार सभी विद्वानों ने एकमत होकर तपस्याओं का यह स्वरूप बताया है। साधु-साध्वी तथा ऐसे श्रावक जो प्रतिमाओं का वहन कर चुके हैं, उपधान कर चुके हैं तथा जिन्होंने सम्यक्त्व का धारण किया है, उनको ऐहिक फल की अपेक्षा वाली तपस्याएँ नही करनी चाहिए। गृहस्थों को योगोद्वहन-तप नही करना चाहिए, किन्तु मुनियों को इसे अवश्य करना चाहिए। शेष सभी तप शांत एवं गुणवान् श्रावक एवं श्राविकाओं को भी करने चाहिए।

शांत, अल्पनिद्रावाले, अल्पाहारी, कामनारहित, कषायवर्जित, धैर्यवान् अन्य की निंदा नही करने वाले, गुरुजनों की शुश्रुषा में तत्पर, कर्मक्षय करने के अर्थी, प्रायःकर राग एवं द्वेष से रहित, दयालु, विनयी, इहलोक एवं परलोक की इच्छा से रहित, क्षमावान्, निरोगी और उत्कंठारहित - ऐसे जीव तप करने के योग्य कहे गए हैं।

प्रतिष्ठा और दीक्षा में जो काल त्याज्य बताया गया है, वही काल छःमासी तप, वर्षीतप तथा एक मास से अधिक समय वाले तप के प्रारंभ करने में भी त्याज्य बताया गया है। शुभ मुहूर्त में तप का प्रारंभ करने के बाद दिवस, पक्ष, मास या वर्ष अशुभ आ जाए, तो उसमे कोई दोष नही है। प्रथम विहार, तप, नंदी और आलोचना में मृदु, ध्रुव, चर, क्षिप्र संज्ञा वाले नक्षत्र तथा मंगल और शनिवार के सिवाय शेष वार शुभ माने गए हैं।

तप करते समय बीच में यदि पर्व-तिथि का तप आता हो, तो उस बड़े तप को न करके उस पर्व-तिथि के तप को अवश्य करना चाहिए और फिर पूर्व से आराधित उस बड़े तप को भी करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुष का नियम दुर्लंघ्य होता है। एक तप के मध्य कोई दूसरा तप भी करणीय हो, तो ऐसी स्थिति में जो तप बड़ा हो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह करना चाहिए तथा शेष रहा हुआ लघु तप उसके बाद करना चाहिए, अर्थात् कोई तप एकासन से करना प्रारंभ किया हो और उसमें किसी दूसरे तप का उपवास आ जाए, तो उस समय उपवास करना चाहिए तथा एकासन बाद में करना चाहिए। अनाभोगादि कारणों से यदि तप के मध्य में तप का भंग हुआ हो, तो उसकी उसी तप से आलोचना कर लेनी चाहिए और बाद में वह आलोचना सम्बन्धी तप करना चाहिए। अनुक्रम वाले तप में प्रायः कर के तिथियों के क्रम को नहीं गिनना चाहिए, अर्थात् तिथि के दिन खाना पड़े और बिना तिथि के उपवासादि करना पड़े, तो उसे उसी प्रकार से करना चाहिए ।

तिथि की मुख्यता वाले तप में सूर्योदय के समय जो तिथि होती है, वह तिथि लेना श्रेष्ठ है, किन्तु तिथि का क्षय हो, तो पूर्व दिवस में और तिथि की वृद्धि हो, तो दूसरे वृद्धि के दिन उस-उस तिथि का तपकर्म करना चाहिए - ऐसा श्री जिनेश्वर भगवान् ने कहा है।

कालवृद्धि[1] रसत्याग, वृत्तिसंक्षेप, औनोदर्य, अनशन और कायक्लेश - इस प्रकार इन छः प्रकार के तपों में उत्तरोत्तर वृद्धि से अधिक - अधिक तप जानना चाहिए, अर्थात् क्रमशः एक-दूसरे से उत्तरोत्तर से अधिक तप से युक्त समझना चाहिए। (यह कालवृद्धि नामक तप विशेष रूप से बताया गया हैं और संलीनता-तप का कालक्लेश-तप में समावेश किया गया है- इस प्रकार ग्रंथकार ने बाह्यतप के भेदों की ६ की संख्या को कायम रखा है।)

नवकारसी, पौरुषी, सार्द्धपौरुषी, पूर्वार्द्ध और अपराह्न - इन तपों में पूर्व - पूर्व की अपेक्षा उत्तर- उत्तर तपकाल की अपेक्षा उत्कृष्ट जानना चाहिए। संख्या वाली विकृति, अर्थात् एक, दो विगई का त्याग, नीवि, आयम्बिल और एक सिक्थ (मात्र एक दाना खाना)

---

[1] मूल पाठ में कालवृद्धिः ऐसा पाठ है, किन्तु हमारी दृष्टि में यह उचित पाठ नहीं है। कायक्लेश पाठ होना चाहिए, किन्तु आगे पुनः कायक्लेश-तप का उल्लेख किया गया है, अतः कुछ स्पष्ट नहीं है कि कालवृद्धि नामक तप का उल्लेख यहाँ किस दृष्टि से किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन रसत्याग तपों में भी पूर्व - पूर्व की अपेक्षा उत्तर - उत्तरतप उत्कृष्ट जानने चाहिए।

बियासन, एकासन, संख्या वाले कवल, दत्ति, तिविहार, उपवास और निर्जल चौविहार उपवास - इन वृत्तिसंक्षेप तपों में भी पूर्व - पूर्व की अपेक्षा से उत्तरोत्तर तप उत्कृष्ट बताया गया है।

तप के प्रारंभ में तप की निर्विघ्न समाप्ति के लिए श्री जिनेश्वर की अष्टप्रकारी पूजा करनी चाहिए तथा विधिपूर्वक पौष्टिककर्म करना चाहिए। पौष्टिककर्म की विधि इस प्रकार है -

नवग्रह, दस दिक्पाल और यक्षों का द्रव्य, नैवेद्य और उत्तम फलों से बृहत् पूजन किया जाता है, उसे पौष्टिककर्म कहते हैं।

तप के प्रारंभ में गुरु को (साधु को) निर्दोष पुस्तक, वस्त्र, पात्र, और अन्न का दान देना चाहिए। संघपूजा करनी चाहिए तथा क्षेत्रदेवता और पुरदेवता की भी पूजा करनी चाहिए ।

योगवहन ,उपधानवहन एवं प्रतिमावहन में मुनीन्द्रों द्वारा बताई गई विधि के अनुसार नंदी की स्थापना अवश्य करनी चाहिए एवं अन्य तपों में शक्रस्तव बोलकर आवश्यकादि की वाचना की विधि करे।

केवल तप ही शुद्ध है, किन्तु वह तप यदि उद्यापनसहित हो, तो उसका महत्त्व विशिष्ट होता है, क्योंकि गाय के गुणों के कारण ही दूध मनोहर है और वह दूध जब द्राक्ष और शक्कर के चूर्ण के साथ मिल जाता है, तो वह अमृत के समान बन जाता है।

जिस प्रकार दोहन पूर्ण होने से वृक्ष विशेष रूप से सुशोभित होता है, अर्थात् फल देता है और जिस प्रकार से श्रेष्ठ रसवाले भोजन से शरीर विशेष शोभा को प्राप्त करता है, उसी प्रकार तप भी विधिपूर्वक उद्यापन से विशेष शोभा को प्राप्त करता है, अर्थात् विशेष फल देता है।

सभी प्रकार के उपधान-तप, यति की बारह प्रतिमाओं के तप, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के सिद्धांत-तप, योग-तप, इन्द्रियजय-तप, कषायजय-तप, योगशुद्धि-तप, धर्मचक्र-तप, दो अष्टाह्निका-तप, कर्मसूदन-तप - इस प्रकार ये सब तप जिन के द्वारा भाषित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगोद्वहन-तप को छोड़कर उपर्युक्त सभी तप साधु एवं श्रावकों द्वारा करने योग्य हैं। योगोद्वहन-तप साधु के लिए ही योग्य है।

पुनः मूलग्रन्थ में यही बात बताई गई है।

कल्याणक-तप, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप, चांद्रायण-तप, वर्धमान-तप, परमभूषण- तप, जिनदीक्षा-तप, तीर्थंकरज्ञान-तप, तीर्थंकरनिर्वाण-तप, अनोदरिका-तप, संलेखना-तप, सर्वसंख्या श्रीमहावीर-तप, कनकावली-तप, मुक्तावली-तप, रत्नावली-तप, लघुसिंहनिष्क्रीड़ित-तप, बृहद्सिंहनिष्क्रीड़ित-तप, भद्रतप, महाभद्र-तप, भद्रोत्तर-तप, सर्वतोभद्र-तप, गुणरत्नसंवत्सर-तप, ग्यारह अंग-तप, सवंत्सर-तप, नन्दीश्वर-तप, पुंडरीक-तप, माणिक्यप्रस्तारिका-तप, पद्मोत्तर-तप, समवशरण-तप, वीरगणधर-तप, अशोकवृक्ष-तप, एक-सौ-सत्तर जिन-तप, नवकार-तप, चौदहपूर्व-तप, चतुर्दशी-तप, एकावली-तप, दशविधयतिधर्म-तप, पंचपरमेष्ठी-तप, लघुपंचमी-तप, बृहत्पंचमी-तप और चतुर्विधसंघ-तप - इन तपों के अतिरिक्त स्वर्गादि की इच्छा रखने वाले तथा पवित्र वृत्ति वाले मनुष्यों द्वारा जिन तपों का ग्रहण किया जाता है, वे सभी तप भी तप में ही समाहित हैं, उन तपों में से घनतप, महाघनतप, वर्गतप, श्रेणीतप, पाँच मेरुतप, बत्तीस कल्याणकतप, च्यवनतप, जन्मतप, सूर्यायणतप, लोकनालीतप, कल्याणक अष्टाह्नकतप, आयंबिलवर्धमानतप, माघमालातप, महावीरतप, लक्षप्रतिपदतप - ये सब तप गीतार्थों द्वारा बताए गए हैं। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका एवं महात्माओं के आचरण करने योग्य ये ५१ प्रकार के तप गीतार्थों द्वारा कहे गए हैं।

सर्वांगसुन्दर-तप, निरूजशिख-तप, सौभाग्यकल्पवृक्ष-तप, दमयंती-तप, आयतिजनक-तप, अक्षयनिधि-तप, मुकुटसप्तमी-तप, अम्बातप, श्रुतदेवीतप, रोहिणीतप, मातृतप, सर्वसुखसंपत्ति-तप, अष्टापदपावड़ी-तप, मोक्षदण्डतप, अदुःखदर्शीतप (दूसरा) गौतमपडघातप, निर्वाणदीपतप, अमृताष्टमीतप, अखण्डदशमीतप, परत्रपालीतप, सोपानतप, कर्मचतुर्थतप, नवकारतप (छोटा), अविधवादशमी-तप, बृहत्नंद्यावर्त्ततप एवं लघुनंद्यावर्त्ततप - ये सत्ताईस प्रकार के फल तप बताए गए हैं। ये किसी इच्छा की पूर्ति हेतु किए जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब प्रत्येक तप की विस्तार से चर्चा करते हैं -

१. उपधान - उपधान-तप की विधि व्रतारोपण अधिकार से जानें।

२. गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमा-तप - गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाओं के वहन की विधि को भी व्रतारोपण अधिकार से जानें ।

३. बारह यतिप्रतिमा-तप - इसकी विधि यतिधर्म के उत्तरभाग के प्रतिमा अधिकार से जानें।

४. सिद्धान्तयोग-तप (योगोद्वहन-तप) - सैद्धांतिकयोग-तप यतिधर्म के उत्तरभाग के योगोद्वहन अधिकार से जानें।

जिनेश्वरों द्वारा जो तप बताए गए हैं, उनमे से शेष रहे चार तपों की व्याख्या करते हैं।

५. इन्द्रियजय-तप -

पूर्वार्धमेक भक्तं च विरसाम्ले उपपोषितं,
प्रत्येकमिन्द्रियः पंचविंशति वासरै।।१।।

पूर्वार्द्ध, एकासन, नीवि, आयंबिल और उपवास।

इस प्रकार क्रमशः पाँच दिन तक ये तप करने से एक इंद्रियजय का तप होता है। इस तरह पाँचों इन्द्रियों के जय के लिए पाँच ओली करने से पच्चीस दिन में यह तप पूरा होता है। स्पर्शन, रस, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्ररूप इन्द्रियों की जय के लिए जो तप किया जाता है, उसे इन्द्रियजय-तप कहते हैं। (इसकी विधि बताई गई है) तपस्या के दिनों में भूमि पर शयन करना चाहिए तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

इन्द्रियजय-तप, कुल दिन - २५					
स्पर्श	पू.१	ए.१	नी.१	आं.१	उप.१
रस	पू.१	ए.१	नी.१	आं.१	उप.१
घ्राण	पू.१	ए.१	नी.१	आं.१	उप.१
चक्षु	पू.१	ए.१	नी.१	आं.१	उप.१
श्रोत्र	पू.१	ए.१	नी.१	आं.१	उप.१

उद्यापन के समय पूजा में जिनेश्वर की प्रतिमा के आगे विभिन्न प्रकार के पच्चीस - पच्चीस पकवान, फल आदि चढाए और उतनी ही संख्या में पकवानों का साधुओं को दान दे। यह तप करने से सभी इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति नहीं होती है। यह तप साधु एवं श्रावक - दोनों के करने योग्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक भक्तं निविकृति सजलानशने तथा
कषाय जय एकस्मिन् कषायेऽन्येष्वपीदृशं।।१।।

६. कषायजय-तप - अब कषायजय-तप की विधि बताते हैं -

प्रथम दिन एकासन, दूसरे दिन नीवि, तीसरे दिन आयंबिल और चतुर्थ दिन उपवास - इस प्रकार एक कषायजय के लिए चार दिन की एक ओली होती है। शेष तीन कषायों की ओली भी इसी प्रकार होती है - इस प्रकार सोलह दिन में यह तप पूर्ण होता है।

इस तपयंत्र का न्यास इस प्रकार है -

कषायजय-तप, कुल दिन-१६				
क्रोध	ए.१	नी.१	आं.१	उप.१
मान	ए.१	नी.१	आं.१	उप.१
माया	ए.१	नी.१	आं.१	उप.१
लोभ	ए.१	नी.१	आं.१	उप.१

क्रोध, माया, मान एवं लोभरूपी कषाय के जय के लिए जो तप किया जाता है, उसे कषायजय-तप कहते हैं। इसमें उद्यापन की पूजा में सर्व जाति के फल, तथा षट्विकृतियों से युक्त पकवान सोलह-सोलह की संख्या में परमात्मा की प्रतिमा के आगे चढाएं तथा उसी परिमाण में मुनियों को भी दान दे। यह तप करने से सर्व कषायों का नाश होता है। यह तप साधु एवं श्रावक - दोनों के करने योग्य आगाढ़ तप है।

७. योगशुद्धि-तप - अब योगशुद्धि-तप की विधि बताते हैं -

"योगे प्रत्येकमरसमाचाम्लं वाप्युपोषितं।
एवं नवदिनैर्योग शुद्धिः संपूर्यते ततः।।"

यह तप मन, वचन और काया के योग को शुद्ध करने वाला होने से योगशुद्धि- तप कहलाता है। इसमें मनोयोग के लिए पहले दिन नीवि, दूसरे दिन आयंबिल एवं तीसरे दिन उपवास किया जाता है। इसी प्रकार वचन एवं काया के योग के लिए भी तीन-तीन दिन यह तप किया जाता है - इस प्रकार नौ दिन में यह तप पूर्ण होता है।

इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

योगशुद्धि-तप, कुल दिन-९			
मन	नी.१	आं.१	उप.१
वचन	नी.१	आं.१	उप.१
काया	नी.१	आं.१	उप.१

उद्यापन में जिनेश्वर के आगे छहों विगयों से युक्त पदार्थ चढ़ाए तथा साधुओं को भी वही वस्तुएँ दान दे। यह तप करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से मन, वचन और काया के योग की शुद्धि होती है। योगशुद्धि-तप साधु तथा श्रावक - दोनों के करने योग्य आगाढ़ तप है।

९. धर्मचक्र-तप -

अब धर्मचक्र-तप की विधि बताते हैं -

"विधाय प्रथमं, षष्टं षष्टिमेकान्तरास्तथा।
उपवासान् धर्मचक्रे ,कुर्याद्वहल्यर्क वासरैः।।"

धर्म का चक्र, अर्थात् भगवान् अरिहंत का अतिशयरूप धर्मचक्र की प्राप्ति का कारण होने से धर्मचक्र-तप कहलाता है। इस तप के प्रांरभ में षष्टभक्त (निरन्तर दो उपवास) करके पारणा किया जाता है तथा उसके बाद एक दिन के अन्तर से साठ उपवास किए जाते हैं- इस प्रकार यह तप १२३ दिनों में पूर्ण होता है।

इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

धर्मचक्र-तप, कुल दिन - १२३																			
उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.

उद्यापन में रत्नजटित स्वर्ण अथवा चाँदी का धर्मचक्र बनवाकर जिनेश्वर की प्रतिमा के आगे चढाए या रखे। उसके बाद संघपूजा करे। यह तप करने से अतिचार- रहित बोधि की प्राप्ति होती है। यह तप यति तथा श्रावक के करने योग्य आगाढ़ तप है।

९.-१०. लघुअष्टाह्निका-तप (दोनों) -

"अष्टमीभ्यां समारभ्य शुक्लाश्वयुज चैत्रयो :।
राकां यावत् सप्तवर्षं स्वशक्त्याष्टाह्निका तप : ।।"

आठ - आठ दिनों का तप होने से अष्टाह्निका-तप कहलाता है। यह तप आश्विन और चैत्र मास की शुक्ल पक्ष की अष्टमी से प्रांरभ करके पूर्णिमा तक करना चाहिए। इसमें अपनी शक्ति के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुसार हमेशा एकासन, नीवि, आयम्बिल या उपवास करना चाहिए। इस तरह सात वर्ष तक यह तप करना चाहिए तथा तप के दिनों में बृहत्स्नात्र विधि से परमात्मा की पूजा करनी चाहिए।

इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

चैत्र शुक्ल लघुअष्टाह्निका-तप								
तिथि	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
	ए.	नी.	आं.	उप.	ए.	नी.	आं.	उप.

आश्विन शुक्ल अष्टमी								
तिथि	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
	ए.	नी.	आं.	उ.	ए.	नी.	आं.	उ.

उद्यापन में छप्पन-छप्पन पकवान, पुष्प, फल आदि से परमात्मा की पूजा करे। साधु भगवंतों को आहार-दान तथा यथाशक्ति संघ की पूजा करनी चाहिए। ये दोनों तप दुर्गति का नाश करने वाले हैं। यह तप साधुओं तथा श्रावकों के करने योग्य आगाढ़ तप है।

११. कर्मसूदन-तप -

"प्रत्याख्यानान्याष्टौ, प्रत्येकं कर्मणां विघाताय ।
इति कर्म सूदन तपः, पूर्ण स्याद्युगरसमिताहैः ।।१।।
उपवासमेकभक्तं, तथैक सिक्थैक संस्थिती दत्ती ।
निर्विकृतिकमाचाम्लं, कवलाष्टकं च क्रमात्कुर्यात् ।।२।।"

यह तप १. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयुष्य ६. नाम ७. गोत्र एवं ८. अन्तराय - इन आठ कर्मों का क्षय करता है, अर्थात् उनका पूर्ण रूप से छेदन होने से इसे कर्मसूदन-तप कहा जाता है।

इस तप में ज्ञानावरण-कर्म के लिए प्रथम दिन उपवास, दूसरे दिन एकासन, तीसरे दिन एकसिक्थ (एक दाना) स्थान पर चौविहार आयंबिल, चौथे दिन एकस्थान (एकलठाणा/ठाम चौविहार एकासन), पाँचवें दिन ठाम चौविहार एकदत्ती (एक बार पात्र में आ जाए, वही खाना), छठवें दिन लूखी नीवि, सातवें दिन आयंबिल एवं आठवें दिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठ कवल का एकासन करे - इसी प्रकार अन्य कर्मों की भी ८-८ दिन की ओलियाँ करे। यह तप चौंसठ दिन में पूरा होता है।

इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

कर्मसूदन-तप : आगाढ़ तप - ६४								
ज्ञानावरण	उप.	ए.	सि.	एग.	ए.द.	नी.	आं.	आठ कवल
दर्शनावरण	उप.	ए.	सि.	एग.	ए.द.	नी.	आं.	आठ कवल
वेदनीय	उप.	ए.	सि.	एग.	ए.द.	नी.	आं.	आठ कवल
मोहनीय	उप.	ए.	सि.	एग.	ए.द.	नी.	आं.	आठ कवल
आयुष्य	उप.	ए.	सि.	एग.	ए.द.	नी.	आं.	आठ कवल
नाम	उप.	ए.	सि.	एग.	ए.द.	नी.	आं.	आठ कवल
गोत्र	उप.	ए.	सि.	एग.	ए.द.	नी.	आं.	आठ कवल
अन्तराय	उप.	ए.	सि.	एग.	ए.द.	नी.	आं.	आठ कवल

इस तप के उद्यापन में सोने की कुल्हाडी सहित चाँदी का वृक्ष तथा चौंसठ मोदक ज्ञान के आगे रखे। बृहत्स्नात्रविधि से परमात्मा की स्नात्रपूजा करे तथा संघपूजा करे। इस तप के फल से कर्मों का क्षय होता है। यह तप साधु एवं श्रावक के करने योग्य आगाढ़ तप है।

इस प्रकार जिनेश्वरों द्वारा भाषित साधु एवं श्रावक के करने योग्य तप की विधि सम्पूर्ण होती है।

गृहस्थों को इस तप के उद्यापन में तपविधि में बताए गए अनुसार करना चाहिए। साधुओं ने तपस्या की हो, तो उसका उद्यापन श्रावक से कराना चाहिए, अथवा ऐसा संभव न हो, तो मानसिक-उद्यापन करना चाहिए। जो तप अन्तराल से किया जाए, वह अनागाढ़-तप कहलाता है और जो लगातार श्रेणीबद्ध किया जाए, वह आगाढ़-तप कहा जाता है - ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है। ऊपर बताए गए सभी तप जिनेश्वरों द्वारा बताए गए हैं।

अब गीतार्थों द्वारा बताई गई तप-विधि बताते है, जो इस प्रकार है -

जिस दिन तीर्थंकर भगवंत का गर्भावतार (च्यवन), जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष हुआ हो, उस दिन जो तप किया जाए, वह कल्याणक-तप कहलाता है। जिस दिन एक कल्याणक हो, उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन एकासन करे, दो कल्याणक हों, तो उस दिन नीवि करे। जिस दिन तीन कल्याणक हों, उस दिन आयम्बिल करे और जिस दिन चार कल्याणक हों, उस दिन उपवास करना चाहिए - ऐसा गीतार्थों द्वारा कहा गया है। इस प्रकार प्रतिवर्ष करते हुए सात वर्ष में यह तप पूरा होता है। कल्याणक-तप के दिनों का विवेचन आगमों (की टीकाओं) में भी किया गया है।

कार्तिक कृष्णपक्ष पंचमी के दिन संभवनाथ भगवान का केवलज्ञान-कल्याणक, द्वादशी के दिन नेमिनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक, इसी दिन पद्मप्रभु का जन्म-कल्याणक, त्रयोदशी के दिन पद्मप्रभु का दीक्षा-कल्याणक, एवं अमावस्या के दिन वीर परमात्मा का मोक्ष-कल्याणक आता है।

कार्तिक शुक्ल पक्ष तृतीया के दिन सुविधिनाथ का तथा द्वादशी के दिन अरनाथ भगवान् का ज्ञान-कल्याणक आता है।

मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष पंचमी के दिन सुविधिनाथ का जन्म-कल्याणक, षष्ठी के दिन सुविधिनाथ का दीक्षा-कल्याणक, दशमी के दिन वीर परमात्मा का दीक्षा-कल्याणक एवं एकादशी के दिन पद्मप्रभु का मोक्ष-कल्याणक आता है।

मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष दशमी के दिन अरनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक, एवं मोक्ष-कल्याणक, एकादशी के दिन अरनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक, नमिनाथ भगवान् का ज्ञान-कल्याणक, मल्लिनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक, दीक्षा-कल्याणक एवं ज्ञान-कल्याणक, चतुर्दशी के दिन संभवनाथ का जन्म-कल्याणक एवं पूर्णिमा के दिन संभवनाथ का दीक्षा-कल्याणक आता है।

पौष कृष्ण पक्ष दशमी के दिन पारसनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक, एकादशी के दिन पारसनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक, द्वादशी के दिन चंद्रप्रभु का जन्म-कल्याणक, त्रयोदशी के दिन चंद्रप्रभु का दीक्षा-कल्याणक एवं चतुर्दशी के दिन शीतलनाथ भगवान् का ज्ञान-कल्याणक आता है।

पौष शुक्ल पक्ष षष्ठी के दिन विमलनाथ भगवान् का ज्ञान-कल्याणक, नवमी के दिन शांतिनाथ भगवान् का ज्ञान-कल्याणक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकादशी के दिन अजितनाथ भगवान् का ज्ञान-कल्याणक, चतुर्दशी के दिन अभिनंदन स्वामी का ज्ञान-कल्याणक, पूर्णिमा के दिन धर्मनाथ का ज्ञान-कल्याणक आता है।

माघ कृष्ण पक्ष षष्ठी के दिन पद्मप्रभु भगवान् का च्यवन-कल्याणक, द्वादशी के दिन शीतलनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक तथा दीक्षा-कल्याणक, त्रयोदशी के दिन ऋषभनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक, अमावस्या के दिन श्रेयासनाथ का ज्ञान-कल्याणक आता है।

माघ शुक्ल पक्ष द्वितीया के दिन वासुपूज्यस्वामी का ज्ञान-कल्याणक तथा अभिनंदन स्वामी का जन्म-कल्याणक, तृतीया के दिन विमलनाथ भगवान् का एवं धर्मनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक, चतुर्थी के दिन विमलनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक, अष्टमी के दिन अजितनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक, नवमी के दिन अजितनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक, द्वादशी के दिन अभिनंदनस्वामी का दीक्षा-कल्याणक, त्रयोदशी के दिन धर्मनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक आता है।

फाल्गुन कृष्ण पक्ष षष्ठी के दिन सुपार्श्वनाथ भगवान् का ज्ञान-कल्याणक, सप्तमी के दिन सुपार्श्वनाथ का मोक्ष-कल्याणक तथा चंद्रप्रभु का ज्ञान-कल्याणक, नवमी के दिन सुविधिनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक, एकादशी के दिन ऋषभदेव का ज्ञान-कल्याणक, द्वादशी के दिन श्रेयांसनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक तथा मुनि-सुव्रतस्वामी का ज्ञान-कल्याणक, त्रयोदशी के दिन श्रेयांसनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक, चतुर्दशी के दिन वासुपूज्य का दीक्षा-कल्याणक आता है।

फाल्गुन शुक्ल पक्ष द्वितीया के दिन अरनाथ का च्यवन-कल्याणक, चतुर्थी के दिन मल्लिनाथ का च्यवन-कल्याणक, अष्टमी के दिन संभवनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक, द्वादशी के दिन मल्लिनाथ का मोक्ष-कल्याणक तथा मुनिसुव्रतस्वामी का दीक्षा-कल्याणक आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्र कृष्ण पक्ष चतुर्थी के दिन पार्श्वनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक तथा ज्ञान-कल्याणक, पंचमी के दिन चंद्रप्रभु का च्यवन-कल्याणक, अष्टमी के दिन ऋषभदेव का जन्म-कल्याणक तथा दीक्षा-कल्याणक आता है।

चैत्र शुक्ल पक्ष तृतीया के दिन कुंथुनाथ भगवान् का ज्ञान-कल्याणक, पंचमी के दिन संभवनाथ, अनंतनाथ एवं अजितनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक, नवमी के दिन सुमतिनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक, एकादशी के दिन सुमतिनाथ का ज्ञान-कल्याणक, त्रयोदशी के दिन महावीरस्वामी का जन्म-कल्याणक तथा पूर्णिमा के दिन पद्मप्रभु का ज्ञान-कल्याणक आता है।

वैशाख कृष्ण पक्ष प्रतिपदा के दिन कुंथुनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक, द्वितीया के दिन शीतलनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक, पंचमी के दिन कुंथुनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक, षष्ठी के दिन शीतलनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक, दशमी के दिन नमिनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक, त्रयोदशी के दिन अनंतनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक, चतुर्दशी के दिन अनंतनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक और ज्ञान-कल्याणक तथा चतुर्दशी के दिन ही कुंथुनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक आता है।

वैशाख शुक्ल पक्ष चतुर्थी के दिन अभिनंदन स्वामी का च्यवन-कल्याणक, सप्तमी के दिन धर्मनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक, अष्टमी के दिन अभिनंदन स्वामी का मोक्ष-कल्याणक एवं सुमतिनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक, नवमी के दिन सुमतिनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक, दशमी के दिन वीर परमात्मा का ज्ञान-कल्याणक, द्वादशी के दिन विमलनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक तथा त्रयोदशी के दिन अजितनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक आता है।

ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष षष्ठी के दिन श्रेयांसनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक, अष्टमी के दिन मुनिसुव्रतस्वामी का जन्म-कल्याणक, नवमी के दिन मुनिसुव्रतस्वामी का मोक्ष-कल्याणक, त्रयोदशी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के दिन शांतिनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक तथा मोक्ष- कल्याणक, चतुर्दशी के दिन शांतिनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक आता है।

ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष पंचमी के दिन धर्मनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक, नवमी के दिन वासुपूज्य स्वामी का च्यवन-कल्याणक, द्वादशी के दिन सुपार्श्वनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक तथा त्रयोदशी के दिन सुपार्श्वनाथ भगवान् का ही दीक्षा-कल्याणक आता है।

आषाढ़ कृष्ण पक्ष चतुर्थी के दिन ऋषभदेव का च्यवन-कल्याणक, सप्तमी के दिन विमलनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक, नवमी के दिन नमिनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक आता है।

आषाढ़ शुक्ल पक्ष षष्ठी के दिन वीर परमात्मा का च्यवन-कल्याणक, अष्टमी के दिन नेमिनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक तथा चतुर्दशी के दिन वासुपूज्य भगवान् का मोक्ष-कल्याणक आता हैं।

श्रावण कृष्ण पक्ष तृतीया के दिन श्रेयासनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक, सप्तमी के दिन अनंत भगवान् का च्यवन-कल्याणक, अष्टमी के दिन नमिनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक तथा कुंथुनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक आता है।

श्रावण शुक्ल पक्ष द्वितीया के दिन सुमतिनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक, पंचमी के दिन नेमिनाथ भगवान् का जन्म-कल्याणक, षष्ठी के दिन नेमिनाथ भगवान् का दीक्षा-कल्याणक, अष्टमी के दिन पारसनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक एवं पूर्णिमा के दिन मुनिसुव्रतस्वामी का च्यवन-कल्याणक आता है।

भाद्रपद कृष्ण पक्ष सप्तमी के दिन शांतिनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक तथा चंद्रप्रभु भगवान् का मोक्ष-कल्याणक एवं अष्टमी के दिन सुपार्श्वनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक आता है।

भाद्रपद शुक्ल पक्ष नवमी के दिन सुविधिनाथ भगवान् का मोक्ष-कल्याणक आता है।

आश्विन कृष्ण पक्ष त्रयोदशी के दिन वीर परमात्मा का गर्भापहार, त्रयोदशी के दिन नेमिनाथ भगवान् का ज्ञान-कल्याणक आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्विन शुक्ल पक्ष में पूर्णिमा के दिन नमिनाथ भगवान् का च्यवन-कल्याणक आता है।

परमात्मा के कल्याणक के समय नारकी के जीवों को भी मुहूर्तमात्र के लिए सुख की अनुभूति होती है, इस तरह विश्वत्रय का कल्याण करने वाला होने से इसे कल्याणक-तप कहा गया है। कल्याणक के दिनों में किस शुभ दिन कल्याणक-तप का प्रारंभ करते हैं। आगम-वचन के अनुसार जिन-जिन तिथियों में जिन-जिन परमात्मा का च्यवन, जन्म, दीक्षा, ज्ञान एवं निर्वाण-कल्याणक आते हैं, उस दिन एक कल्याणक हो, तो एक भक्त, दो कल्याणक हों, तो निर्विकृति, तीन कल्याणक हों, तो आयम्बिल तथा चार कल्याणक हों, तो उपवास करे। यदि एक साथ पाँच कल्याणक हों, तो प्रथम दिन उपवास करे तथा दूसरे दिन एक भक्त करे। इस प्रकार इस कल्याणक-तप में एक उपवास, दो आयंबिल, तेरह, नीवि और चौरासी एकासन होते हैं।

वर्ष भर इस प्रकार का तप करे- इस प्रकार सात वर्षों तक यह तप करे। सातवें वर्ष के अन्त में उद्यापन करे। उद्यापन में परमात्मा के आगे चौबीस की संख्या में स्नात्रपट, स्नात्रकलश, चन्दनपात्र, धूपदहनपात्र, वस्त्र, नैवेद्यपात्र, कुम्पिका आदि पूजा के उपकरण रखे तथा बृहत्स्नात्रविधि से परमात्मा की स्नात्रपूजा करे। सर्व प्रकार के पकवान तथा चौबीस जाति के विभिन्न फल चौबीस-चौबीस की संख्या में परमात्मा की प्रतिमा के समक्ष चढ़ाए। स्वर्णमय रत्नजटित चौबीस तिलक भी परमात्मा की प्रतिमा के समक्ष चढ़ाए, अर्थात् लगाए। साधुओं को अन्न, वस्त्र एवं पात्र दान दे तथा संघ की पूजा करे।

प्रकारान्तर से कल्याणक-तप की दूसरी विधि बताते हुए कहते है -

परमात्मा के च्यवन एवं जन्म-कल्याणक के दिन एक-एक उपवास करे तथा दीक्षा, ज्ञान एवं निर्वाण-कल्याणक के दिन जिस परमात्मा द्वारा जो तप किया है, वही तप एकान्तर उपवास के द्वारा करे। इसके उद्यापन की विधि पूर्व में बताए गए अनुसार ही है। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप के प्रभाव से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। यह तप साधु एवं श्रावक - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

कल्याणक-तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

तप	तिथि	कल्याणक-तप	प्रकारान्तर से तप
मास १.		कार्तिक वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	५	संभवनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप. २
नी.	१२	नेमिनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
	१२	पद्मप्रभु भगवान का जन्म-कल्याणक	उप. १
ए.	१३	पद्मप्रभु भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप. २
ए.	१५	वीर परमात्मा का मोक्ष-कल्याणक	उप. २
		कार्तिक सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	३	सुविधिनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप. २
ए.	१२	अरनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप. २
मास २.		मार्गशीर्ष वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	५	सुविधिनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप. १
ए.	६	सुविधिनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप. २
ए.	१०	वीर परमात्मा का दीक्षा-कल्याणक	उप. २
ए.	११	पद्मप्रभु भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
		मार्गशीर्ष सुदी (शुक्ल पक्ष)	
नी.	१०	अरनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप. १
	१०	अरनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
उ.	११	अरनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप. २
	११	नमिनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप. २
	११	मल्लिनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
	११	मल्लिनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.३
ए.	११	मल्लिनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.३
ए.	१४	संभवनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
ए.	१५	संभवनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
मास ३.		पौष वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	१०	पारसनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
ए.	११	पारसनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.३
ए.	१२	चंद्रप्रभु भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
ए.	१३	चंद्रप्रभु भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
ए.	१४	शीतलनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.२
		पौष सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	६	विमलनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.२
ए.	९	शांतिनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप	तिथि		प्रकारान्तर से तप
ए.	११	अजितनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.२
ए.	१४	अभिनंदन भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.२
ए.	१५	धर्मनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.२
मास ४.		माघ वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	६	पद्मप्रभु भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१
नी.	१२	शीतलनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
	१२	शीतलनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
ए.	१३	ऋषभदेव भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप.६
ए.	१५	श्रेयांसनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.२
		माघ सुदी (शुक्ल पक्ष)	
नी.	२	वासुपूज्य भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.१
	२	अभिनंदनस्वामी का जन्म-कल्याणक	उप.१
नी.	३	विमलनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
	३	धर्मनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
ए.	४	विमलनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
ए.	८	अजितनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
ए.	९	अजितनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
ए.	१२	अभिनंदन भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
ए.	१३	धर्मनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
मास ५.		फाल्गुन वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	६	सुपार्श्वनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.२
नी.	७	सुपार्श्वनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप.३०
	७	चंद्रप्रभु भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.२
ए.	९	सुविधिनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१
ए.	११	ऋषभदेव भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.३
नी.	१२	श्रेयांसनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
	१२	मुनि सुव्रतस्वामी का ज्ञान-कल्याणक	उप.२
ए.	१३	श्रेयांसनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
ए.	१४	वासुपूज्य भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
ए.	१५	वासुपूज्य भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.१
		फाल्गुन सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	२	अरनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१
ए.	४	मल्लिनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१
ए.	८	संभवनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१
नी.	१२	मल्लिनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप.३०
	१२	मुनिसुव्रतस्वामी का दीक्षा-कल्याणक	उप.२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप	तिथि		प्रकारान्तर से तप
मास ६.		चैत्र वदि (कृष्ण पक्ष)	
नी.	४	पारसनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१
	४	पारसनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप.३
ए.	५	चंद्रप्रभु भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१
नी.	८	ऋषभदेव भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
	८	ऋषभदेव भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
		चैत्र सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	३	कुंथुनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप. २
आं.	५	संभवनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
	५	अनंतनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
	५	अजितनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
ए.	६	सुमतिनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
ए.	११	सुमतिनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप. २
ए.	१३	महावीर स्वामी का जन्म-कल्याणक	उप. १
ए.	१५	पद्मप्रभु भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप. २
मास ७.		वैशाख वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	१	कुंथुनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
ए.	२	शीतलनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
ए.	५	कुंथुनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप. २
ए.	६	शीतलनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
ए.	१०	नमिनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप. ३०
ए.	१३	अनंतनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप. १
आं.	१४	अनंतनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप. २
	१४	अनंतनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप. २
	१४	कुंथुनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप. १
		वैशाख सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	४	अभिनंदनस्वामी का च्यवन-कल्याणक	उप. १
ए.	७	धर्मनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
नी.	८	अभिनंदनस्वामी का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
	८	सुमतिनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप. १
ए.	९	सुमतिनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप. १
ए.	१०	वीर परमात्मा का ज्ञान-कल्याणक	उप. २
ए.	१२	विमलनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
ए.	१३	अजितनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
मास ८.		ज्येष्ठ वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	६	श्रेयांसनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप	तिथि		प्रकारान्तर से तप
ए.	८	मुनिसुव्रतस्वामी का जन्म-कल्याणक	उप. १
ए.	९	मुनिसुव्रतस्वामी का मोक्ष-कल्याणक	उप.३०
नी.	१३	शांतिनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप. १
	१३	शांतिनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप.३०
ए.	१४	शांतिनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप.२
		ज्येष्ठ सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	५	धर्मनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप.३०
ए.	९	वासुपूज्य भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
ए.	१२	सुपार्श्वनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
ए.	१३	सुपार्श्वनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप. २
मास ९.		आषाढ़ वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	४	ऋषभदेव भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१
ए.	७	विमलनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप.३०
ए.	९	नमिनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप. २
		आषाढ़ सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	६	वीर परमात्मा का च्यवन-कल्याणक	उप. १
ए.	८	नेमिनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
ए.	१४	वासुपूज्य भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
मास १०.		श्रावण वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	३	श्रेयांसनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप.३०
ए.	७	अनंतनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
ए.	८	नमिनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप.१
ए.	९	कुंथुनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
		श्रावण सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	२	सुमतिनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
ए.	५	नेमिनाथ भगवान का जन्म-कल्याणक	उप. १
ए.	६	नेमिनाथ भगवान का दीक्षा-कल्याणक	उप. २
ए.	८	पारसनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप.३०
ए.	१५	मुनिसुव्रतस्वामी का च्यवन-कल्याणक	उप. १
मास ११.		भाद्रपद वदि (कृष्ण पक्ष)	
नी.	७	शांतिनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१
	७	चंद्रप्रभु भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. १
ए.	८	सुपार्श्वनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप. १
		भाद्रपद सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	९	सुविधिनाथ भगवान का मोक्ष-कल्याणक	उप. ३०
मास १२.		आश्विन वदि (कृष्ण पक्ष)	
ए.	१३	वीर परमात्मा का गर्भापहार कल्याणक	उप. ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप	तिथि		प्रकारान्तर से तप
ए.	१५	नेमिनाथ भगवान का ज्ञान-कल्याणक	उप. ३
		आश्विन सुदी (शुक्ल पक्ष)	
ए.	१५	नमिनाथ भगवान का च्यवन-कल्याणक	उप.१

१२. ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र-तप विधि -

अब ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र-तप में सर्वप्रथम ज्ञान-तप की विधि बताते हैं, वह इस प्रकार है -

"एकान्तरोपवासैश्च त्रिभिर्वापि निरन्तरैः।
कार्यं ज्ञान तपश्चोद्यापने ज्ञानस्य पूजनम्।।"

ज्ञान की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, उसे ज्ञान-तप कहते हैं। इस तप में निरन्तर अथवा एकान्तर से तीन उपवास करे। इस तप के उद्यापन में साधुओं को वस्त्र, अन्न एवं पात्र का दान करे - यह आगाढ़-तप साधुओं एवं श्रावक - दोनों के करने योग्य है।

दर्शन-तप की विधि - इस तप की विधि ज्ञान-तप की भाँति ही है। इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि से परमात्मा का स्नात्र करे। जिन-प्रतिमा के आगे छहों विगयों के पकवान आदि रखे। मुनिराजों को वस्त्र, अन्न, एवं पात्र का दान दे। समकित की छः भावनाओं का श्रवण करे। यह तप करने से निर्मल बोधि का लाभ होता है। यह साधुओं एवं श्रावक - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है।

चारित्र-तप की विधि - चारित्र-तप की विधि भी ज्ञान-तप की भाँति ही है। इस तप के उद्यापन में यतियों को (साधुओं को) षड्विकृतियों से युक्त पदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि का दान दे।

इस तप को करने से निर्मल चारित्र की प्राप्ति होती है। यह तप साधु एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

इन तीनों तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप, कुल दिन ३-३-३										
ज्ञान	उपवास	उपवास	उपवास	अथवा	उपवास	पारणा	उपवास	पारणा	उपवास	पारणा
दर्शन	उपवास	उपवास	उपवास	अथवा	उपवास	पारणा	उपवास	पारणा	उपवास	पारणा
चारित्र	उपवास	उपवास	उपवास	अथवा	उपवास	पारणा	उपवास	पारणा	उपवास	पारणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. चान्द्रायण-तप विधि -

अब चान्द्रायण-तप की विधि बताते हैं -

"चान्द्रायणं च द्विविधं प्रथमं यवमध्यकम् ।
द्वितीयं वज्रमध्यं तु तपोश्चर्या विधीयते ।।१।।
यवमध्ये प्रतिपदं शुक्लामारभ्य वृद्धितः।
एकैकयोग्रासदत्त्यो राकां यावत्समानयेत् ।।२।।
ततः कृष्ण प्रतिपदमारभ्यैकैक हानितः।
अमावस्यां तदेकत्वे यवमध्यं च पूर्यते ।।३।।
वज्रमध्ये कृष्ण पक्षमारभ्य प्रतिपत्तिथि ।
कार्या पंचदशग्रासदत्तिभ्यां हानिरेकतः।।४।।
अमावास्याश्च परतो ग्रासदत्तिं विवर्धयेत्।
यावत्पंचदशैव स्युः पूर्णमास्यां च मासतः।।५।।
एवं मासद्वयेन् स्यात्पूर्णं च यववज्रकम्।
चांद्रायणं यतेर्दत्तेः संख्या ग्रासस्य देहिनाम्।।६।।"

इस तप में चंद्रमा की तरह हानि एवं वृद्धि होने के कारण इस तप को चांद्रायण-तप कहते हैं।

यह तप दो प्रकार का है -

१. यव की तरह जिसका मध्यभाग स्थूल हो तथा आदि और अंत का भाग पतला हो, वह यवमध्य कहलाता है तथा २. वज्र की तरह जो बीच में पतला हो तथा आदि और अंत में स्थूल हो, वह वज्रमध्य कहलाता है। यहाँ स्थूलता और हीनता के कारण दत्ति या ग्रास की बहुलता या अल्पता जानना चाहिए। पहला यवमध्य चान्द्रायण-तप इस प्रकार से करे -

यह तप शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को प्रारम्भ करे। प्रतिपदा के दिन एक, द्वितीया के दिन दो - इस प्रकार मुनि एक-एक दत्ति तथा श्रावक एक-एक कवल (ग्रास) की वृद्धि कर पूर्णिमा के दिन पन्द्रह दत्ति, अथवा पन्द्रह कवल (ग्रास) ले। तत्पश्चात् कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को पंद्रह, द्वितीया को चौदह - इस तरह एक-एक दत्ति, अथवा कवल (ग्रास) कम करता हुआ अमावस्या को एक दत्ति या एक कवल ग्रहण करे - यह यवमध्य चांद्रायण-तप कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वज्रमध्य चांद्रायण-तप -

वज्रमध्य चांद्रायण-तप साधु और श्रावक - दोनों को इस प्रकार से करना चाहिए।

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को पन्द्रह ग्रास तथा दत्ति से आरम्भ करके एक-एक दत्ति तथा कवल कम करने से अमावस्या के दिन एक ग्रास या एक दत्ति रह जाती है, तत्पश्चात् शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक ग्रास या दत्ति से प्रारम्भ कर एक-एक दत्ति या कवल बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास या पन्द्रह दत्ति होती है। इस प्रकार वज्रमध्य चांद्रायण-तप भी एक माह में पूरा होता है। इस तरह यवमध्य एवं वज्रमध्य चांद्रायण-तप दो मास में पूर्ण होता है।

उद्यापन में जिनप्रतिमा को बृहत्स्नात्रविधि से स्नात्र कराकर छहों विगयों के नैवेद्य सहित चंद्रमा की चांदी की मूर्ति, सोने का व्रज, सोने के साठ कवल तथा ४८० मोदक जिनप्रतिमा (परमात्मा) के आगे रखे। मुनिजनों को वस्त्र, पात्र एवं अन्न आदि का दान दे तथा संघ की भक्ति करे। यह तप करने से सब पापों का क्षय तथा पुण्य की वृद्धि होती है। दोनों प्रकार का यह तप साधु तथा श्रावक के करने योग्य आगाढ़-तप है।

इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

यवमध्य चान्द्रायण-तप शुक्लपक्ष में वृद्धि															
शुक्ल पक्ष	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
	क.या दत्ति	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.

यवमध्य चांद्रायण-तप कृष्णपक्ष में हानि															
१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१	कृष्णपक्ष
क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	

वज्रमध्य चांद्रायण-तप कृष्णपक्ष में हानि															
कृष्ण पक्ष	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
	क. दत्ति	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वज्रमध्य चांद्रायण-तप शुक्लपक्ष में वृद्धि															
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	शुक्लपक्ष
क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	क.	

१४. वर्धमान-तप -

अब वर्धमान-तप की विधि बताते है -

"ऋषभादेर्जिनसंख्यावृद्धया तावंति चैकभक्तानि।
वीरदेराप्येवं वलमानं वर्धमान तपः।।१।।
अथ चैकेकमर्हन्तं प्रत्येकाशनकानि च।
पंचविंशति संख्यानि षट्शताहेन पूर्यते ।।२।।"

जिसकी वृद्धि हो, वह वर्धमान-तप कहलाता है। इस तप की विधि इस प्रकार है-

प्रथम श्री ऋषभदेवस्वामी के निमित्त एकभक्त करे। श्री अजितनाथस्वामी के निमित्त दो एकभक्त करे। इस तरह बढ़ते-बढ़ते श्री महावीरस्वामी के निमित्त चौबीस एकभक्त करे। इसके पश्चात् पश्चानुपूर्वी द्वारा श्री महावीरस्वामी के निमित्त एक एकभक्त श्री पार्श्वनाथस्वामी के निमित्त दो एकभक्त - इस तरह बढ़ते-बढ़ते श्री ऋषभदेवस्वामी के निमित्त चौबीस एकभक्त करे, अर्थात् एक-एक भगवंत के निमित्त कुल पच्चीस-पच्चीस एकभक्त होते हैं, अथवा एक साथ हर एक भगवंत के निमित्त पच्चीस-पच्चीस एकभक्त करे - यह दूसरी विधि है। इस प्रकार दोनों ही विधि में यह तप कुल छः सौ दिनों में पूर्ण होता है। इस तप को करने वाले इन दोनों विधियों में से किसी भी एक विधि द्वारा ६०० दिनों में यह तप पूर्ण करे।[1]

उद्यापन में चौबीस जिनेश्वरों की बृहत्स्नात्रविधि से स्नात्रपूजा करें तथा परमात्मा के सम्मुख चौबीस-चौबीस पुष्प, फल, पकवान आदि चढाए। संघ की भक्ति करे, अर्थात् साधर्मीवात्सल्य करे। यह

[1] ग्रन्थकार नें इस तप के कुल दिन ६२५ बताए थे, जबकि चौबीस तीर्थंकरों के प्रत्येक के २५-२५ एकभक्त करे, तो कुलदिन 24 x 25 = 600 ही होते हैं, अतः इस तप के कुलदिन ६०० ही होने चाहिए.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप करने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। यह साधु एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है।

वर्धमान-तप दिन - ६००, एक-एक जिन के २५ एकभक्त, कुलदिन - ६००																							
ऋषभ	अ.	सं.	अ.	सु.	प.	सु.	च.	सु.	शी	श्रे.	वा.	वि.	अ.	ध.	शां.	कुं.	अ.	म.	मु.	न.	ने.	पा.	वर्ध.
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.
वर्धमान	पा.	ने.	न.	मु.	म.	अ.	कुं.	शां.	ध.	अ.	वि.	वा.	श्रे.	शी.	सु.	चं.	सु.	प.	सु.	अ.	सं.	अ.	ऋष.
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.
२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५
ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.

१५. परमभूषण-तप -

अब परमभूषण-तप की विधि बताते हैं -

"शुभैर्द्वात्रिंशदाचाम्लैरेकभक्तैः तदान्तरे।

वासराणां चतुष्षष्टया, तपः परमभूषणं ।।१।।"

इस तप के करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्रादिक उत्कृष्ट आभूषण प्राप्त होते हैं, इसलिए इसे परमभूषण-तप कहते हैं।

इस तप में बत्तीस आयम्बिल एकासन के अन्तराल से करे। यह तप चौसठ दिनों में पूर्ण होता है।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि से परमात्मा की पूजा कर परमात्मा को स्वर्णमय रत्नजटित सभी आभूषण चढ़ाए तथा बत्तीस-बत्तीस पकवान एवं फल चढ़ाए। इस तप के करने से परम संपत्ति तथा गुण की प्राप्ति होती है।

यह साधु एवं श्रावक - दोनों के करने योग्य अनागाढ़-तप है।

इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमभूषण-तप, कुलदिन - ६४															
आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.
आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.
आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.
आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.	आं.	ए.

१६. जिनदीक्षा-तप-विधि -

अब जिनदीक्षा-तप की विधि बताते है -

"दीक्षातपसि चार्हद्भिर्येनैव तपसां व्रतं।
जगृहे तत्तथा कार्यमेकान्तरित युक्तितः।।१।।"

जिनेश्वरों का दीक्षाकालीन-तप - सुमतिनाथ प्रभु एकासन, वासुपूज्यस्वामी चतुर्थभक्त, पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ, अट्ठमतप तथा शेष तीर्थंकर छट्ठतप करके दीक्षित हुए।

यह अरिहंत परमात्माओं का दीक्षा-तप का अनुसरण करने वाला होने से दीक्षा-तप कहलाता है। सुमतिनाथस्वामी ने एकभक्त करके दीक्षा ली, इसलिए उस निमित्त से एकभक्त करे, वासुपूज्यस्वामी ने उपवास करके दीक्षा ली, इसलिए दीक्षा-कल्याणक के निमित्त उपवास करे, पार्श्वनाथ तथा मल्लिनाथ भगवान ने अट्ठम करके दीक्षा ली, इसलिए उनके दीक्षा-कल्याणक के निमित्त एक-एक अट्ठम (निरन्तर तीन उपवास) करे। शेष बीस तीर्थंकरों ने छट्ठ (निरन्तर दो उपवास) करके दीक्षा ली, इसलिए उनके दीक्षा-कल्याणकों के निमित्त एक-एक छट्ठभक्त (निरन्तर दो उपवास) करे।

प्रत्येक परमात्मा के दीक्षातप के अंतर में एकभक्त करे।

इस तप के उद्यापन में एकभक्त करके बृहत्स्नात्रविधि से परमात्मा की स्नात्र एवं अष्टप्रकारी पूजा करे तथा षट्विकृतियों से युक्त नैवेद्य चढाए। इस तप के करने से निर्मल व्रत की प्राप्ति होती है। यह साधु एवं श्रावकों के करने योग्य अनागाढ़-तप है।

इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीक्षातप अनागाढ़, दिन-७२																													
ऋषभ		अ.		स.		अ.		सु.		प.		सु.		चं.		सु.		शी.		श्रे.		वासु.	
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	ए.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
२	१	२	१	२	१	२	१	१	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	१	१
वि.		अ.		ध.		शां.		कुं.		अ.		म.		मु.		न.		ने.		पा.		वर्ध.	
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	३	१	२	१	२	१	२	१	३	१	२	१

१७. ज्ञान-तप -

अब ज्ञान-तप की विधि बताते हैं -

"येन तीर्थकृता येन तपसा ज्ञानमाप्यते।

तत्तत्तथा विधेयं स्यादेकान्तरिवृत्तितः।।१।।"

जिनेश्वरों का केवलज्ञानकालीन तप -

ऋषभदेव, मल्लिनाथ, पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ भगवान को अष्टमभक्त (लगातार तीन उपवास) के बाद, वासुपूज्य भगवान को चतुर्थभक्त के पश्चात् तथा शेष उन्नीस तीर्थंकरों को छट्ठभक्त के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

ज्ञान से उपलक्षित होने के कारण इस तप को ज्ञान-तप कहते हैं।

आदिनाथ, मल्लिनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ भगवान ने अट्ठमतप के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया, इसलिए उनके ज्ञानतप के निमित्त चार अट्ठम करे। वासुपूज्य-स्वामी को एक उपवास से केवलज्ञान हुआ, इसलिए उनके ज्ञानतप के निमित्त एक उपवास करे। शेष उन्नीस तीर्थंकरों को छट्ठभक्त से केवलज्ञान हुआ, इसलिए उनके ज्ञानतप के निमित्त उन्नीस छट्ठ भक्त करे। चौबीस तीर्थंकरों के ज्ञानतप के अंतर में एकभक्त करे।

इस तप का उद्यापन दीक्षातप की भाँति ही करे। इस तप के फल से विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह साधु एवं श्रावकों - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

केवलज्ञानतप, अनागाढ़, दिन - ७५																							
ऋषभ.		अ.		सं.		अ.		सु.		प.		सु.		चं.		सु.		शी.		श्रे.		वा.	
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
३	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	१	१
वि.		अं.		ध.		शां.		कुं.		अ.		म.		मु.		न.		मे.		पा.		वर्ध.	
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	२	१	३	१	२	१	२	१	३	१	३	१	२	१

१८. निर्वाण-तप -

अब निर्वाण-तप की विधि बताते हैं -

"येन तीर्थंकृता येन तपसा मुक्तिराप्यते।
तत्तत्तथा विधेयं स्यादेकान्तरितवृत्तितः।।१।।"

जिनेश्वरों का निर्वाणकालीन-तप -

ऋषभदेव ने चौदहभक्त (निरन्तर छः उपवास) के बाद, वीरजिन ने छट्ठभक्त (निरन्तर दो उपवास) के पश्चात् एवं शेष बाईस जिनों ने तीस उपवास के पश्चात् निर्वाण को प्राप्त किया।

निर्वाण से उपलक्षित होने के करण इस तप को निर्वाणतप कहते है। आदिनाथ भगवान ने छः उपवास कर मुक्ति प्राप्त की, महावीरस्वामी ने छट्ठभक्त तप द्वारा मुक्ति प्राप्त की एवं शेष तीर्थंकरों ने एक माह के उपवास द्वारा मुक्ति प्राप्त की - इन सब तप के उपवास एकान्तर एकासन से करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रपूर्वक जिन प्रतिमा के समक्ष चौबीस-चौबीस सर्व प्रकार के फल, नैवेद्य आदि चढाए। साधुओं की भक्ति एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से आठ भव में मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह तप साधु एवं श्रावक के करने योग्य अनागाढ़-तप है।

इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्वाणतप, अनागाढ़, दिन - ६९																							
ऋ.		अ.		सं.		अ.		सु.		प.		सु.		चं.		सु.		शी.		श्रे.		वा.	
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
६	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१
वि.		अं.		ध.		शा.		कु.		अ.		म.		म.		न.		ने.		पा.		वर्धमान	
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	३०	१	२	१

दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण-तप का कल्याणक-तप में समावेश होता है, परन्तु उसमें इतना विशेष है कि - कल्याणक का तप आगाढ़ होने से कल्याणक के दिनों का स्पर्श करके ही किया जाता है और ये तीन तप अनागाढ़ होने से तप की संख्या से, अर्थात् यथा अवसर किए जाते हैं। एक ही दिन च्यवन और जन्म-कल्याणक हो, तो उपवास से कल्याणक-तप करने वाला एक कल्याणक की आराधना कर दूसरे कल्याणक की आराधना दूसरे वर्ष उस दिन करता है और एकासन, अथवा आयंबिल से कल्याणक-तप करने वाला एक तीर्थंकर के या दो तीर्थंकर के कल्याणक की आराधना कर बाकी रही आराधना दूसरे वर्ष उसी दिन करता है। इसके लिए कोई नियम नही है कि एक साथ ही वह इन दोनों कल्याणक की आराधना करे। दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण - इन तीन कल्याणकों में भी तीन दिन की आराधना करके ही पारणा करते हैं। एक दिन की आराधना करके यह तप नहीं कर सकते हैं। एकान्तर उपवास के द्वारा यह तप करे।

१९. ऊनोदरिका-तप -

अब ऊनोदरिका-तप की विधि बताते हैं। यह ऊनोदरिका-तप पाँच प्रकार से किया जाता है। आगम में यह तप पाँच प्रकार का बताया गया है -

अप्पाहारा अवड्ढा दुभाग पत्ता तहेव देसूणा।
अट्ठ दुवालस सोलस चउवीस तहिक्कतीसा या।।

नियत प्रमाण से कम भोजन करने के कारण, अर्थात् उदर में जितनी भूख हो, उससे कम भोजन करने को ऊनोदरिका-तप कहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अब इन तपों से सम्बन्धित संख्या का विवेचन करते हैं, वह इस प्रकार है -

अल्पाहार - एक से आठ कवल तक आहार करना, अल्पाहार कहलाता है।

अपार्धा - नौ से बारह कवल तक आहार करना, अपार्धा कहलाता है।

द्विभागा - तेरह से सोलह कवल तक आहार करना, द्विभागा कहलाता है।

प्राप्ता - सत्तरह से चौबीस कवल तक आहार करना प्राप्ता कहलाता है।

किंचिदूना - पच्चीस से एकतीस कवल तक आहार करना किंचिदूना कहलाता है।

ये पाँचों ऊनोदरिका तीन-तीन तरह की है, जो इस प्रकार हैं-

एकादि कवल द्वारा जघन्य, दो आदि कवल से मध्यम और आठ आदि कवल से उत्कृष्ट - इस प्रकार से पाँचों तरह की ऊनोदरिका को समझना चाहिए। इसमें अल्पाहार-ऊनोदरिका एक ग्रास से जघन्य, दो, तीन, चार और पाँच ग्रास से मध्यम और छः, सात और आठ ग्रास से उत्कृष्ट जानना चाहिए। अपार्धा-ऊनोदरिका नौ ग्रास से जघन्य, दस और ग्यारह ग्रास से मध्यम और बारह ग्रास से उत्कृष्ट जाननी चाहिए। द्विभागा-ऊनोदरिका तेरह ग्रास से जघन्य, चौदह तथा पन्द्रह ग्रास से मध्यम और सोलह ग्रास से उत्कृष्ट समझनी चाहिए। प्राप्ता-ऊनोदरिका सत्तरह और अठारह ग्रास से जघन्य, उन्नीस, बीस, इक्कीस और बाईस ग्रास से मध्यम और तेईस या चौबीस ग्रास से उत्कृष्ट जाननी चाहिए। किंचिदूना-ऊनोदरिका पच्चीस और छब्बीस ग्रास से जघन्य, सत्ताईस, अट्ठाईस तथा उनतीस ग्रास से मध्यम तथा तीस एवं एकतीस ग्रास से उत्कृष्ट जाननी चाहिए। पुरुषों का आहार बत्तीस ग्रास का होता है, इसलिए एकतीस ग्रास तक किंचिदूना-ऊनोदरिका होती है। इस प्रकार पाँचों प्रकार की ऊनोदरिका पन्द्रह दिन में समाप्त होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रियों का आहार अट्ठाईस कवल का होता है, इसलिए उनके लिए पाँच प्रकार की ऊनोदरिका इस प्रकार समझनी चाहिए -

एक से सात ग्रास तक अल्पाहारा, आठ से ग्यारह ग्रास तक अपार्धा, बारह से चौदह ग्रास तक द्विभागा, पन्द्रह से इक्कीस ग्रास तक प्राप्ता, तथा बाईस से सत्ताईस ग्रास तक किंचिदूना-ऊनोदरिका - ये पाँचों भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट - इन तीन भेदों से इस प्रकार हैं- १. अल्पाहार-ऊनोदरिका-एक तथा दो ग्रास से जघन्य; तीन, चार तथा पाँच ग्रास से मध्यम और छः तथा सात ग्रास से उत्कृष्ट। २. अपार्धा-ऊनोदरिका - आठ ग्रास से जघन्य, नौ ग्रास से मध्यम और दस तथा ग्यारह ग्रास से उत्कृष्ट। ३. द्विभागा-ऊनोदरिका-बारह ग्रास से जघन्य, तेरह ग्रास से मध्यम और चौदह ग्रास से उत्कृष्ट। ४. प्राप्ता-ऊनोदरिका-पंद्रह तथा सोलह ग्रास से जघन्य, सत्तरह, अठारह एवं उन्नीस ग्रास से मध्यम और बीस एवं इक्कीस ग्रास से उत्कृष्ट तथा ५. किंचिदूना-ऊनोदरिका-बाईस और तेईस ग्रास से जघन्य, चौबीस एवं पच्चीस ग्रास से मध्यम तथा छब्बीस एवं सत्ताईस ग्रास से उत्कृष्ट समझनी चाहिए। इस प्रकार पन्द्रह दिन में यह तप पूरा होता है। यह द्रव्य-ऊनोदरिका है।

भाव-ऊनोदरिका आगम में इस प्रकार बताई गई है -

"कोहाइ अणुदिणं चाओ जिणवयण भावणाओ अ।
भावोणोदरिया वि हु पन्नत्ता वीयराहिं।।१।।"

अर्थात् निरंतर क्रोधादि का त्याग करना तथा जिनेश्वर के वचनों की भावना भाना - यह भाव-ऊनोदरिका है, जो वीतराग ने बताई है।

लोकप्रवाह-ऊनोदरिका इस प्रकार है- प्रथम दिन आठ कवल, दूसरे दिन बारह , तीसरे दिन सोलह, चौथे दिन चौबीस तथा पाँचवें दिन एकतीस ग्रास लेने चाहिए। स्त्रियों को प्रथम दिन सात, दूसरे दिन ग्यारह, तीसरे दिन चौदह, चौथे दिन इक्कीस तथा पाँचवें दिन सत्ताईस ग्रास लेना चाहिए। इस प्रकार यह तप पाँच दिन में पूरा होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम में ज्ञानादिकत्रिक-ऊनोदरिका का परिमाण बताया गया है। वह इस प्रकार है -

"नवचउसट्ठीपणवीससोलनवछसय सट्ठि तह सोल।
चउसट्ठी चउसट्ठी तीसा चउसय असीअहिआ।।१।।
अडयालइक्कवण्णा छसयाअडसमाहिया पंच।
नाणतिगाई ऊणोदरं तु तवदिणप्रमाणमिणं।।२।।"

इस तप के उद्यापन में परमात्मा की अष्टप्रकारी पूजा साधर्मिकवात्सल्य एवं संघ की पूजा करे। इस तप के करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह तप साधु एवं श्रावक - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है। ऊनोदरिका-तप का यंत्र इस प्रकार है -

पुरुष ऊनोदरिका तप आगाढ ग्रास		जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट ग्रास	लोक प्रवाहोनोदरी-तप		स्त्रियों का ऊनोदरिका तप आगाढ़		ज.म.उ. ग्रास	स्त्रियाँ	लोक-प्रवाह उनोद-रिका
अल्पा.	१/२/३/४/५/६/७/८	ज. १ म.२/३/४/५उ.६/७/८	प्रथम दिन	कवल ८	१/२/३/४/५/६/७	अल्पा.	ज. १/२ म. ३/४/५ उ. ६ /७	प्रथम दिन	कवल ७
अपार्धा	९/१०/११/१२	ज. ९ म. १०/११ उ./१२	द्वितीय दिन	कवल १२	८/९/१०/११	अपार्धा	ज. ८ म. ९ उ. १० /११	द्वितीय दिन	कवल ११
द्विभागा	१३/१४/१५/१६	ज.१३ म.१४ उ.१५/१६	तृतीय दिन	कवल १६	१२/१३/१४	द्विभागा	ज. १२ म. १३ उ. १४	तृतीय दिन	कवल १४
प्राप्ता	१७/१८/१९/२०/२१/२२/२३/२४	ज.१७/१८ म.१९/२० /२१/२२ उ.२३/२४	चतुर्थ दिन	कवल १४	१५/१६/१७/१८/१९/२०/ २१	प्राप्ता	ज. १५/१६ म. १७/१८/१९ उ. २०/२१	चतुर्थ दिन	२१
किंचि-दूना	२५/२६/२७/२८/२९/३०/३१	ज.२५/२६ म.२७/२८ /२९ उ. ३०/३१	पंचम दिन	कवल ३१	२२/२३/२४/२५/२६/२७	किंचि-दूना	ज. २२/२३ म. २४/२५ उ. २६/२७	पंचम दिन	२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०. संलेखना-तप -

अब संलेखना-तप की विधि बताते हैं -

प्रथम चार वर्ष विचित्र तप करे। तत्पश्चात् दूसरे चार वर्ष एकान्तर नीवि से पूर्ववत् उपवास करे। इसके बाद दो वर्ष तक एकान्तर नीवि से आयंबिल करे। इसके बाद छः मास तक उपवास तथा छट्ठ परिमित भोजन वाले आयंबिल के अंतर से करे। इसके बाद छः मास तक आयंबिल के अंतर से चार-चार उपवास करे। इसके पश्चात् एक वर्ष तक आयंबिल करे। इस प्रकार बारह वर्ष में यह तप सम्पूर्ण होता है।

किए गए सभी भावों का सम्यक् प्रकार से लेखन (स्मरण) करके उन पापों का तप द्वारा विशोधन करना संलेखना-तप कहलाता है। इस तप के करने से सद्गति की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

संलेखना-तप आगाढ़ इस तप में उपुर्यक्त कहे गए अनुसार १२ वर्ष
वर्ष ४ यावत् उ.२/ए./उ.३/ए./उ.४/ए/उ.५/ए./उ.६/ए./उ.१५/ए./उ.३०/ए./पूरण
वर्ष ४ यावत् उ.२/नी./उ.३/नी/उ.४/नी./उ.५/नी./उ.६/नी./उ.१५/नी./उ.३०/नी.
वर्ष २ यावत् नी/आं./नी./आं./इत्यादि पूरण
मास ६ यावत् उ.१/आं./उ.२/आं./उ.१/आं./ पूरणीया
मास ६ यावत् उ.४/आं./उ.४/आं./पूरणीया
वर्ष १ यावत् / आयम्बिल करे

२१. सर्वसंख्या श्री महावीर-तप -

अब सर्वसंख्या श्री महावीर-तप की विधि बताते हैं। महावीर स्वामी द्वारा यह तप किया जाने के कारण इस तप को महावीर-तप कहते हैं, वह इस प्रकार है -

"नवकिर चाउम्मासे छक्किर दो मासिए उवासीअ।
बारस य मासिआई बावत्तरिअद्धमासाइं।।१।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इक्कं किर छम्मासं दो किर तेमासिए उवासीय।
अट्ठाइज्जाइं दुवे दो चेव दुविट्ठमासाई ।।२।।
भद्दं च महाभद्दं पडिमं तत्तो अ सव्वओ भद्दं।
दो चत्तारि दसेव य दिवसे ठासी अ अणुबद्धं।।३।।
गोअरमभिग्गहजुअं खमणं छम्मासियं च कासी य।
पंचदिवसेहिं ऊणं अव्वहिओ वच्छनयरीए।।४।।
दसदोअकिरणमहप्पा छाइमुणी एगराइअं पडिमा।
अट्ठमभत्तेण जई इक्किकं चरमरयणीयं।।५।।
दो चेव य छट्ठ सए अउणातीसे उवासिओ भयवं।
कायाइ निच्चभत्तं चउत्थ भत्तं च से आसि।।६।।
तिण्णिसए दिवसाणं अउणा पण्णे उ पारणा कालो।
उक्कुडुअरिसिब्भाणं पि अ पडिमाणं सए बहुए।।७।।
सव्वंपि तवोकम्मं अप्पाणयं आसि वीरनाहस्स।
पवज्जाए दिवसे पढ़मे खित्तंमि सव्वमिणं।।८।।
बारस चेव य वासा मासा छच्चेव अद्धमासो अ ।
वीरस्स भगवओ एसो छउमत्थ परियाओ।।९।।"

भावार्थ -

श्री महावीरस्वामी प्रभु ने छद्मस्थावस्था में साढ़े बारह वर्ष तपस्या की। उन्होंने जो तपस्या की वह इस प्रकार है -

नौ चतुर्मासी तप, छः दो मासी तप, बारह मासक्षमण, बहत्तर पक्षक्षमण, एक छः मासी तप, दो त्रैमासिक तप, दो ढाईमासी तप, दो डेढ़मासी तप, दो दिन की भद्र-प्रतिमा, चार दिन की महाभद्र-प्रतिमा, दस दिन की सर्वतोभद्र-प्रतिमा, वत्सनगरी में गोचरी के अभिग्रहपूर्वक पाँच दिन कम किया गया छःमासी तप, बारह अष्टमभक्त तथा उन बारह अष्टमभक्तों की अन्तिम रात्रि में ध्यानपूर्वक प्रतिमा का वहन एवं २२९ षष्ठभक्त, अर्थात् निरन्तर दो-दो उपवास किए।

भगवान ने कभी नित्य आहार किया, तो कभी उपवास भी किए। साढ़े बारह वर्ष एवं पन्द्रह दिन के इस काल में भगवान ने ३४९ दिन पारण, अर्थात् भोजन ग्रहण किया। इसी काल में भगवान ने अनेक बार उत्कट प्रतिमाएँ भी धारण की। भगवान का सम्पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपकर्म निर्जल ही था। प्रव्रज्या के प्रथम दिन से लेकर भगवान की छद्मस्थपर्याय १२ वर्ष ६ महीने और पन्द्रह दिन रही। उसके बाद वीर परमात्मा ने केवलज्ञान प्राप्त किया। मूलग्रन्थ में पुनः इसी विषय की चर्चा करते हुए (प्राकृत एवं संस्कृत में) महावीरस्वामी द्वारा किए गए तपों का उल्लेख किया गया है। मुनि या श्रावक यह तप यथाशक्ति एकान्तर उपवास से करे। शक्ति न हो, तो इन तपों में से कोई भी तप यथाशक्ति तथा काल के अनुसार करे।

इस तप के उद्यापन में महावीरप्रभु की बृहत्स्नात्रविधि से अष्टप्रकारी पूजा करे। छहों विगयों से युक्त पकवान एवं फल आदि परमात्मा के आगे रखे। साधर्मिक-वात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से तीर्थंकर-नामकर्म का बंध होता है। यह तप साधु एवं श्रावक - दोनों को करने योग्य अनागाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

सर्व संख्या श्री महावीर-तप, अनागाढ़							
उ.	१०८०	उ.	६०	उ.	१२०	उ.	३४८
उ.	३६०	उ.	६०	उ.	१२०	उ.	१६
उ.	४५	उ.	६०	उ.	१२०	उ.	१
उ.	४५	उ.	६०	उ.	१२०	(कुल दिन)	
उ.	७५	उ.	६०	उ.	१२०	१५ वर्ष,	
उ.	७५	उ.	१२०	उ.	१८०	१२ मास,	
उ.	६०	उ.	१२०	उ.	१७५	६ दिन,	
उ.	६०	उ.	१२०	उ.	४५८	१५ एकान्तरै	
उ.	६०	उ.	१२०	उ.	३६	पूर्यते इति।	

७२	पक्ष क्षमण
१२	मास क्षमण
२	मास १.१५
२	मास २.१५
६	द्विमासिकी
२	त्रैमासिकी
२२६	छट्ठ भक्त
६	चातुर्मासिकी
१२	अट्ठम भक्त
१	षण्मासिकी
१	५ दिन कम षण्मासिकी
१६	भद्रप्रतिमाएँ
१	व्रत दिन
३४६	पारणा
सर्व संख्या तप : १२ वर्ष ६ मास १५ दिन	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. कनकावली-तप -

अब कनकावली-तप की विधि बताते हैं -

"तपसः कनकावल्याः, काहलादाडिमे अपि।
लता च पदकं चान्त्यलता दाडिमकाहले।।१।।
एक द्वित्र्युपवासतः प्रगुणितं, संपूरिते काहले,
तत्राष्टाष्टमितैश्च षष्ठकरणैः संपादयेद्दाडिमे।
एकाद्यैः खलु षोडशांशगणितैः श्रेणी उभे युक्तितः,
षष्ठैस्तैः कनकावलौ किल चतुस्त्रिंशन्मितैर्नायकः।।२।।"

तपस्वियों के हृदय पर शोभायमान होने से यह कनकावली-तप कहलाता है। इसमें प्रथम उपवास कर पारणा करे, तत्पश्चात् निरन्तर दो उपवास करके पारणा करे, फिर निरन्तर तीन उपवास कर पारणा करे। इस तरह एक काहलिका पूर्ण होती है। इसके बाद आठ निरन्तर दो उपवास (षष्ठभक्त) करे, जिससे एक दाड़िम पूर्ण होती है। उसके बाद एक उपवास करके पारणा करे, दो उपवास कर पारणा करे, तीन उपवास कर पारणा करे - इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते सोलह उपवास कर पारणा करे। ऐसा करने से हार की एक लता पूर्ण होती है। इसके पश्चात् चौंतीस निरन्तर दो उपवास (षष्ठभक्त) करने से उस लता के नीचे पदक सम्पूर्ण होता है। बाद में सोलह उपवास कर पारणा करे। पंद्रह उपवास कर पारणा करे, चौदह उपवास कर पारणा करे - इस तरह घटाते-घटाते एक उपवास कर पारणा करे। ऐसा करने से हार की दूसरी लता पूरी होती है। इसके बाद आठ षष्ठभक्त (बेले) करने से उसकी ऊपर की दाड़िम पूरी होती है। फिर निरन्तर तीन उपवास (अष्टभक्त-तेला) करके पारणा करे, तत्पश्चात् षष्ठभक्त (बेले) करके पारणा करे और उसके बाद एक उपवास कर पारणा करे। इससे ऊपर की दूसरी काहलिका पूरी होती है। यहाँ जो उपवास, छट्ठ और अट्ठम लिखे हैं, उनका पारणा कर तुरन्त दूसरे दिन ही उपवास आदि करे, परन्तु बीच में बाधा नहीं डाले। इस तप में कुल पारणे अट्ठासी होते हैं तथा तीन सौ चौरासी उपवास होते हैं। पारणे में पहली श्रेणी में विकृति सहित इच्छित भोजन करे, दूसरी श्रेणी में निर्विकृति (नीवि), तीसरी श्रेणी में अलेपद्रव्य तथा चौथी श्रेणी में आयम्बिल करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक अष्टप्रकारी पूजा करके, उपवास की संख्या के अनुसार स्वर्णटंक की माला बनवाकर जिनप्रतिमा के गले में पहनाए तथा छहों विगयों से युक्त पकवान आदि चढ़ाए। साधुओं को वस्त्र, पात्र एवं अन्न का दान करे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से भोग तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह मुनियों एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

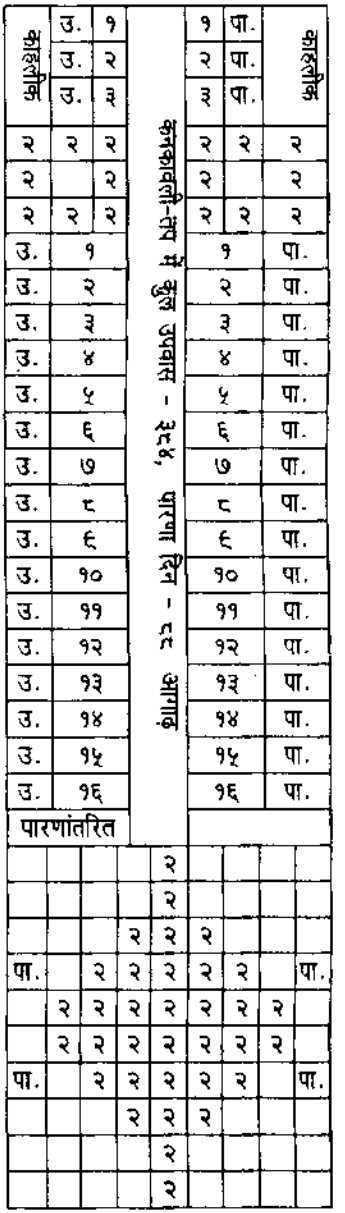

२३. मुक्तावली-तप -

अब मुक्तावली-तप की विधि बताते हैं -

"मुक्तावल्यां चतुर्थादि-षौडशाद्यावलीद्वयम्।

पूर्वानुपूर्व्यापश्चानुपूर्व्याज्ञेयं यथाक्रम।।१।।

एकद्वेयेकगुणैकवेदवसुधाबाणैक-षड्भूमिभिः, सप्तैकाष्टमहीनवैकद-शभिर्भूरुद्रभूभानुभिः।

भूविश्वैः शशिमन्विला तिथिधराविद्या सुरीभिमितै-

रेतद्व्युत्क्रमणोपवासगणितैर्मुक्ता-वली जायते।।२।।"

तपस्वियों को गले में आभूषणरूप निर्मल मुक्तावली सदृश होने से यह तप मुक्तावली कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप में सर्वप्रथम एक उपवास करके पारणा करे। तत्पश्चात् निरन्तर दो उपवास करके पारणा करे, फिर उपवास करके पारणा करे। उसके बाद तीन उपवास करके पारणा करे, फिर एक उपवास करके पारणा करे। तत्पश्चात् क्रमशः चार उपवास करके पारणा करे, फिर पुनः एक उपवास करके पारणा करे - इसी प्रकार चढ़ते-चढ़ते सोलह उपवास करके पारणा करे और पुनः एक उपवास करके पारणा करे। इस प्रकार यह एक श्रेणी पूर्ण होती है। तत्पश्चात् पश्चानुपूर्वी से द्वितीय श्रेणी प्रारंभ कर, अर्थात् सर्वप्रथम सोलह उपवास करके पारणा करे, फिर एक उपवास करके पारणा करे, तत्पश्चात् पन्द्रह उपवास

उ.	पा.	मुक्तावली तप दिन ३००, पारणा दिन ६०, सर्व दिन ३६०	उ.	पा.
१	पा.		१	पा.
२	पा.		२	पा.
१	पा.		१	पा.
३	पा.		३	पा.
१	पा.		१	पा.
४	पा.		४	पा.
१	पा.		१	पा.
५	पा.		५	पा.
१	पा.		१	पा.
६	पा.		६	पा.
१	पा.		१	पा.
७	पा.		७	पा.
१	पा.		१	पा.
८	पा.		८	पा.
१	पा.		१	पा.
९	पा.		९	पा.
१	पा.		१	पा.
१०	पा.		१०	पा.
१	पा.		१	पा.
११	पा.		११	पा.
१	पा.		१	पा.
१२	पा.		१२	पा.
१	पा.		१	पा.
१३	पा.		१३	पा.
१	पा.		१	पा.
१४	पा.		१४	पा.
१	पा.		१	पा.
१५	पा.		१५	पा.
१	पा.		१	पा.
१६	पा.		१६	पा.
१				

जो द्वितीय दाड़िम तीन-तीन उपवास से करते हैं, वे पुनः एक, दो, तीन उपवास द्वारा पूर्ववत् द्वितीय दाड़िम काहलिका पूरण करे - इस प्रकार करने से तप के कुल ३६० + ७७[1] - ४३७ होते हैं।

[1] टिप्पणी - ७७ उपवास इस प्रकार से है - सर्वप्रथम प्रथम श्रेणी की काहलिका के लिए एक उपवास, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा करे। तत्पश्चात् दाड़िम के लिए निरन्तर तीन-तीन उपवास - इस प्रकार नौ बार करे। इसी तरह पश्चानुपूर्वी में भी करे। इस प्रकार यहाँ पर काहलिका एवं दाड़िम की अपेक्षा से ही ७७ दिनों की संख्या अतिरिक्त दी गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके पारणा करे, फिर एक उपवास करके पारणा करे - इस प्रकार उतरते या घटते क्रम से एक उपवास करके पारणा करे।

इस तप के उद्यापन में विधिपूर्वक जिनप्रतिमा के गले में मोटे-मोटे मोतियों की माला पहनाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से विविध प्रकार के गुणों की श्रेणी प्राप्त होती है। यह साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

२४. रत्नावली-तप -

अब रत्नावली-तप की विधि बताते हैं -

"काहलिका दाडिमकं लता तरल एव च।

अन्य लता दाडिमकं काहलि चेति च क्रमात्।।१।।

एकद्वित्र्युपवासैः सः काहले दाड़िमे पुनः।

तरलश्चाष्टममथो रत्नावल्यां लतेवत्।।२।।"

एकद्वित्र्युपवासतो ह्युंभ इमे संपादिते काहले,

अष्टाष्टाष्टम संपदा विरचयेद्युक्त्या पुनर्दाडिमे।

एकाद्यैः खलु षोडशान्तगणितैः श्रेणीद्वयं च क्रमात्, पूर्ण स्यात्तरलोष्ठमैरपि चतुर्स्त्रिंशन्मितैर्निर्मलैः।।३।।"

गुणरूप रत्नों की आवली होने से यह तप रत्नावली कहलाता है। इसमें प्रथम काहलिका के निमित्त एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपवास करके पारणा करे। इसके बाद दो उपवास करके पारणा, फिर तीन उपवास करके पारणा करे।

इसके पश्चात् दाड़िम के निमित्त आठ बार निरन्तर तीन-तीन उपवास (अष्टभक्त) करके पारणा करे। तत्पश्चात् एक उपवास पर पारणा, फिर दो उपवास पर पारणा करे। इस प्रकार अनुक्रम से निरन्तर सोलह उपवास करने पर एक लता होती है। तत्पश्चात् पदक में चौंतीस तेले (अष्टभक्त) होते हैं। इसके बाद पश्चानुपूर्वी से, अर्थात् सोलह उपवास करके पारणा, फिर पन्द्रह उपवास करके पारणा - इस प्रकार उतरते-उतरते एक उपवास करके पारणा करे। फिर दाड़िम के निमित्त आठ अष्टभक्त (तेले) करे, फिर तेला, बेला एवं उपवास करे। ऐसा करने से दूसरी लता पूरी होती है। इस तप में पारणे के कुल दिन अट्ठासी होते हैं।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि से स्नात्रपूजा करके मूल्यवान् विविध प्रकार के निर्मल रत्नों की माला प्रभु के गले में पहनाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप को करने से विविध प्रकार की लक्ष्मी मिलती है। यह तप यति एवं श्रावक - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

२५. लघुसिंह निःक्रीडित तप -

अब लघुसिंह निःक्रीडित तप की विधि बताते है -

गच्छन् सिंहो यथा नित्यं पश्चाद्भागं विलोकयेत्।
सिंह निष्क्रीडिताख्यं च तथा तप उदाहृतम्।।१।।
एकद्व्येकत्रियुग्मैर्युगगुणविशिखैर्वेदषट् पंचताक्ष्यैः।
षट्कुंभाश्वैर्निधानाष्टनिधिहयगजैः षट्हयैः पंचषडभिः।।२।।
वेदैर्वाणैयुगद्वित्रिशशिभुजकुभिश्चोपवासैश्च मध्ये।
कुर्वाणानां समन्तादशनमिति तपः सिंह निष्क्रीडितं स्यात्।३।

जैसे सिंह चलते-चलते पीछे का भाग देखता है, उसी प्रकार से उपवास करते हुए सिंह निष्क्रीडित तप किया जाता है। इसमें सर्वप्रथम एक उपवास कर पारणा किया जाता है इसी प्रकार दो उपवास पारणा, पुनः एक उपवास कर पारणा, तीन उपवास कर पारणा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्पश्चात् दो उपवास कर पारणा, चार उपवास कर पारणा, तीन उपवास कर पारणा क्रमशः पाँच, चार, छह, पाँच, सात, छह, आठ, सात, नौ, आठ - इस प्रकार उपवास करके पारणा किया जाता हैं। तत्पश्चात् पश्चानुपूर्वी से उपवास करें अर्थात् पहले नौ उपवास फिर सात फिर आठ उसके बाद क्रमशः छह, सात, पाँच, छह, चार, पाँच, तीन, चार, दो, तीन, एक, दो और फिर एक उपवास करके पारणा करें। इस प्रकार इस तप में १५४ दिन उपवास और ३३ दिन पारणे के आते हैं।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्र विधि से परमात्मा की पूजा करें। उपवास की संख्या के अनुसार पुष्प, नैवेद्य एवं फल चढ़ायें। संघ पूजा तथा साधर्मिक वात्सल्य करें। इस तप के करने से कर्म क्षय होते हैं। यह तप यतिओं एवं श्रावकों दोनो के करने योग्य आगाढ तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

उ.	१	आगाढ, लघुसिंह निष्क्रीडित तप दिन १५४, पारण दिन ३३, कुल दिन १८७	१	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	२		२	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	१		१	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	३		३	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	२		२	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	४		४	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	३		३	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	५		५	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	४		४	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	६		६	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	५		५	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	७		७	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	६		६	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	८		८	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	७		७	उ.
-	पा.		पा.	-
उ.	९		९	उ.
-	पा.		पा.	-

२६. बृहत्सिंहनिष्क्रीड़ित-तप -

अब बृहत्सिंहनिष्क्रीड़ित-तप की विधि बताते है -

"एकद्व्येयकपाटयोनियमलैर्वेदत्रि-बाणब्धिभिः,

षट्पंचाश्वरसाष्टसप्तनवभिर्नागैश्च दिग्नन्दकः।

रूद्राशारविभद्र .....

विषुधैर्मार्तंडमन्वन्वितै,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विंश्वेदेवतिथिप्रमाणमनुभिश्चाष्टिप्रतिथ्यन्वितैः ।।१।।

कलामनुतिथित्रयोदशचतुर्दशार्कान्वितै, स्त्रयोदशशिवांशुभिर्दशगिरी-शनन्दैरपि।

दशाष्टनवसप्तभिर्गजरसाश्ववाणै

रसैश्चतु, र्विंशिखव-न्हिभिर्युगभुजत्रिभूद्वीन्दुभिः।।२।।

उपवासैः क्रमात्कार्या पारणा अंतरान्तरा,

सिंह निष्क्रीडितं नाम बृहत्संजायते तपः।।३।।"

इस तप में लघुसिंहनिष्क्रीड़ित-तप की अपेक्षा अधिक दिन होते हैं, इसलिए इसे बृहत्सिंहनिष्क्रीड़ित-तप कहते हैं।

इसमें सर्वप्रथम एक उपवास करके पारणा करे, फिर दो उपवास करके पारणा करे, फिर एक उपवास करके पारणा करे। तत्पश्चात् क्रमशः तीन, दो, चार, तीन, पाँच, चार, छः, पाँच, सात, छः, आठ, सात, नौ, आठ, दस, नौ, ग्यारह, दस, बारह, ग्यारह, तेरह, बारह, चौदह, तेरह, पन्द्रह, चौदह, सोलह और फिर पन्द्रह उपवास करके पारणा करे। इसके बाद पश्चानुपूर्वी से उपवास करे, अर्थात् सर्वप्रथम सोलह उपवास, फिर चौदह उपवास, पंद्रह, तेरह, चौदह, बारह, तेरह, ग्यारह, बारह, दस, ग्यारह, नौ, दस, आठ, नौ, सात, आठ, छः, सात, पाँच, छः, चार, पाँच, तीन, चार, दो, तीन, एक, दो और अंत में एक उपवास करके पारणा करे। इस

उ.	१	बृहत्सिंहनिष्क्रीड़ित-तप, दिन-४६७, पारण दिन-६१, सर्व दिन-५५७, आयंबि	१	पा.
उ.	२		२	पा.
उ.	१		१	पा.
उ.	३		३	पा.
उ.	२		२	पा.
उ.	४		४	पा.
उ.	३		३	पा.
उ.	५		५	पा.
उ.	४		४	पा.
उ.	६		६	पा.
उ.	५		५	पा.
उ.	७		७	पा.
उ.	६		६	पा.
उ.	८		८	पा.
उ.	७		७	पा.
उ.	६		६	पा.
उ.	८		८	पा.
उ.	१०		१०	पा.
उ.	९		९	पा.
उ.	११		११	पा.
उ.	१०		१०	पा.
उ.	१२		१२	पा.
उ.	११		११	पा.
उ.	१३		१३	पा.
उ.	१२		१२	पा.
उ.	१४		१४	पा.
उ.	१३		१३	पा.
उ.	१५		१५	पा.
उ.	१४		१४	पा.
उ.	१६		१६	पा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार हर एक के बाद पारणा करे। इस तरह कुल उपवास के दिन ४६७ तथा पारणे के दिन ६१ मिलकर कुल ५५८ दिन, अर्थात् १ वर्ष, छः माह और अठारह दिन में यह तप पूरा होता है।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक उपवास की संख्या के अनुसार पुष्प, फल तथा नैवेद्य आदि चढ़ाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से उपशमश्रेणी की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

२७. भद्रतप -

अब भद्रतप की विधि बताते हैं -

"एकद्वित्रिचतुःपंचत्रिचतुः पंचभूद्वयैः।
पंचैकद्वित्रिवेदैश्च, द्वित्रिवेदेषुभूमिभिः।।१।।
चतुःपंचश्चैकद्वित्रिभिश्चोपवासैः श्रेणिपंचकम्।
भद्रेतपसि मध्यस्थपारण श्रेणि संयुतम्।।२।।"

यह तप भद्र,अर्थात् कल्याणकारी होने से भद्रतप कहलाता है।

इस तप की प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम एक उपवास करके पारणा करे। फिर दो, तीन, चार और पाँच उपवास कर हर एक के बाद पारणा करे। दूसरी श्रेणी में सर्वप्रथम तीन उपवास करे। फिर चार, पाँच, एक और दो उपवास कर हर एक के बाद पारणा करे। तीसरी श्रेणी में पाँच उपवास करे। फिर एक, दो, तीन एवं चार उपवास कर हर एक के बाद पारणा करे। चौथी श्रेणी में सर्वप्रथम दो उपवास करे, फिर तीन, चार, पाँच और एक उपवास कर हर एक के बाद पारणा करे। पाँचवीं श्रेणी में सर्वप्रथम चार उपवास करे, फिर पाँच, एक, दो और तीन उपवास कर पारणा करे। (सबके अंत में एक ही पारणे का दिन आता है।) इस प्रकार कुल उपवास ७५ तथा पारणे के दिन २५ मिलाकर तीन माह और दस दिन में यह तप पूर्ण होता है।

इस तप के उद्यापन में परमात्मा की स्नात्रपूजा करे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघ पूजा करे। इस तप के करने से कल्याण की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

भद्रतप, आगाढ़, दिन-१००									
उपवास १	पारणा	उपवास २	पारणा	उपवास ३	पारणा	उपवास ४	पारणा	उपवास ५	पारणा
उपवास ३	पारणा	उपवास ४	पारणा	उपवास ५	पारणा	उपवास १	पारणा	उपवास २	पारणा
उपवास ५	पारणा	उपवास १	पारणा	उपवास २	पारणा	उपवास ३	पारणा	उपवास ४	पारणा
उपवास २	पारणा	उपवास ३	पारणा	उपवास ४	पारणा	उपवास ५	पारणा	उपवास १	पारणा
उपवास ४	पारणा	उपवास ५	पारणा	उपवास १	पारणा	उपवास २	पारणा	उपवास ३	पारणा

२८. महाभद्रतप -

अब महाभद्र-तप की विधि बताते हैं -

"एकद्वित्रिचतुः पंचषट्सप्तभिरूपोषणैः।
निरन्तरैः पारणकमाद्यश्रेणौ प्रजायते।।१।।
द्वितीय पाल्यां वेदेषुषट्सप्तैकद्विवान्हीभः।
तृतीय पाल्यां सप्तैकद्वित्रिवेदशरै रसैः।।२।।
चतुर्थ पाल्यां त्रिचतुः पंचषट्सप्तभूभुजैः।
पंचम्यां रससप्तैकद्वित्रिवेदशिली मुखैः।।३।।
षष्ठम्यां द्वितिचतुःपंचषट्सप्तैकैरूपोषणैः।
सप्तम्यां पंचषट्सप्तभूयुग्मत्रिचतुष्टयै।।४।।
एवं संपूर्यते सप्त श्रेणिभिर्मध्यपारणैः।
महाभद्रं तपः सप्तप्रस्तार परिवारितम्।।५।।"

यह तप महाभद्र, अर्थात् महाकल्याणकारी होने से महाभद्र-तप कहलाता है। इस तप की प्रथम श्रेणी में एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः और सात उपवास अनुक्रम से अंतररहित पारणे वाले करे। दूसरी श्रेणी में चार, पाँच, छः, सात, एक, दो और तीन उपवास अंतररहित पारणे से करे। तीसरी श्रेणी में सात, एक, दो, तीन, चार, पाँच और छः उपवास उसी तरह से करे। चौथी श्रेणी में तीन, चार, पाँच, छः, सात, एक और दो उपवास अंतररहित पारणे से करे। पाँचवीं श्रेणी में छः, सात, एक, दो, तीन, चार और पाँच उपवास अंतररहित पारणे से करे। छठवीं श्रेणी में दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात और एक उपवास अंतररहित पारणे से करे। सातवीं श्रेणी में पाँच, छः, सात,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक, दो, तीन और चार उपवास अंतररहित पारणे से करे। इस तरह इस तप में उपवास १९६ तथा पारणे के दिन ४९ मिलकर कुल २४५ दिन में यह तप पूर्ण होता है।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि से परमात्मा की पूजा करे। संघ-वात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से सर्वविघ्नों का नाश होता है तथा पुण्य की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

महाभद्र-तप, आगाढ़, उपवास-१९६, पारण दिन-४९, कुल दिन-२४५													
उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. ४	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.
उ. ४	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.
उ. ७	पा.	उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. ४	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.
उ. ३	पा.	उ. ४	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. १	पा.	उ. २	पा.
उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. ४	पा.	उ. ५	पा.
उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. ४	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. १	पा.
उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. ४	पा.

२९. भद्रोत्तर-तप -

अब भद्रोत्तर-तप की विधि बताते हैं -

भद्र, अर्थात् कल्याणकारक, अर्थात् उत्तम होने से भद्रोत्तर-तप कहलाता है। इसमें प्रथम श्रेणी में अनुक्रम से पाँच, छः, सात, आठ और नौ उपवास अंतररहित पारण वाले करे। दूसरी श्रेणी में सात, आठ, नौ, पाँच और छः उपवास अंतररहित पारणे वाले करे। तीसरी श्रेणी में नौ, पाँच, छः, सात और आठ उपवास अंतररहित पारण वाले करे। चौथी श्रेणी में छः, सात, आठ, नौ और पाँच उपवास अंतररहित पारण वाले करे। पाँचवीं श्रेणी में आठ, नौ, पाँच, छः और सात उपवास निरंतर पारणे वाले करे।

इस तप में १७५ दिन उपवास तथा पारणे के २५ दिन मिलकर २०० दिन में यह तप सम्पूर्ण होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप का उद्यापन भद्रतप की भाँति ही करे। इस तप के करने से वांछित की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

भद्रोत्तर-तप, आगाढ़, दिन-२००									
उपवास ५	पारणा	उपवास ६	पारणा	उपवास ७	पारणा	उपवास ८	पारणा	उपवास ९	पारणा
उपवास ७	पारणा	उपवास ८	पारणा	उपवास ९	पारणा	उपवास ५	पारणा	उपवास ६	पारणा
उपवास ९	पारणा	उपवास ५	पारणा	उपवास ६	पारणा	उपवास ७	पारणा	उपवास ८	पारणा
उपवास ६	पारणा	उपवास ७	पारणा	उपवास ८	पारणा	उपवास ९	पारणा	उपवास ५	पारणा
उपवास ८	पारणा	उपवास ९	पारणा	उपवास ५	पारणा	उपवास ६	पारणा	उपवास ७	पारणा

३०. सर्वतोभद्र-तप -

सब तरह से कल्याणकारी होने से इस तप को सर्वतोभद्र-तप कहते हैं। इस तप की प्रथम श्रेणी अनुक्रम से निरंतर पारणे वाले पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस और ग्यारह उपवास द्वारा होती है। दूसरी श्रेणी में आठ, नौ, दस, ग्यारह, पाँच, छः और सात उपवास अंतररहित पारणे से करे। तीसरी श्रेणी में ग्यारह, पाँच, छः, सात, आठ, नौ और दस उपवास अंतररहित पारणे से करे। चौथी श्रेणी में सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, पाँच और छः उपवास अंतररहित पारणे से करे। पाँचवीं श्रेणी में दस, ग्यारह, पाँच, छः, सात, आठ और नौ उपवास अंतररहित पारणे से करे। छठवीं श्रेणी में छः, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह और पाँच उपवास अंतररहित पारणे से करे। सातवीं श्रेणी में नौ, दस, ग्यारह, पाँच, छः, सात और आठ उपवास निरंतर पारणे से करे। इस तप में ३९२ दिन उपवास तथा ४९ दिन पारणे होते हैं। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

सर्वतोभद्रतप, आगाढ़, उपवास-३९२, पारणे-४९, कुल दिन-४४१													
उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. ८	पा.	उ. ९	पा.	उ. १०	पा.	उ. ११	पा.
उ. ८	पा.	उ. ९	पा.	उ. १०	पा.	उ. ११	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.
उ. ११	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. ८	पा.	उ. ९	पा.	उ. १०	पा.
उ. ७	पा.	उ. ८	पा.	उ. ९	पा.	उ. १०	पा.	उ. ११	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.
उ. १०	पा.	उ. ११	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. ८	पा.	उ. ९	पा.
उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. ८	पा.	उ. ९	पा.	उ. १०	पा.	उ. ११	पा.	उ. ५	पा.
उ. ९	पा.	उ. १०	पा.	उ. ११	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.	उ. ८	पा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप का उद्यापन भद्रतप की तरह ही करे। कुछ आचार्य इन चारों भद्रादितप के उद्यापन में उपवास की संख्या के अनुसार पुष्प, फल एवं पकवान परमात्मा के आगे रखने के लिए कहते हैं। इस तप में सब प्रकार की शांति, समस्त कर्मों का क्षय एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है।

३१. गुणसंवत्सर-तप -

अब गुणसंवत्सर-तप की विधि बताते हैं -

"गुणरत्नं षोडशभिर्मासैः संपूर्यते पुनस्तत्र।
मासे चैकादिषोडशान्ताः स्युरूपवासाः पंचदश।।१।।"

गुणरूपी रत्नों की प्राप्ति होने के कारण इस तप को गुणरत्न-तप कहते हैं। इसमें प्रथम मास में एक उपवास और एक पारणा, इस प्रकार पंद्रह उपवास और पंद्रह पारणा मिलकर तीस दिन में पूरा होता है। द्वितीय मास में दो-दो उपवास करके पारणा करने से बीस उपवास के तथा दस पारणा के दिन मिलकर तीस दिन में पूरा होता है। तीसरे माह में तीन-तीन उपवास करके एक पारणा करने से चौबीस उपवास तथा आठ पारणा मिलकर बत्तीस दिन होते हैं। चौथे माह में चार-चार उपवास करके एक-एक पारणा करने से चौबीस उपवास तथा छः पारणा मिलकर तीस दिन होते हैं। पाँचवें माह में पाँच उपवास पर पारणा करने से पच्चीस उपवास के दिन और पाँच पारणे के दिन मिलकर तीस दिन होते हैं। छठवें मास में छः-छः उपवास पर पारणा करने से चौबीस उपवास के दिन और चार पारणे के दिन मिलकर अट्ठाईस दिन होते हैं। सातवें माह में सात-सात उपवास पर पारणा करने से इक्कीस उपवास के दिन और तीन पारणे के दिन मिलकर चौबीस दिन होते हैं। आठवें माह में आठ-आठ उपवास पर पारणा करने से चौबीस उपवास के दिन और तीन पारणे के दिन मिलाकर सत्ताईस दिन होते हैं। नवें माह में नौ-नौ उपवास पर पारणा करने से सत्ताईस उपवास और तीन पारणा मिलकर तीन दिन होते हैं। दसवें मास में दस-दस उपवास पर पारणा करने से तीस उपवास के दिन और तीन पारणे के दिन मिलाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेंतीस दिन होते हैं। ग्यारहवें मास में ग्यारह- ग्यारह उपवास पर पारणा करने से तेंतीस उपवास के और तीन पारणे के दिन मिलकर छत्तीस दिन होते हैं। बारहवें मास में बारह-बारह उपवास पर पारणा करने से चौबीस उपवास के और दो पारणे के दिन मिलकर छब्बीस दिन होते हैं। तेरहवें मास में तेरह-तेरह उपवास पर पारणा करने से छब्बीस उपवास के दिन तथा दो पारणे के दिन मिलाकर अट्ठाईस दिन लगते हैं। चौदहवें मास में चौदह-चौदह उपवास पर पारणा करने से अट्ठाईस उपवास के दिन एवं दो पारणे के दिन मिलाकर तीस दिन होते हैं। पन्द्रहवें मास में पंद्रह-पंद्रह उपवास पर पारणा करने से तीस उपवास एवं दो पारणा मिलकर बत्तीस दिन लगते हैं। सोलहवें मास में सोलह-सोलह उपवास पर पारणा करने से बत्तीस उपवास तथा दो पारणा मिलकर चौंतीस दिन होते हैं। इस प्रकार यह तप त्रुटित एवं वृद्धि दिनों से १६ मास में पूर्ण होता है।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्र से जिनपूजा, संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप से मनुष्य उच्च गुणस्थान पर चढ़ता है। यह साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

गुणरत्नसंवत्सर, मास-१६, आगाढ़

	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
१मास	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.	१	पा.
२मास	२	पा.	२	पा.	२	पा.	२	पा.	२	पा.	२	पा.	२	पा.	२	पा.	२	पा.	उप-२०, पारणा-१०, सर्वदिन-३०												
३मास	३	पा.	३	पा.	३	पा.	३	पा.	३	पा.	३	पा.	३	पा.	उपवास-२४, पारणा-८, सर्वदिन-३२																	
४मास	४	पा.	४	पा.	४	पा.	४	पा.	४	पा.	उपवास-२४, पारणा-६, सर्वदिन-३०																					
५मास	५	पा.	५	पा.	५	पा.	५	पा.	५	पा.	उपवास-२५, पारणा-५, सर्वदिन-३०																					
६मास	६	पा.	६	पा.	६	पा.	६	पा.	उपवास-२४, पारणा-४, सर्वदिन-२८																							
७मास	७	पा.	७	पा.	७	पा.	उपवास-२१, पारणा-३, सर्वदिन-२४																										
८मास	८	पा.	८	पा.	८	पा.	उपवास-२४, पारणा-३, सर्वदिन-२७																										
९मास	९	पा.	९	पा.	९	पा.	उपवास-२७, पारणा-३, सर्वदिन-३०																										
१०मास	१०	पा.	१०	पा.	१०	पा.	उपवास-३०, पारणा-३, सर्वदिन-३३																										
११मास	११	पा.	११	पा.	११	पा.	उपवास-३३, पारणा-३, सर्वदिन-३६																										
१२मास	१२	पा.	१२	पा.	उपवास-२४, पारणा-२, सर्वदिन-२६																												
१३मास	१३	पा.	१३	पा.	उपवास-२६, पारणा-२, सर्वदिन-२८																												
१४मास	१४	पा.	१४	पा.	उपवास-२८, पारणा-२, सर्वदिन-३०																												
१५मास	१५	पा.	१५	पा.	उपवास-३०, पारणा-२, सर्वदिन-३२																												
१६मास	१६	पा.	१६	पा.	उपवास-३२, पारणा-२, सर्वदिन-३४																												

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२. अंग-तप -

अब अंग-तप की विधि बताते हैं -

शुक्ल पक्ष की एकादशी से प्रारम्भ कर ग्यारह मास की एकादशी कर यथाशक्ति तप करने से अंग-तप पूर्ण होता है।

श्री आचारांग आदि ग्यारह अंग का तप होने से यह अंग-तप कहा जाता है। शुभ मास एवं चन्द्रबल में शुक्ल एकादशी के दिन यथाशक्ति एकासन, नीवि, आयम्बिल या उपवास द्वारा यह तप प्रारम्भ करे। इस प्रकार प्रत्येक पक्ष की एकादशी को करते हुए ग्यारह मास में यह तप पूर्ण करे। इस तप का उद्यापन ज्ञानपंचमी-तप की भाँति ही करे। इस तप के करने से आगम के बोध की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

मास-११, एकादशी-२२, आगाढ़		
मास	शुक्ल पक्ष तिथि ११	कृष्ण पक्ष तिथि ११
प्रथम	उ.	उ.
द्वितीय	--"--	--"--
तृतीय	--"--	--"--
चौथ	--"--	--"--
पांचवाँ	--"--	--"--
छठवाँ	--"--	--"--
सातवाँ	--"--	--"--
आठवाँ	--"--	--"--
नवाँ	--"--	--"--
दसवाँ	--"--	--"--
ग्यारहवाँ	--"--	--"--

३३. संवत्सर-तप -

अब संवत्सर-तप की विधि बताते हैं -

"सांवत्सरं तपः सावत्सरिके पाक्षिकेपि च।
चातुर्मासे कृतलोचे क्रियते तदुदीर्यते।।१।।"

एक वर्ष में जो तप किया जाता है, वह संवत्सर-तप कहलाता है। उसमें पाक्षिक आलोचना के लिए हर एक चतुर्दशी को उपवास करे, अर्थात् बारह महीनों की चौबीस चतुर्दशी के उपवास करे तथा चातुर्मास की आलोचना के लिए तीन चौमासी को दो-दो उपवास करने से छः उपवास होते हैं तथा संवत्सरी की आलोचना के लिए संवत्सरी के तीन उपवास होते हैं - ये सब मिलकर तेंतीस उपवास करे। इस तप का उद्यापन पूर्व की भाँति ही करे। इस तप के करने से वर्ष में किए गए पापों का क्षय होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह यतियों एवं श्रावकों के करने योग्य अनागाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

सवंत्सर-तप,	अनागाढ़
वर्ष में २४ पक्ष	उपवास २४
कार्तिक चातुर्मास में	उपवास २
फाल्गुन चातुर्मास में	उपवास २
आषाढ चातुर्मास में	उपवास २
पर्यूषण पर्व में	उपवास ३

३४. नंदीश्वर-तप -

अब नंदीश्वर-तप की विधि बताते हैं -

"नंदीश्वरतपो दीपोत्सवदर्शादुदीरितः।
सप्तवर्षाणि वर्षं वा क्रियते च तदर्चने।।१।।"

नंदीश्वर का तप दीपावली की अमावस्या से आरम्भ करे। यह तप सात वर्ष, अथवा एक वर्ष में उसकी (नंदीश्वर की) पूजा द्वारा पूर्ण किया जाता है।

नंदीश्वर-द्वीप में स्थित चैत्यों की आराधना के लिए यह तप बताया गया है। इसमें दीपावली की अमावस्या के दिन पट्ट पर नंदीश्वर का चित्र बनाए। उस दिन शक्ति के अनुसार उपवास, आयम्बिल, एकासन या नीवि करे। बाद में प्रत्येक अमावस्या को वही तप करे - इस प्रकार सात वर्ष तक, अथवा एक वर्ष तक तप करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि से परमात्मा की पूजा करके स्वर्णमय नंदीश्वर-द्वीप के आगे बावन-बावन विविध प्रकार के मोदक, पुष्प चढ़ाए। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से आठ भव में मोक्ष प्राप्त होता है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

नंदीश्वर-तप, आगाढ़, वर्ष-७												
वर्ष १	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
वर्ष २	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
वर्ष ३	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
वर्ष ४	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
वर्ष ५	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
वर्ष ६	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
वर्ष ७	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
एक वर्ष की अपेक्षा से १२	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. पुण्डरीक-तप -

अब पुण्डरीक-तप की विधि बताते हैं -

"सप्तवर्षाणि वर्ष या पूर्णमास्यां यथाबलम्।
तपः प्रकुर्वतां पुंडरीकाख्यं तप उच्यते।।१।।"

ऋषभदेव के प्रथम गणधर पुण्डरीक की आराधना के लिए यह तप बताया गया है, इसलिए इसे पुण्डरीक-तप कहते हैं। पुण्डरीक गणधर ने चैत्र पूर्णिमा के दिन सिद्धाचल पर सिद्धि की प्राप्ति की, अतः इस दिन पुंडरीकस्वामी की प्रतिमा की पूजा कर यथाशक्ति एकासन आदि के द्वारा इस तप का प्रारम्भ करे। केसरिया वस्त्र पहनकर, केसरी रंग के वस्त्र, नेत्रांजन एवं सुगंधित हल्दी के उबटन से पुण्डरीकस्वामी की पूजा करे। तत्पश्चात् प्रत्येक पूर्णिमा को शक्ति के अनुसार तप करे - इस प्रकार सात वर्ष या एक वर्ष तक करे।

इस तप के उद्यापन में स्त्री अपनी ननंद की पुत्री को तथा पुरुष अपनी बहन की पुत्री को अत्यधिक स्वादिष्ट भोजन कराकर हल्दी के रंग के दो केसरिया वस्त्र, ताम्बूल, कंकण, नूपुर आदि दे।

साधु-साध्वियों को रजोहरण, मुखवस्त्रिका, पात्रादि तथा प्रचुर मात्रा में आहार का दान दे तथा सात श्रावकों के घरों पर प्रचुर मात्रा में मिष्ठान्न भेजे। इस तप के करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

पुंडरीक-तप, आगाढ़, वर्ष-७, चैत्र मास से आरम्भ करें।												
मास-	चैत्र	वै.	ज्ये.	आ.	श्रा.	भा.	आ.	का.	मार्ग.	पौ.	माघ	फा.
वर्ष	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.
प्रथम वर्ष	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
द्वितीय वर्ष	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
तृतीय वर्ष	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
चौथें वर्ष	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
पाँचवे वर्ष	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
छठें वर्ष	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
सातवें वर्ष	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
सात वर्ष तक प्रत्येक पूर्णिका को एकासन, उपवास आदि तप करे।												

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. माणिक्यप्रस्तारिका-तप -

अब माणिक्यप्रस्तारिका-तप की विधि बताते हैं -

"माणिक्यप्रस्तारी आश्विन शुक्लस्य पक्ष संयोगे।
आरभ्यैकादशिकां राकां यावद्विदध्याच्च।।१।।"

माणिक्य की प्रस्तारिका की तरह इस तप का विस्तार होने से यह माणिक्यप्रस्तारिका-तप कहलाता है। आश्विन शुक्ल एकादशी को आरम्भ कर पूर्णिमा तक यह तप करे, अर्थात् एकादशी को उपवास, द्वादशी को एकासन, त्रयोदशी को नीवि, चतुर्दशी को आयम्बिल, पूर्णिमा को बियासन (दिन में मात्र दो बार एक आसन पर बैठकर खाना), अथवा एकादशी को उपवास, द्वादशी को आयंबिल, त्रयोदशी को नीवि, चतुर्दशी को आयंबिल और पूर्णिमा को बियासन करे तथा इन पाँच दिनों में प्रभात में सूर्योदय से पहले स्नान कर सौभाग्यशालिनी सुहागिन का मुखमंडन तथा उद्वर्तन करे। तत्पश्चात् स्वयं भी पवित्र सुन्दर वस्त्र, अथवा केसरिया वस्त्र का जोड़ा पहनकर शक्ति के अनुसार आभूषण धारण करे। अखंड अक्षत की अंजलि भरकर उस पर एक जायफल रखकर मंगलोच्चारपूर्वक चैत्य की प्रदक्षिणा देकर वह अंजलि जिनेश्वर के आगे रखे। दूसरी प्रदक्षिणा में अक्षत की अंजलि पर श्रीफल रखकर जिनेश्वर के पास रखे। तीसरी प्रदक्षिणा में बींट तथा पर्णसहित बिजौरा अक्षत पर रखकर जिनेश्वर के आगे रखे। चौथी प्रदक्षिणा में अक्षत की अंजलि पर सुपारी रखकर जिनेश्वर के आगे रखे। तत्पश्चात् सप्तधान्य, लवण, एक सौ आठ हाथ वस्त्र, एक सौ आठ लाल चणोठी तथा केसरिया वस्त्र परमात्मा के आगे रखे - इस प्रकार चार वर्ष तक करे।

इस तप के उद्यापन में १०८ पूर्ण कुंभ दीपकसहित रखे तथा स्वर्ण की बत्ती वाला चाँदी का दीपक सुकुमारिका को दे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से निर्मल गुण की प्राप्ति होती है। यह साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माणिक्य-प्रस्तारिका-तप, आगाढ़						
वर्ष	तिथि	तिथि	तिथि	तिथि	तिथि	
प्रथम वर्ष	११ उ.	१२ ए.	१३ नी.	१४ आं.	१५ बि.	आश्विन शु.
द्वितीय वर्ष	११ उ.	१२ ए.	१३ नी.	१४ आं.	१५ बि.	आश्विन शु.
तृतीय वर्ष	११ उ.	१२ ए.	१३ नी.	१४ आं.	१५ बि.	आश्विन शु.
चतुर्थ वर्ष	११ उ.	१२ ए.	१३ नी.	१४ आं.	१५ बि.	आश्विन शु.

३७. पद्मोत्तर तप -

अब पद्मोत्तर-तप की विधि बताते है -

"प्रत्येकं नवपद्मेष्वष्टाष्ट प्रत्येक संख्यया।
उपवास मीलिताः स्युर्द्वासप्ततिनुत्तराः।।१।।"

पद्म, अर्थात् कमल लक्ष्मीजी का निवास होने से उत्कृष्ट माना गया है। इसी कारण यह तप पद्मोत्तर-तप कहलाता है। इसमें नौ पद्म होते हैं। प्रत्येक पद्म में आठ-आठ पंखुड़ी होने से प्रत्येक पंखुड़ी का एक-एक उपवास एकान्तरसहित करे। इस प्रकार पंखुड़ियों की संख्या के अनुसार बहत्तर उपवास एकान्तरसहित करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक आठ पंखुड़ी वाले स्वर्ण के नौ कमल बनवाकर प्रभु के समक्ष रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से महालक्ष्मी या प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है। यह तप यति एवं श्रावक - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

इस तप का यंत्र इस प्रकार है -

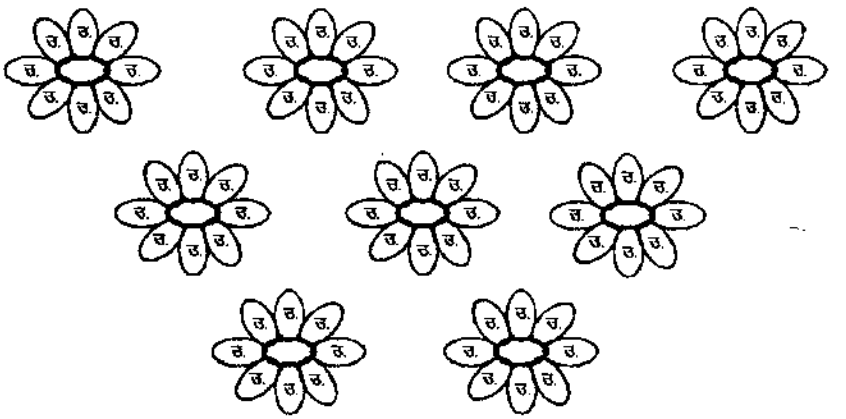

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८. समवसरण-तप -

"श्रावणमथ भाद्रपदं कृष्ण प्रतिपदमिहातिदतां नीत्वा।
षोडशदिनानि कार्यं वर्ष चतुष्कं स्वशक्ति।।१।।"

समवसरण की आराधना के लिए यह तप किया जाता है। इस तप को श्रावण वदि (कृष्ण पक्ष) प्रतिपदा या भाद्रपद वदि (कृष्ण पक्ष) प्रतिपदा को प्रारम्भ कर अपनी शक्ति के अनुसार सोलह दिन तक बियासन या एकभक्त (एकासन) करे एवं नित्य समवसरण की पूजा करे। इस प्रकार चार वर्ष तक करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि से समवसरण की पूजा कर छः विकृतियों से युक्त वस्तुओं का थाल रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से साक्षात् तीर्थंकर देव के दर्शन होते हैं। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

समवसरण तप

भाद्रपद वदि (कृष्ण पक्ष) प्रतिपदा, अथवा श्रावण वदि (कृष्ण पक्ष) प्रतिपदा से

वर्ष	तिथि	कृ. १	कृ. २	कृ. ३	कृ. ४	कृ. ५	कृ. ६	कृ. ७	कृ. ८	कृ. ९	कृ. १०	कृ. ११	कृ. १२	कृ. १३	कृ. १४	कृ. १५	शु. १
१	भाद्रपद श्रावण	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
२	-"-"-	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
३	-"-"-	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.
४	-"-"-	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.

३९. द्वितीय समवसरण-तप -

अब द्वितीय समवसरण-तप की विधि बताते हैं -

भाद्रपद कृष्ण चतुर्थी से लेकर भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी तक शक्ति के अनुसार यह तप करे। शेष विधि पूर्ववत् है - इस प्रकार दोनों समवसरण-तप की विधि बताई गई है।

४०. एकादशगणधर-तप -

"चरमजिनस्यैकादश शिष्या गणधारिणस्तदर्थं च।
प्रत्येकमनशनान्यथा चाम्लान्यथा विदध्याच्च।।१।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणधर की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, वह गणधर-तप कहलाता है। वर्धमानस्वामी के ग्यारह गणधर हैं, उनकी आराधना के लिए हर एक गणधर के आश्रय से एकान्तरसहित उपवास या आयम्बिल कर इस तरह ग्यारह उपवास, अथवा आयम्बिल करे। इस तप के उद्यापन में गणधरमूर्ति की पूजा करे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

एकादश गणधर-तप, आगाढ़, उपवास-११, पारणा-११											
इन्द्रभूति	उप.१	पा.	अग्निभूति	उप.१	पा.	वायुभूति	उप.१	पा.	श्रीव्यक्त	उप.१	पा.
अकपित	उप.१	पा.	अचलभूति	उप.१	पा.	मैतार्य	उप.१	पा.	प्रभास	उप.१	पा.
सुधर्मा	उप.१	पा.	मंडित	उप.१	पा.	मौर्यपुत्र	उप.१	पा.			

४१. अशोकवृक्ष-तप -

अब अशोकवृक्ष-तप की विधि बताते हैं -

"आश्विन शुक्ल प्रतिपदमारभ्य तिथीश्च पंच निजशक्त्या।
कुर्यात्तपसा सहितः पंच समा इदमशोक तपः।।१।।"

अशोकवृक्ष की तरह यह तप मंगलकारी होने से अशोकवृक्ष-तप कहलाता है। आश्विन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन शुरू करके सुदी (शुक्ल पक्ष) पंचमी तक, अर्थात् पाँच दिन तक शक्ति के अनुसार तप का प्रत्याख्यान कर यह तप करे। प्रतिदिन अशोकवृक्ष सहित जिनेश्वरदेव की पूजा करे। इस तरह पाँच वर्ष करना चाहिए।

इस तप के उद्यापन में अशोकवृक्ष सहित नया जिनबिंब बनवाकर विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करवाए तथा षट्विकृतियों से युक्त नैवेद्य, सुपारी एवं फल आदि से पूजा करे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप के करने से सर्वसुख की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

इन तिथियों में निरन्तर पाँच दिन तक उपवास, आयम्बिल आदि तप करे।

अशोकवृक्ष-तप , आगाढ़					
१ आश्विन शु.	१	२	३	४	५
२ आश्विन शु.	-"-	-"-	-"-	-"-	-"-
३ आश्विन शु.	-"-	-"-	-"-	-"-	-"-
४ आश्विन शु.	-"-	-"-	-"-	-"-	-"-
५ आश्विन शु.	-"-	-"-	-"-	-"-	-"-

४२. एक सौ सत्तर जिन-तप -

अब एक सौ सत्तर जिन-तप की विधि बताते हैं -

"सप्ततिशतं जिनानामुद्दिश्यैकमेकभक्त चं।
कुर्वाणानामुद्यापनात्तपः पूर्यते सम्यक् ।।१।।"

एक सौ सत्तर जिनेश्वरों की आराधना के लिए यह तप है। इस तप में एक सौ सत्तर तीर्थंकरों के आश्रय से निरन्तर एक सौ सत्तर एकासन करे, अथवा बीस एकासन लगातार करके पारणा करे। इस प्रकार नौ बार करने से एक सौ अस्सी एकासन होते हैं।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक पूजा करके, एक सौ सत्तर पकवान, पुष्प, फल आदि चढ़ाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के प्रभाव से आर्यदेश में जन्म होता है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य अनागाढ़-तप है। इस तप के द्वितीय विकल्पयंत्र का न्यास इस प्रकार है -

३४. एक सौ सत्तर जिन, अनागाढ			
एक भक्त	२०	पारणा	१
एक भक्त	२०	पारणा	१
एक भक्त	२०	पारणा	१
एक भक्त	२०	पारणा	१
एक भक्त	२०	पारणा	१
एक भक्त	२०	पारणा	१
एक भक्त	२०	पारणा	१
एक भक्त	२०	पारणा	१
एक भक्त	२०	पारणा	१

४३. नमस्कार-तप -

अब नमस्कार-तप की विधि बताते हैं -

"नमस्कारतपश्चाष्टषष्टि संख्यैक भक्तकैः।
विधीयते च तत्पादसंख्यायास्तु प्रमाणतः।।१।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमस्कार महामंत्र की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, वह नमस्कार-तप कहलाता है। इसके पहले पद में सात वर्ण हैं, इसलिए उसके सात एकासन करे। दूसरे पद में पाँच अक्षर होने से पाँच एकासन करे। तीसरे पद के सात, चौथे पद के सात, पाँचवें पद के नौ, छठवें पद के आठ, सातवें पद के आठ एवं नवें पद के नौ या गुरु- परम्परा विशेष से आठ एकासन करे - इस प्रकार इस तप में कुल अड़सठ एकासन होते हैं।

इस तप के उद्यापन में चाँदी के पतरे पर स्वर्ण की कलम से पंचपरमेष्ठीमंत्र लिखकर ज्ञानपूजा करे। अड़सठ-अड़सठ फल, पुष्प, मुद्रा एवं पकवान रखे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से सर्व सुखों की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

नमस्कार-तप, आगाढ़, तप दिन - ६८										
१ पद के अक्षर ७	न	मो	अ	रि	हं	ता	णं			७
२ पद के अक्षर ५	न	मो	सि	द्धा	णं					५
३ पद के अक्षर ७	न	मो	आ	य	रि	या	णं			७
४ पद के अक्षर ७	न	मो	उ	व	ज्झा	या	णं			७
५ पद के अक्षर ६	न	मो	लो	ए	स	व्व	सा	हू	णं	६
६ पद के अक्षर ८	ए	सो	पं	च	न	मु	क्का	रो		८
७ पद के अक्षर ८	स	व्व	पा	व	प्प	णा	स	णो		८
८ पद के अक्षर ८	मं	ग	ला	णं	च	स	व्वे	सिं		८
६ पद के अक्षर ६/८	प	ढ	मं	ह	व	इ	मं	ग	लं	६

४४. चतुर्दशपूर्व-तप -

अब चतुर्दशपूर्व-तप की विधि बताते हैं -

"शुक्ल पक्षे तपः कार्यं चतुर्दश चतुर्दशीः।
चतुर्दशानां पूर्वाणां, तपस्तेन समाप्यते।।१।।"

चौदह पूर्व की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, वह चतुर्दशपूर्व-तप कहलाता है। शुभ संयोग में सुदी (शुक्ल पक्ष) चतुदर्शी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के दिन प्रारम्भ कर, चौदह मास की शुक्ल चतुर्दशी के दिन यथाशक्ति एकासन आदि तप करके यह तप पूर्ण करे।

इस तप के उद्यापन में ज्ञानपंचमी की भाँति चौदह-चौदह पुस्तकादि द्वारा ज्ञानपूजा करे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से सम्यक् श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

चतुर्दशपूर्व-तप, आगाढ़					
शुक्ल १४	पूर्व	तप	शुक्ल १४	पूर्व	तप
१	उत्पाद पूर्व	ए.	८	कर्मप्रवाद	ए.
२	अग्रायणीय	ए.	९	प्रत्याख्यानप्रवाद	ए.
३	वीर्यप्रवाद	ए.	१०	विद्याप्रवाद	ए.
४	अस्तिप्रवाद	ए.	११	कल्याणनाम	ए.
५	ज्ञानप्रवाद	ए.	१२	प्राणावाय	ए.
६	सत्यप्रवाद	ए.	१३	क्रियादिशा	ए.
७	आत्मप्रवाद	ए.	१४	लोकबिंदुसार	ए.

४५. एकावली-तप -

अब एकावली-तप की विधि बताते हैं -

"एकाद्वित्र्युपवासैः काहलके द्वे तथा च दाडिमके।
वसुसंख्यैश्च चतुर्थैः श्रेणी कनकावलीच्च।।१।।
चतुस्त्रिंशच्चतुर्थैश्च पूर्यते तरलः पुनः।
समाप्तिमेति साधूणामेव मेकावली तपः।।२।।"

एक आवली की तरह उपवास करने से इसे एकावली-तप कहते हैं। प्रथम काहलिका में निरन्तर क्रमशः एक, दो, तीन उपवास करके पारणा करे। तत्पश्चात् एकान्तर पारणे वाले आठ उपवास करे। उसके बाद एक उपवास कर पारणा, दो उपवास कर पारणा, तीन उपवास कर पारणा - इस तरह चढ़ते-चढ़ते सोलह उपवास पर पारणा करने से हार की एक आवलिका (लड़ी) पूरी होती है। इसके बाद पदक के एकान्तर चौंतीस उपवास करे। तत्पश्चात् क्रम से, अर्थात् सोलह उपवास कर पारणा, पन्द्रह उपवास कर पारणा - इस तरह निरन्तर उतरते-उतरते एक उपवास कर पारणा करने से द्वितीय आवलिका (लड़ी) पूरी होती है। पारणे के बाद पुनः द्वितीय दाड़िम के लिए पारणे के अंतर वाले आठ उपवास करे। इसके बाद तीन उपवास पारणा, दो उपवास पारणा और अंत में एक उपवास पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारणा करके द्वितीय काहलिका पूर्ण करे। इस तप में कुल ३३४ उपवास तथा ८८ पारणे होते है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक पूजा करके प्रतिमा को बृहत्मुक्तावली का हार पहनाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से विमल गुणों की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप हैं।

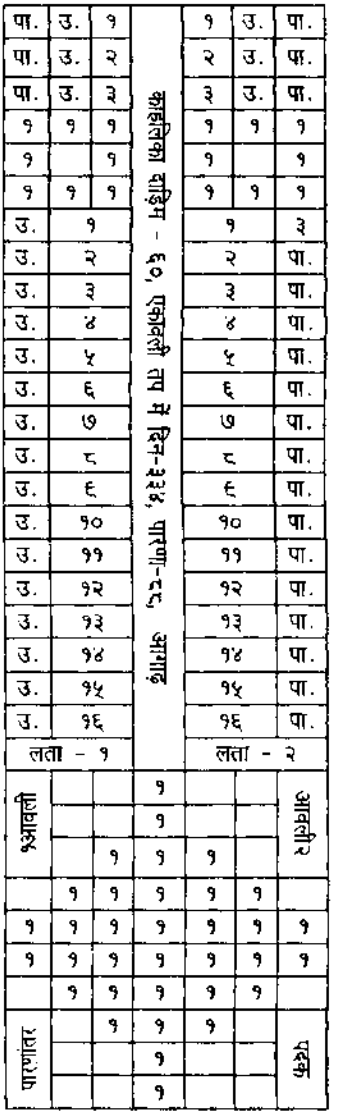

४६. दसविधयतिधर्म-तप -

अब दसविधयतिधर्म-तप की विधि बताते हैं -

"संयमादौ दशविधे धर्मे एकान्तरा अपि।

क्रियंत उपवासा उपवासा यत्तपः पूर्यते हि तैः।।१।।"

दस प्रकार के यतिधर्म की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, उसे दसविधयतिधर्म-तप कहते हैं। इस तप में एकान्तर दस उपवास करे।[1]

[1] मूलग्रन्थ में इस तप की विधि बताते हुए एकांतरसहित तेरह उपवास करने का निर्देश दिया गया है तथा यंत्र में एकान्तरसहित ६ उपवास का उल्लेख किया गया है। जबकि तप के नामानुसार तथा दस प्रकार के यतिधर्म की अपेक्षा से उपवास भी दस ही होने चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि से परमात्मा की पूजा करे। संघवात्सल्य तथा संघपूजा करे। इस तप के करने से विशुद्ध धर्म की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

यतिधर्म-तप, आगाढ़		
क्षान्ति	उ. १	पा.
मार्दव	उ. १	पा.
आर्जव	उ. १	पा.
मुक्ति	उ. १	पा.
तप	उ. १	पा.
संयम	उ. १	पा.
सत्य	उ. १	पा.
शौच	उ. १	पा.
आंकिचन्य	उ. १	पा.
ब्रह्मचर्य	उ. १	पा.

४७. पंचपरमेष्ठी-तप -

अब पंचपरमेष्ठी-तप की विधि बताते हैं-

"उपवासैकस्थाने आचाम्लैकाशने च निर्विकृतिः।

प्रतिपरमेष्ठी च षट्कं प्रत्याख्यानस्य भवतीदम्।।"

पंचपरमेष्ठी की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, उसे पंचपरमेष्ठी-तप कहते हैं। प्रथम परमेष्ठी के लिए प्रथम दिन उपवास, दूसरे दिन एकासन, तीसरे दिन आयम्बिल, चौथे दिन एकासन, पाँचवें दिन नीवि, छठवें दिन पूर्वार्द्ध और सातवें दिन आहार में आठ ग्रास ग्रहण करे - इसी प्रकार शेष चार परमेष्ठियों की आराधना के लिए करे - इस तरह पच्चीस दिनों में यह तप पूरा होता है।

इस तप के उद्यापन में ज्ञानपंचमी की भाँति ही पाँच-पाँच पुस्तकें आदि परमात्मा के समक्ष रखे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से सर्व विघ्नों का क्षय होता है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

पंचपरमेष्ठी-तप, आगाढ़							
नमो अरिहंताणं	उ.	ए.	आं.	ए.	नी.	पु.	आठ कवल
नमो सिद्धाणं	उ.	ए.	आं.	ए.	नी.	पु.	आठ कवल
नमो आयरियाणं	उ.	ए.	आं.	ए.	नी.	पु.	आठ कवल
नमो उवज्झायाणं	उ.	ए.	आं.	ए.	नी.	पु.	आठ कवल
नमो लोए सव्व साहूणं	उ.	ए.	आं.	ए.	नी.	पु.	आठ कवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४८. लघुपंचमी-तप -

अब लघुपंचमी-तप की विधि बताते हैं -

"लघुपंचम्यां द्वयशनादि पंचमासोत्तर तपः कृत्वा।
तत्पंचविधं समाप्तौ समाप्यते मांसपंचविंशत्या।१।।"

पंचमी के दिन किए जाने वाले तप को पंचमी-तप कहते हैं। यह तप श्रावण, भाद्रपद, आश्विन एवं कार्तिक, पौष एवं चैत्र - इन छः महीनों की सुदी (शुक्ल पक्ष) पंचमी से शुरू करे। फिर प्रत्येक शुक्ल पंचमी को निम्न उल्लेखानुसार तप करे। पुरुष एवं स्त्री जिनचैत्य में जाकर उत्तम जाति के विविध पुष्पों द्वारा परमात्मा की पूजा करे। उसके बाद पुस्तकरूपी ज्ञान की स्थापना कर विधिपूर्वक उसकी पुष्प आदि से पूजा करे। उसके आगे अखण्ड अक्षतों से स्वस्तिक बनाए तथा उसके ऊपर घृतपूर्ण पाँच बत्ती वाला देदीप्यमान दीपक रखे। उसके पास फल, नैवेद्य आदि चढ़ाए। तत्पश्चात् स्वयं के मस्तक पर गंध, अक्षत और चन्दन लगाए तथा गुरु के पास जाकर शुक्लपंचमी-तप प्रारम्भ करे। प्रथम पाँच माह की शुक्ल पंचमी को बियासना एवं द्वितीय पाँच मास की शुक्ल पंचमी को एकासन करे। इसके बाद तीसरे पाँच मासों की शुक्ल पंचमी को नीवि करे, उसके बाद चौथे एवं पाँचवें पाँच मासों की शुक्ल पंचमी को क्रमशः आयम्बिल एवं उपवास करे - इस प्रकार पच्चीस माह में यह तप पूरा होता है। किसी गच्छ में पच्चीस माह तक शुक्ल पंचमी को जिस तप से आरम्भ किया हो, वही तप करने की पद्धति है, अर्थात् बियासन, एकासन, नीवि, आयम्बिल या उपवास में से किसी भी तप से इस तप को प्रारम्भ किया हो, तो अन्त तक (२५ मास तक) वही तप करने का विधान है।

इस तप के उद्यापन में जिनप्रतिमा की बृहत्स्नात्रविधि से पूजा करे। पाँच-पाँच विविध प्रकार के पकवान, फल एवं मुद्राएँ चढ़ाए। पुस्तक के आगे, कवली, डोरी, रुमाल, पींछी, पाटी, नवकारवाली, वासक्षेप का बटुआ, कलम, दवात, मुखवस्त्रिका, छुरी, कैंची, नखकर्तरी, दण्ड, कम्बली, ठवणी, डोरी, ओघे का पाटा, छबड़ी, दीपक, अंगलूहणा, चंदन, वासक्षेप, चामर, आदि ये सभी वस्तुएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच-पाँच की संख्या में अष्टप्रकारी पूजापूर्वक पुस्तक के आगे रखे। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

लघुपंचमी-तप		
मास ५	बियासन	शुक्ल ५
मास ५	एकासन	शुक्ल ५
मास ५	नीवि	शुक्ल ५
मास ५	आयम्बिल	शुक्ल ५
मास ५	उपवास	शुक्ल ५

उद्यापन में साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है।

४९. बृहत्पंचमी-तप -

अब बृहत्पंचमी-तप की विधि बताते हैं -

"एवमेव तपो वर्ष पंचकं कुर्वतां नृणाम्।
बृहत्पंचमिकायास्तु तपः संपूर्यते किल।।१।।"

इस तप का आरम्भ एवं समापन लघुपंचमी-तप की भाँति ही करे। प्रथम वर्ष की शुक्ल पंचमी को बियासन करे, दूसरे वर्ष की शुक्ल पंचमी को एकासन, तीसरे वर्ष नीवि, चौथे वर्ष आयम्बिल और पाँचवें वर्ष की शुक्ल पंचमी को उपवास करे - इस तरह पाँच वर्ष में यह तप पूर्ण होता है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

४१. बृहत्पंचमी तप आगाढ		
वर्ष १	बियासणा	शुक्ल ५
वर्ष २	एकासणा	शुक्ल ५
वर्ष ३	नीवी	शुक्ल ५
वर्ष ४	आयम्बिल	शुक्ल ५
वर्ष ५	उपवास	शुक्ल ५

इस तप का उद्यापन लघुपंचमी-तप की भाँति ही करे, किन्तु उद्यापन में सभी वस्तुएँ पच्चीस-पच्चीस रखे। इस तप के करने से महाज्ञान की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

५०. चतुर्विधसंघ-तप -

अब चतुर्विधसंघ-तप की विधि बताते हैं -

"उपवासद्वयं कृत्वा ततः वत्सर संख्यया।
एकान्तरोपवासश्च पूर्णं संघ तपो भवेत्।।१।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विधसंघ की आराधना के लिए यह तप किया जाता है। इस तप में सर्वप्रथम निरन्तर दो उपवास करके पारणा करे। तत्पश्चात् एकान्तर पारणा करते हुए साठ उपवास करे। इस तप के उद्यापन में साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन होता है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप हैं। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

चतुर्विधसंघ-तप, आगाढ़, दिन-१२२											
२ उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
		उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.

५१. घन-तप -

अब घन-तप की विधि बताते हैं -

"एकद्वयेकद्वयेकयुग्मशशिसंख्ययोपवासैश्च।
पारणकान्तरितैरपि निरन्तरैः पूर्यतेऽत्र घनं।।१।।"

विविध अंकों की युक्ति से किए जाने वाले तप को घन-तप कहते हैं। इस तप में क्रमशः एक उपवास करके पारणा करे, फिर दो उपवास करके पारणा करे, पुनः इसी प्रकार एक उपवास करके पारणा करे और फिर दो उपवास करके पारणा करे। तत्पश्चात् पुनः दो उपवास, एक उपवास, दो उपवास, एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। इस प्रकार इस तप में कुल बारह उपवास एवं आठ पारणे होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक पूजा करके उपवास की संख्या के अनुसार, अर्थात् बारह-बारह फल, पुष्प एवं नैवेद्य आदि परमात्मा के आगे चढ़ाए, साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से महालक्ष्मी (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

घन-तप, आगाढ़			
उ. १	पा.	उ. २	पा.
उ. १	पा.	उ. २	पा.
उ. २	पा.	उ. १	पा.
उ. २	पा.	उ. १	पा.

५२. महाघन-तप -

अब महाघन-तप की विधि बताते हैं -

"महाघनतपः श्रेष्ठं एकद्वित्रिभिरेव हि।
उपवासैर्नवकृत्वः पृथकश्रेणिमुपागतैः।।१।।"

विविध संख्या की बाहुल्यता से यह महाघन-तप कहलाता है। इस तप की प्रथम श्रेणी में एक-दो-तीन उपवास एकान्तर पारणे से करे। द्वितीय श्रेणी में दो-तीन-एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। तृतीय श्रेणी में तीन-दो-एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। चौथी श्रेणी में दो-तीन-एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। पाँचवीं श्रेणी में तीन-एक-दो उपवास एकान्तर पारणे से करे। छठवीं श्रेणी में एक-दो-तीन उपवास एकान्तर पारणे से करे। सातवीं श्रेणी में दो-तीन-एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। आठवीं श्रेणी में तीन-एक-दो उपवास एकान्तर पारणे से करे। नवीं श्रेणी में दो-तीन-एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। इस प्रकार इस तप में ५४ उपवास और २७ पारणे होते हैं तथा कुल दिन ८१ होते हैं।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि से पूजा करके इक्यासी-इक्यासी पुष्प, फल, नैवेद्य आदि चढ़ाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप को करने से चक्रवर्ती की ऋद्धि प्राप्त होती है। यह

महाघन-तप, आगाढ़					
उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.
उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. १	पा.
उ. ३	पा.	उ. १	पा.	उ. २	पा.
उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. १	पा.
उ. ३	पा.	उ. १	पा.	उ. २	पा.
उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.
उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. १	पा.
उ. ३	पा.	उ. १	पा.	उ. २	पा.
उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. १	पा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप साधु एवं श्रावक - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास पूर्व पृष्ठ पर है।

५३. वर्ग-तप -

अब वर्ग-तप की विधि बताते हैं -

"एकद्वयेकयुग्म भूमियमलैरेकद्विभूमिद्विकैद्वर्येकद्वीन्दुयुगैकयुग्मधरणीयुग्मेन्दुयुग्मैककैः।

एकद्वयेकभुजद्विचन्द्रधरणीयुग्मैकयुग्मेन्दुभिद्वर्येकद्वयेकयुगैर्युगेन्दुधरणीयुग्मैकयुग्मेन्दुभिः।।१।।

द्विद्वयेकद्विमहीद्विभूमियुगलय्याय्याद्विभूमिद्वयैद्वर्येकद्वयेकमहीद्विचन्द्रयुगलैः श्रेण्यष्टकत्वं गतैः।

वर्गाख्यं तप उच्यते ह्यनशनैर्मध्योल्लसत्पारणैः सर्वत्रापिनिरन्तरैरपि दिनान्यस्मिन्खषट्भूमयः।।२।।"

वर्ग के आंकड़े की तरह जो तप किया जाता है, उसे वर्ग-तप कहते हैं। इस तप की प्रथम श्रेणी में क्रमशः एक, दो, एक, दो, दो, एक, दो एवं एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। द्वितीय श्रेणी में क्रमशः एक, दो, दो, एक, दो, एक, दो एवं एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। तीसरी श्रेणी में क्रमशः दो, एक, दो, एक, एक, दो, एक एवं एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। चौथी श्रेणी में क्रमशः दो, एक, एक, दो, एक, दो, एक एवं दो उपवास एकान्तर पारणे से करे। पाँचवीं श्रेणी में क्रमशः एक, दो, एक, दो, दो, एक, एक एवं दो उपवास एकान्तर पारणे से करे। छठवीं श्रेणी में क्रमशः एक, दो, एक, दो, दो, एक, दो एवं एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। सातवीं श्रेणी में दो, एक, दो, एक, एक, दो, दो एवं एक उपवास एकान्तर पारणे से करे। आठवीं श्रेणी में दो, एक, दो, एक, दो, एक, दो एवं एक उपवास एकान्तर पारणे से करे।

इस प्रकार आठ श्रेणियों के कुल ९६ उपवास से यह तप पूरा करे। इस तप में ६४ दिन पारणे के आते हैं। इस प्रकार इस तप में कुल १६० दिन होते हैं।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक १६०-१६० नैवेद्य, फल आदि परमात्मा के आगे चढाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे। इस तप से महाऋद्धि की प्राप्ति होती है। यह साधु एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

वर्ग-तप, आगाढ़, दिन संख्या - १६०															
उ.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१
उ.	१	पा.	२	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१
उ.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	२
उ.	२	पा.	१	पा.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	२
उ.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	२	पा.	१	पा.	१	पा.	२
उ.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१
उ.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	१	पा.	२	पा.	२	पा.	१
उ.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१	पा.	२	पा.	१

५४. श्रेणी-तप -

अब श्रेणी-तप की विधि बताते हैं -

"श्रेणौ षट्श्रेणयः प्रोक्ता, एको द्वौ प्रथमे क्षणे।
द्वितीयादिषु चैकांकक्रमवृद्धयाऽभिजायते।।१।।"

श्रेणी के अंकों द्वारा जो तप किया जाता है, उसे श्रेणी-तप कहते हैं। इस तप की प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम एक उपवास करके पारणा करे। फिर दो उपवास करके पारणा करे। दूसरी श्रेणी में प्रथम एक उपवास करके पारणा करे, फिर दो उपवास करके पारणा करे और फिर तीन उपवास करके पारणा करे। तीसरी श्रेणी में एक, दो, तीन और चार उपवास एकान्तर पारणे से करे। चौथी श्रेणी में एक, दो, तीन, चार और पाँच उपवास एकान्तर पारणे से करे। पाँचवीं श्रेणी में एक, दो, तीन, चार, पाँच और छः उपवास एकान्तर पारणे से करे। छठवीं श्रेणी में एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः और सात उपवास एकान्तर पारणे से करे। इस तरह छहों श्रेणियों के ८३ उपवास के दिन और २७ पारणे के दिन - कुल ११० दिनों में यह तप पूरा होता है।

इस तप के उद्यापन में ११०-११० पकवान, फल, पुष्प वगैरह बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा के आगे चढाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से क्षपकश्रेणी प्राप्त होती है। यह तप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

श्रेणी-तप, आगाढ़, उपवास-८३, पारणा-२७, कुल दिन ११०													
										उ. १	पा.	उ. २	पा.
								उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.
						उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. ४	पा.
				उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. ४	पा.	उ. ५	पा.
		उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. ४	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.
उ. १	पा.	उ. २	पा.	उ. ३	पा.	उ. ४	पा.	उ. ५	पा.	उ. ६	पा.	उ. ७	पा.

५५. मेरु-तप -

अब मेरु-तप की विधि बताते हैं -

"प्रत्येकं पंचमेरूणामुपोषणकपंचकम्।
एकान्तरं मेरूतपस्तेन संजायते शुभम्।।१।।"

मेरु-पर्व की संख्या के अनुसार जो तप किया जाता है, उसे मेरु-तप कहते हैं। इसमें पाँच मेरु को लक्ष्य में रखकर प्रत्येक मेरु के पाँच-पाँच उपवास एकान्तर पारणे से करे। इस तरह पच्चीस उपवास और पच्चीस पारणे मिलकर कुल ५० दिन में यह तप पूरा होता है।

पंचमेरु-तप, आगाढ़		
प्रथम मेरु	उ. ५	पा. ५
द्वितीय मेरु	उ. ५	पा. ५
तृतीय मेरु	उ. ५	पा. ५
चतुर्थ मेरु	उ. ५	पा. ५
पंचम मेरु	उ. ५	पा. ५

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक, स्वर्ण के पाँच मेरु बनवाकर परमात्मा के आगे रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से उत्तम पद की प्राप्ति होती है। यह साधु एवं श्रावक के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

५६. बत्तीस कल्याणक-तप -

अब बत्तीस कल्याणक-तप की विधि बताते हैं -

"उपवास त्रयं कृत्वा द्वात्रिंशदुपवासकाः।
एकभक्तान्तरास्तस्मादुपवासत्रयं वदेत्।।१।।

बत्तीस उपवास द्वारा किए जाने वाले कल्याणकों को बत्तीस कल्याणक कहते हैं। इसमें सर्वप्रथम निरन्तर तीन उपवास करके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकासन से पारणा करे। तत्पश्चात् एकांतर से पारणे में एकासन करते हुए बत्तीस उपवास करे और अंत में निरन्तर तीन उपवास करके पारणा करे - इस प्रकार यह तप अड़तीस उपवास के दिन और चौंतीस पारणा के दिन मिलाकर कुल ७२ दिनों में पूरा होता है।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा की पूजा करके बत्तीस- बत्तीस पकवान, फल आदि चढाए। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन होता है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

बत्तीस कल्याणक-तप, आगाढ़							
उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.
उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.
उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.
उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.
उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.
उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.
उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.
उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.	उ. १	पा.

५७. च्यवन-तप -

अब च्यवन-तप की विधि बताते हैं -

"चतुर्विंशतितीर्थेशानुद्दिश्य च्यवनात्मकम्।
विना कल्याणकदिनैः कार्यानशनपद्धतिः।।"

च्यवन को दृष्टिगत रखकर जो तप किया जाता है, उसे च्यवन-तप कहते हैं। इसमें चौबीस तीर्थंकरों को ध्यान में रखकर, उनके कल्याणक के दिनों का ध्यान रखे बिना, शक्ति के अनुसार एकांतर चौबीस उपवास करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा की पूजा कर उनके आगे २४-२४ पकवान, फल आदि चढ़ाए। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से सद्गति की प्राप्ति होती है। जन्म-तप भी इस प्रकार किया जाता है। यह दोनों तप साधु एवं श्रावक के करने योग्य अनागाढ़-तप हैं। इन दोनों तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च्यवन एवं जन्म-तप, अनागाढ़, दोनों के यंत्रो की आकृति समान ही है।											
उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.
ऋषभ.	पा.	अजित.	पा.	संभव.	पा.	अभिनंदन.	पा.	सुमति.	पा.	पद्मप्रभु.	पा.
सुपार्श्व.	पा.	चन्द्रप्रभु.	पा.	सुविधि.	पा.	शीतल.	पा.	श्रेयांस.	पा.	वासुपूज्य.	पा.
विमल.	पा.	अनंत.	पा.	धर्म.	पा.	शांति.	पा.	कुंथु.	पा.	अर.	पा.
मल्लि.	पा.	मुनिसु.	पा.	नमि.	पा.	नेमि.	पा.	पार्श्व.	पा.	वर्धमान	पा.

५८. सूर्यायण-तप -

अब सूर्यायण-तप की विधि बताते हैं -

सूर्य की तरह अयन, अर्थात् गति, अर्थात् कमी और वृद्धि से जो तप किया जाता है, उसे सूर्यायण-तप कहते हैं। यह तप वज्रमध्य तथा यवमध्य चांद्रायण-तप की भाँति ही करे, किन्तु इस तप का प्रारम्भ कृष्ण प्रतिपदा से ही करे।

इस तप के उद्यापन में चंद्र की जगह सूर्य बोले - शेष सब चांद्रायण-तप की भाँति ही करे। इस तप के करने से महाराज्यलक्ष्मी की प्राप्ति होती है। यह तप साधु एवं श्रावक - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

यवमध्य में सूर्यायण-तप, कृष्णपक्ष में हानि															
कृष्ण तिथि	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.
यवमध्य में सूर्यायण-तप, शुक्लपक्ष में वृद्धि															
शुक्ल तिथि	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.
वज्रमध्य में सूर्यायण-तप, कृष्णपक्ष में हानि															
कृष्ण तिथि	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.
वज्रमध्य में सूर्यायण-तप, शुक्लपक्ष में वृद्धि															
शुक्ल तिथि	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.	ग्रा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५६. लोकनाली-तप -

अब लोकनाली-तप की विधि बताते हैं -

"सप्तपृथ्व्यो मध्यलोकः कल्पा ग्रैवेयका अपि।
अनुत्तरा मोक्षशिला, लोकनालिरितीर्यते।।१।।
एकभक्तान्युपवास, एक भक्तानि नीरसाः।
आचाम्लान्युपवासाश्चक्रमात्तेषु तपः स्मृतं।।२।।"

लोकनाली के क्रम से जो तप किया जाता है, उसे लोकनाली-तप कहते हैं। इसमें रत्नप्रभादि सात नरक पृथ्वी को लक्ष्य में रखकर निरंतर सात एकासन करे। तत्पश्चात् मध्यलोक को लक्ष्य में रखकर एक उपवास करे। उसके बाद बारह कल्प को लक्ष्य में रखकर बारह एकासन करे। फिर नौ ग्रैवेयक को लक्ष्य में रखकर नौ नीवि करे। पाँच अनुत्तर विमान को लक्ष्य में रखकर पाँच आयम्बिल करे तथा सिद्धशिला को लक्ष्य में रखकर एक उपवास करे। इस तरह पैंतीस दिन में यह तप पूरा होता है। इसमें १६ एकासन, ६ नीवि, ५ आयम्बिल और २ उपवास होते हैं।

लोकनाली-तप	
उ. १	मुक्तिशिला
आं. १	सर्वार्थसिद्धि
आं. १	अपराजित
आं. १	जयंत
आं. १	वैजयंत
आं. १	विजय
५	पंचाणुत्तर
नी.	सुदर्शन
नी.	सुप्रतिबन्ध
नी.	मनोरम
नी.	सर्वतोभद्र
नी.	सुविशाल
नी.	सौम्यग्रे
नी.	सुमनस
नी.	प्रीतिकर
नी.	आदित्य
६	ग्रैवेयक
१२	द्वादशकल्प
ए. १	अच्युत
ए. १	आरुण
ए. १	प्राणत
ए. १	आणत
ए. १	सहस्रार
ए. १	शुक्र
ए. १	लांतक
ए. १	ब्रह्म
ए. १	माहेन्द्र
ए. १	सनत्कुमार
ए. १	ईशान
ए. १	सौधर्म
उ. १	मध्यलोक
७	नरक
ए. १	महातम
ए. १	तमःप्रभा
ए. १	धूमप्रभा
ए. १	पंकप्रभा
ए. १	वालुका
ए. १	शर्करा
ए. १	रत्नप्रभा

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा की पूजा करे। चाँदी की सात पृथ्वी, स्वर्ण का मध्यलोक, विविध मणि वाले बारह कल्प, नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान तथा स्फटिक की सिद्धशिला बनाकर उन पर स्वर्ण एवं रत्नों की स्थापना करे तथा ये सब परमात्मा के आगे पुरुष-प्रमाण अक्षत का ढेर करके उस पर रखे तथा नाना प्रकार के पकवान आदि चढ़ाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से परमज्ञान की प्राप्ति होती है। यह तप साधु एवं श्रावक के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६०. कल्याणक-अष्टाह्निका-तप -

अब कल्याणक-अष्टाह्निका-तप की विधि बताते हैं -

"नवभक्ताष्टकं कार्यमर्हत्कल्याणपंचके।
प्रत्येकं पूर्यते तच्च बृहदष्टाह्निका तपः।।१।।"

च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण - इन पाँच कल्याणकों से संयुक्त हुए आठ-आठ दिन का तप होने से कल्याणक-अष्टाह्निका-तप कहलाता है। इसमें ऋषभदेव आदि एक तीर्थंकर के एक-एक कल्याणक को लक्ष्य में रखकर आठ-आठ एकासन करने से चालीस एकासन से एक तीर्थंकर के कल्याणकों का तप पूरा होता है। इस तरह दूसरे तेईस तीर्थंकरों के कल्याणकों को लक्ष्य में रखकर चालीस-चालीस एकासन करने से ९६० दिन में यह कल्याणक-अष्टाह्निका-तप पूरा होता है। कदाचित् एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर के कल्याणक-तप के बीच में व्यवधान पड़े, तो कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु चालीस एकासन तो एक साथ ही करे।

इस तप के उद्यापन में एक सौ बीस-एक सौ बीस सर्वजाति के फल एवं पकवान बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा के आगे रखे। साधुओं को वस्त्र, अन्न-पान एवं वस्त्र का दान दे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से तीर्थंकर-नामकर्म का बन्ध होता है। यह तप साधु एवं श्रावक के करने योग्य अनागाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

अष्टाह्निका-तप, अनागाढ़ (एक जिनेश्वर के आश्रय से)									
ऋषभदेव के	च्यवन	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.
_"__"_	जन्म	"	"	"	"	"	"	"	"
_"__"_	व्रत	"	"	"	"	"	"	"	"
_"__"_	ज्ञान	"	"	"	"	"	"	"	"
_"__"_	निर्वाण	"	"	"	"	"	"	"	"

शेष अन्य जिनेश्वरों के तप की भी यही विधि है।

६१. आयम्बिलवर्धमान-तप -

अब आयम्बिलवर्धमान-तप की विधि बताते हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"उपवासान्तरितानि च शतपर्यंत तथैकमारभ्य।
वृद्ध्या निरन्तरतया भवति तदाचाम्लवर्धमानं च।।१।।"

आयंबिल द्वारा वृद्धि पाता हुआ जो तप किया जाता है, उसे आयंबिलवर्धमान-तप कहते हैं। इस तप में सर्वप्रथम एक आयंबिल करके उपवास करे, फिर दो आयंबिल करके उपवास करे - इस प्रकार एक-एक के बढ़ते क्रम से सौ आयंबिल करके उपवास करे। इस तरह यह तप चौदह वर्ष, तीन माह और बीस दिन में पूरा होता है। कुछ लोग इसके मध्य में पारणा भी करते हैं।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक चौबीस परमात्माओं की पूजा करे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के फल से तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन होता है। यह तप साधु एवं श्रावक - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

आचाम्लवर्धमान-तप, आगाढ़, वर्ष-१४, मास-३, दिन-२०																			
आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.
१	१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१	१०	१
११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१	१६	१	१७	१	१८	१	१९	१	२०	१
२१	१	२२	१	२३	१	२४	१	२५	१	२६	१	२७	१	२८	१	२९	१	३०	१
३१	१	३२	१	३३	१	३४	१	३५	१	३६	१	३७	१	३८	१	३९	१	४०	१
४१	१	४२	१	४३	१	४४	१	४५	१	४६	१	४७	१	४८	१	४९	१	५०	१
५१	१	५२	१	५३	१	५४	१	५५	१	५६	१	५७	१	५८	१	५९	१	६०	१
६१	१	६२	१	६३	१	६४	१	६५	१	६६	१	६७	१	६८	१	६९	१	७०	१
७१	१	७२	१	७३	१	७४	१	७५	१	७६	१	७७	१	७८	१	७९	१	८०	१
८१	१	८२	१	८३	१	८४	१	८५	१	८६	१	८७	१	८८	१	८९	१	९०	१
९१	१	९२	१	९३	१	९४	१	९५	१	९६	१	९७	१	९८	१	९९	१	१००	१

६२. माघमाला-तप -

अब माघमाला-तप की विधि बताते हैं -

"आरम्भ पोषदशमीपर्यन्ते माघशुक्लपूर्णायाः।
स्नात्वाऽर्हन्तं संपूज्य चैकभक्तं विद्ध्याच्च।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माघ माह में मालारूप में करने वाले तप को माघमाला-तप कहते हैं। पौष वदि (कृष्ण पक्ष) दशमी (खरतरगच्छ के अनुसार माघ वदि (कृष्ण पक्ष) दशमी) के दिन से आरम्भ करके माघ सुदी (शुक्ल पक्ष) पूर्णिमा तक यह तप करे। इस तप में नित्य स्नान करके अरिहंत की पूजा कर निरंतर एकासन करे - इस प्रकार चार वर्ष तक यह तप करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक स्वर्ण और मणिगर्भित घृत का मेरु बनाकर परमात्मा के आगे रखे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से परमसुख की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

माघमाला-तप, आगाढ प्रथम वर्ष में पौष वदि दशमी से माघ सुदी पूनम																					
ति.	द.	ए.	द्वा.	त्र.	च.	अ.	ए.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	ज.	द.	ए.	द्वा.	त्र.	च.	पू.
तप	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.
इसी प्रकार दूसरे, तीसरे एवं चौथे वर्ष में भी करे																					

६३. महावीर-तप -

अब महावीर-तप की विधि बताते हैं -

"महावीर तपो ज्ञेयं, वर्षाणि द्वादशैव च।
त्रयोदशैव पक्षाश्च, पंचकल्याण पारणे।।१।।"

श्री महावीरस्वामी ने छद्मस्थ अवस्था में जो तप किया, वह महावीर-तप कहलाता है। इसमें बारह वर्ष और तेरह पक्ष, अर्थात् साढ़े छः मास तक निरन्तर दस-दस उपवास पर पारणा करके यह तप पूर्ण करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक महावीरस्वामी की प्रतिमा के आगे स्वर्णमय वटवृक्ष रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से कर्मों का क्षय होता है। यह तप साधु एवं श्रावक - दोनों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर-तप, आगाढ़ (प्रथम वर्ष)															
उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.
उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.
उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.
उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.	उ.१०	पा.

इसी प्रकार १२ वर्ष एवं १३ पक्ष तक यह तप करे।

६४. लक्षप्रतिपद-तप -

अब लक्षप्रतिपद-तप की विधि बताते हैं -

"शुक्ल प्रतिपदः सूर्य संख्या एकासनादिभिः।
समर्थनीयास्तपसि लक्षपति पदाख्यके।।१।।"

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन यथाशक्ति एकासन आदि तप करके यह तप करे। इस तरह बारह प्रतिपदा, अर्थात् एक वर्ष में यह तप पूरा करे।

इस तप के उद्यापन में पूजापूर्वक परमात्मा के आगे एक लाख परिमाण का धान्य चढ़ाए। धान्य का परिमाण इस प्रकार है -

चावल पाँच मन एक पाइली, मूंग एक सई दो पाइली, मोठ एक सइ दो पाइली, जव दो सइ, तिल सात पाइली, गेहूँ आठ सइ, चवला तीन सइ, चना एक सइ, कांगु (चांवल की एक जाति) तीन मण, कोद्रव तीन मण, उडद पाँच मण, तुअर चार सइ, ज्वार पाँच सइ। (सइ = लगभग ४ किलो ५०० ग्राम, पाइली = ६०० ग्राम)

इस तप के करने से अनगणित अक्षय लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। यह श्रावक के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस प्रकार तपाधिकार में गीतार्थों द्वारा प्रतिपादित तप की विधि सम्पूर्ण होती हैं।

अब फल की आकांक्षा से किए जाने वाले तप की विधि बताते हैं। वह इस प्रकार है -

६५. सर्वांगसुन्दर-तप -

अब सर्वांगसुन्दर-तप की विधि बताते हैं -

"शुक्लपक्षेष्टोपवासा आचाम्लान्तरिताः क्रमात्।
विधीयन्ते तेन तपो भवेत्सर्वांगसुन्दरम्।।१।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस तप को करने से सम्पूर्ण अंग सुन्दर हो, वह सर्वांगसुन्दर-तप कहलाता है। इसमें प्रथम शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन उपवास करके पारणे में आयंबिल करे। फिर उपवास करके आयंबिल करे - इस प्रकार आठ उपवास और सात आयंबिल कर पन्द्रह दिन में यह तप पूर्ण करे। शक्ति के अनुसार क्षमा, संयमादि दस प्रकार के धर्मों का पालन करे तथा कषाय का त्याग करे।

पूर्णिमा के दिन इस तप का उद्यापन करे। बृहत्स्नात्रविधि से पूजा करके परमात्मा के आगे रत्नजड़ित स्वर्णमय पुरुष रखे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से सर्वांग सुन्दरता की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

सर्वांगसुन्दर-तप, आगाढ़, दिन-१५, पारणा प्रतिपदा में, शुक्लपक्ष में प्रारम्भ															
शुक्ल तिथि	प्र.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	न.	द.	ए.	द्वा.	त्र.	च.	पू.
	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.

६६. नीरूजशिख-तप -

अब नीरूजशिख-तप की विधि बताते हैं -

"तपोनीरूजशिखाख्यं विधेयं तद्वदेव हि।
नवरं कृष्ण पक्षे तु करणं तस्य शस्यते।।१।।"

नीरूज, अर्थात् रोगरहित जिसकी शिखा है, अर्थात् चूड़ा है, वह नीरूजशिख-तप कहलाता है। यह तप भी सर्वांगसुन्दर-तप की भाँति ही किया जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि यह तप कृष्णपक्ष में किया जाता है। इस तप के करने से आरोग्य की प्राप्ति होती है। यह तप श्रावकों को करने योग्य अनागाढ़-तप है। (उद्यापन-विधि पूर्व वर्णित तपवत् है।) इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

नीरूजशिख-तप, आगाढ़, दिन-१५, कृष्णपक्ष प्रतिप्रदा से अमावस्या तक															
कृष्ण तिथि	प्र.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	न.	द.	ए.	द्वा.	त्र.	च.	अमा.
	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.	आ.	उ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६७. सौभाग्यकल्पवृक्ष-तप -

अब सौभाग्यकल्पवृक्ष-तप की विधि बताते हैं -

"सौभाग्यकल्पवृक्षवस्तु चैत्रेऽनशनसंचयैः।
एकान्तरैः परकार्यस्तिथि चन्द्रादिके शुभे।।"

यह तप सौभाग्य देने में कल्पवृक्ष के समान है, अतः इसे सौभाग्यकल्पवृक्ष-तप कहते हैं। यह तप चैत्रमास (शुक्लपक्ष प्रतिपदा) में प्रारम्भ किया जाता है, सम्पूर्ण मास में एकान्तर उपवास करके यह तप करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक सोने एवं चांदी का परिपूर्ण कल्पवृक्ष बनाकर परमात्मा के आगे रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से सौभाग्य की प्राप्ति होती है। यह तप साधुओं[1] एवं श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

सौभाग्यकल्पवृक्ष-तप, आगाढ़, चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णिमा तक																
शुक्ल पक्ष	प्र.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	न.	द.	ए.	द्वा.	त्र.	च.	पू.	प्र.
तप	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.	उ.	पा.

६८. दमयन्ती-तप -

"दमयन्ता प्रतिजिनमाचाम्लान्येक विंशतिः।
कृतानि संततान्येव, दमयन्तीतपो हि तत्।।१।।"

दमयंती ने नल राजा के वियोगावस्था में यह तप किया था, इसलिए इसे दमयंती-तप कहते हैं। इस तप में प्रत्येक जिनेश्वर को लक्ष्य में रखकर बीस-बीस तथा शासन-देवता को लक्ष्य में रखकर एक-एक - इस तरह निरन्तर इक्कीस-इक्कीस आयंबिल करे। वर्तमानकाल की अपेक्षा से तथा शक्ति के न होने पर एक-एक

[1] मूलग्रन्थ में ये दोनों तप साधुओं के लिए भी करणीय हैं- ऐसा उल्लेख मिलता है, जो उचित नहीं है। चूँकि ये तप फल की आकांक्षा वाले हैं और साधु प्रायः कभी भी कोई तप फल की आकांक्षा से नहीं करते है; अतः ये तप श्रावकों के लिए ही करणीय होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर के आयम्बिल करने के बाद पारणा भी कर सकते हैं। इस तरह इस तप में ५०४ आयंबिल होते हैं।

इस तप के उद्यापन में आयम्बिल की संख्या के अनुसार, अर्थात् ५०४-५०४ विविध जाति के फल, पकवान एवं मुद्राएँ बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा के समक्ष रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से विपत्तियाँ दूर होती हैं। यह श्रावकों के करने योग्य अनागाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

कुल आ. - २१ दमयन्ती-तप, अनागाढ़, (इसी प्रकार अन्य तीर्थंकरों के तप की भी यही विधि है।)																						
ऋषभदेव	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.
	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१

६६. आयतिजनक-तप -

अब आयतिजनक-तप की विधि बताते हैं -

"कार्यं द्वात्रिंशदाचाम्लैः, स्वसत्त्वेन निरंतरैः।
एवं स्यादायतिशुभं, तप उद्यापनान्वितम्।।१।।"

आयति, अर्थात् परवर्तीकाल। जो तप कालान्तर में शुभत्व को प्रदान करे, उसे आयतिजनक-तप कहते हैं। यह तप निरंतर बत्तीस आयम्बिल करने से पूर्ण होता है।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक २४-२४ पुष्प, फल एवं पकवान परमात्मा के समक्ष रखे।[1] साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे।

इस तप के करने से उत्तरकाल में शुभत्व की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

[1] मूलपाठ में २४-२४ की संख्या-परिमाण में वस्तुएँ चढ़ाने का उल्लेख है, जबकि आयम्बिल की संख्या अनुसार इनकी भी संख्या ३२-३२ ही होनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयतिजनक-तप, आगाढ़, (इसमें निरन्तर ३२ आयम्बिल करे)															
आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.	आं.
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१

७०. अक्षयनिधि तप -

अब अक्षयनिधि-तप की विधि बताते हैं -

"घटं संस्थाप्य देवाग्रे गन्धपुष्पादिपूजितं।
तपो विधीयते पक्षं, तदक्षयनिधिः स्फुटं।।१।।

अक्षयनिधि अक्षयभंडार की तरह होने से इस तप को अक्षयनिधि-तप कहते हैं। इस तप को भाद्रपद वदि (कृष्ण पक्ष) चतुर्थी को प्रारम्भ करे। उस दिन जिनेश्वरदेव की प्रतिमा के आगे गाय के गोबर से भूमि को शुद्ध करके तथा उस पर गँहुली करके स्वर्ण, मणि, मुक्ताफल, सुपारी आदि से गर्भित घट की स्थापना करे। तत्पश्चात् एक पक्ष तक उसकी नित्य पूजा करे। जिनेश्वर परमात्मा को तीन प्रदक्षिणा करके कुंभ में अंजलि भर अक्षत प्रतिदिन डाले। कुंभ के पास नैवेद्य रखे। प्रतिदिन अपनी शक्ति के अनुसार बियासन, एकासन आदि का प्रत्याख्यान करे एवं नृत्यगीतोत्सव आदि करते हुए पर्यूषणपर्यंत यह तप करे - इस तरह यह तप चार वर्ष में पूर्ण होता है।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक विविध जाति के पकवान आदि परमात्मा के समक्ष रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप को करने से सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

अक्षयनिधि-तप की दूसरी विधि -

अक्षत की मुष्टि प्रतिदिन कुंभ में डाले, जितने दिन में कुंभ भरे उतने दिन तक प्रतिदिन एकासन-तप करे। यह श्रावकों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

अक्षयनिधि-तप, भाद्रपद वदि चतुर्थी से सुदि चतुर्थी तक																
तिथि	च.	प.	ष.	स.	अ.	न.	द.	ए.	द्वा.	त्र.	च.	अ.	ए.	द्वि.	तृ.	च.
तप	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.	ए.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७१. मुकुटसप्तमी-तप -

अब मुकुटसप्तमी-तप की विधि बताते हैं -

"आषाढ़ादि च पौषान्तं सप्तमासान् शितिष्वपि।
सप्तमीषूपवासाश्च विधेयाः सप्त निश्चितम्।।१।।"

मुकुट उद्यापन द्वारा सप्तमी सम्बन्धी जो तप किया जाता है, उसे मुकुटसप्तमी-तप कहते हैं। इस तप में आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष एवं पौष मास की कृष्णपक्ष की सप्तमी के दिन उपवास करे। इसमें अनुक्रम से १. विमलनाथ २. अनंतनाथ ३. चन्द्रप्रभु अथवा शांतिनाथ ४ नेमिनाथ ५. ऋषभदेव ६. महावीरस्वामी एवं ७. पार्श्वनाथ - इन सात तीर्थंकरों की बृहत्स्नात्रविधि से पूजा करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक चाँदी की लोकनाली के ऊपर स्वर्णमय एवं रत्नमय मुकुट बनवाकर परमात्मा के समक्ष रखे। उपवास की संख्या के अनुसार सात-सात पकवान एवं फल परमात्मा के आगे चढाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप को करने से वांछित वस्तु की प्राप्ति होती है। यह तप श्रावकों को करने योग्य आगाढ तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

मुकुटसप्तमी-तप, आगाढ़		
आषाढ़ वदि ७	विमलनाथ	उपवास १
श्रावण वदि ७	अनंतनाथ	उपवास १
भाद्रपद वदि ७	चन्द्रप्रभु या शान्तिनाथ	उपवास १
आश्विन वदि ७	नेमिनाथ	उपवास १
कार्तिक वदि ७	आदिनाथ	उपवास १
मार्गशीर्ष वदि ७	महावीर	उपवास १
पौष वदि ७	पार्श्वनाथ	उपवास १

७२. अम्बातप-विधि -

अब अम्बा-तप की विधि बताते हैं -

"शुक्लादिपंचमीष्वेव पंचमासेषु वै तपः।
एकभक्तादि वै कार्यमम्बापूजनपूर्वकं।।१।।"

अम्बादेवी की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, उसे अम्बा-तप कहते हैं। इस तप में पाँच मास की शुक्ल पंचमी को नेमिनाथ भगवान एवं अम्बिकादेवी की पूजापूर्वक यथाशक्ति तप करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप के उद्यापन में उत्तम धातुओं की अम्बादेवी की मूर्ति बनवाकर उसकी स्थापना करे। "कल्प" में कहे गए अनुसार हमेशा उसकी पूजा करे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप को करने से अंबादेवी से वरदान प्राप्त होता है। यह श्रावकों को करने का आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है-

अम्बा तप आगाढ मास-५		
मास १	शुक्ल पंचमी	उपवास
मास २	शुक्ल पंचमी	उपवास
मास ३	शुक्ल पंचमी	उपवास
मास ४	शुक्ल पंचमी	उपवास
मास ५	शुक्ल पंचमी	उपवास

७३. श्रुतदेवता-तप -

अब श्रुतदेवता-तप की विधि बताते हैं -

"एकादशेषु शुक्लेषु पक्षेष्वेकादशेषु च।
यथाशक्ति तपः कार्यं वाग्देव्यर्चनपूर्वकं।।१।।"

श्रुतदेवता की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, उसे श्रुतदेवता-तप कहते हैं। इसमें ग्यारह शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन श्रुतदेवी की पूजा तथा यथा-शक्ति तप करे।

इस तप के उद्यापन में श्रुतदेवी की मूर्ति बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करे तथा विधिपूर्वक पूजा करे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से श्रुत की प्राप्ति होती है। यह तप श्रावक के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

श्रुतदेवता-तप, आगाढ़		
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास
श्रुतदेवता	शुक्ल एकादशी	उपवास

७४. रोहिणी-तप -

अब रोहिणी-तप की विधि बताते हैं -

"रोहिण्यां च तपः कार्यं वासुपूज्यार्चनायुतं।
सप्तवर्षं सप्तमासीमुपवासादिभिः परम्।।१।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोहिणी नक्षत्र में किए जाने वाले तप को रोहिणी-तप कहते हैं। अक्षय तृतीया के दिन, अथवा उसके आगे पीछे जब रोहिणी नक्षत्र हो, उस समय वासुपूज्य भगवान की पूजापूर्वक यह तप प्रारम्भ करे। तत्पश्चात् रोहिणी नक्षत्र के आने पर सात वर्ष सात मास तक शक्ति के अनुसार उपवास, आयम्बिल, नीवि आदि तप करे। यदि एक भी रोहिणी नक्षत्र भूल से रह जाए, तो फिर से आरम्भ करे।

इस तप के उद्यापन में श्री वासुपूज्य भगवान की प्रतिमा के आगे बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक स्वर्णमय अशोकवृक्ष रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से अविधवापन तथा सौभाग्य-सुख की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

रोहिणी तप आगाढ		
रोहिणी	वर्ष ७, मास ७	उपवास

७५. मातर-तप -

अब मातर-तप की विधि बताते हैं -

"भाद्रस्य शुक्ल पक्षे तु प्रारम्भ सप्तमीं तिथिं।
त्रयोदश्यन्तमाधेयं तपो मातरिसंज्ञंकं।।१।।"

तीर्थंकर भगवंतों की माता की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, उसे मातर-तप (मातृतप) कहते हैं। इसे भाद्रपद सुदी (शुक्ल पक्ष) सप्तमी के दिन प्रारम्भ कर सुदी (शुक्ल पक्ष) त्रयोदशी तक दूध, दही, घी, दही-भात, क्षीर, लापसी और घेवर या मालपुए द्वारा जिनमाताओं की पूजा करके यथाशक्ति एकभक्त आदि तप करे। इस प्रकार यह तप सात वर्ष तक करे।

हर दो-दो वर्ष में इस प्रकार से उद्यापन करे। भाद्रपद सुदी (शुक्ल पक्ष) चतुर्दशी के दिन चौबीस-चौबीस मालपुए, दाड़िम आदि विविध जाति के फल, खिचड़ी का पात्र जिनमाताओं के समक्ष रखे। पुत्रवाली चौबीस श्राविकाओं को वस्त्र, अंगराग, ताम्बूल आदि प्रदान करे। तत्पश्चात् सातवें वर्ष के उद्यापन में जिनमाता के आगे सप्तमी के दिन तेल, अष्टमी को घी, नवमी को पकवान, दशमी को गाय का दूध, एकादशी को दही, द्वादशी को गुड़, त्रयोदशी को खिचड़ी, बड़ी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कणिक (आटा), हरड़, धनिया, मेथी, गोंद, नेत्रांजन, सलाई, सात-सात पान-सुपारी आदि रखे। पुत्रवती श्राविका को श्रीफल प्रदान करे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से पुत्र की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

मातर तप आगाढ			
१ वर्ष	भाद्रपद शुक्ल	७/८/९/१०/११/१२/१३	ए.
२ वर्ष	भाद्रपद शुक्ल	७/८/९/१०/११/१२/१३	ए.
३ वर्ष	भाद्रपद शुक्ल	७/८/९/१०/११/१२/१३	ए.
४ वर्ष	भाद्रपद शुक्ल	७/८/९/१०/११/१२/१३	ए.
५ वर्ष	भाद्रपद शुक्ल	७/८/९/१०/११/१२/१३	ए.
६ वर्ष	भाद्रपद शुक्ल	७/८/९/१०/११/१२/१३	ए.
७ वर्ष	भाद्रपद शुक्ल	७/८/९/१०/११/१२/१३	ए.

७६. सर्वसुखसंपत्ति-तप -

अब सर्वसुखसंपत्ति-तप की विधि बताते हैं -

"एकादिवृद्धया तिथिषु, तप एकासनादिकम्।
विधेयं सर्वसंपत्ति सुखे, तपसि निश्चितं।।"

सर्व सुखसंपत्ति का कारण होने से इस तप को सर्वसुखसंपत्ति-तप कहते हैं। इस तप में प्रतिपदा को एक एकासन करे। दूसरे पक्ष में द्वितीया से दो एकासन करे, तीसरे पक्ष में तृतीया से तीन एकासन करे - इस प्रकार क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पन्द्रहवें पक्ष में पूर्णिमा से पंद्रह एकासन करे। यदि कारणवश कोई तिथि भूल जाए, तो तप का आरम्भ पुनः करे। इस तरह यह तप १२० दिन में पूरा होता है।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक १२०-१२० विविध फल एवं पकवान चढ़ाए। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से सुख की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

सर्वसुख संपत्ति तप, आगाढ, कुल दिन-१२०															
तिथि	प्र.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	षं.	स.	अ.	न.	द.	ए.	द्वा.	त्र.	च.	पू.
तप (एकासन)	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७७. अष्टापदपावड़ी-तप -

अब अष्टापदपावड़ी-तप की विधि बताते हैं -

"अश्विनाष्टाह्निकास्वेव यथाशक्तितपःक्रमै।
विधेयमष्टवर्षाणि तपः अष्टापदः परं।।१।।"

अष्टापद पर्वत पर चढ़ने के लिए जो तप किया जाता है, उसे अष्टापदपावड़ी-तप कहते हैं। इस तप में आश्विनसुदी अष्टमी से पूर्णिमा तक के आठ दिनों में यथा-शक्ति उपवास, एकासन आदि तप करे। (प्रथम ओली में) परमात्मा के आगे सोने की सीढ़ी बनवाकर रखे तथा उसकी अष्टप्रकारी पूजा करे। इस तरह आठ वर्ष तक आठ सीढ़िया बनाए। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

अष्टापदपावड़ी-तप, आगाढ़										
१ वर्ष	सुदी आश्विन	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	ए.
१ वर्ष	सुदी आश्विन	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	ए.
१ वर्ष	सुदी आश्विन	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	ए.
१ वर्ष	सुदी आश्विन	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	ए.
१ वर्ष	सुदी आश्विन	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	ए.
१ वर्ष	सुदी आश्विन	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	ए.
१ वर्ष	सुदी आश्विन	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	ए.
१ वर्ष	सुदी आश्विन	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	ए.

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि से चौबीस-चौबीस विभिन्न जाति के पकवान एवं फल परमात्मा के आगे रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप से दुर्लभ मोक्षपद की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

७८. मोक्षदण्ड-तप -

अब मोक्षदण्ड-तप की विधि बताते हैं -

"यावन्मुष्टिप्रमाणं स्याद्गुरुदण्डस्य तावतः।
विदधीतैकान्तराश्चोपवासान् सुसमाहितः।।१।।"

मोक्षदण्ड सम्बन्धी तप को मोक्षदण्ड-तप कहते हैं। इसमें गुरु का दण्ड (डंडा) जितनी मुष्टिप्रमाण का होता है, उतने एकान्तर उपवास करे। उपवास के दिन गुरु के दण्ड की चंदन से पूजा करे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा गुरु को वस्त्र प्रदान करे। श्रीफल और अक्षत दण्ड के समीप रखे। दण्ड की जितनी मुष्टियाँ हो, उस परिमाण में विविध जाति के फल, मुद्रा, पकवान एवं रत्न आदि भी रखे। साधर्मिकवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से विपत्तियाँ दूर होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

मोक्षदण्ड-तप, आगाढ़																							
२४ मुष्टि	उ. १	उ. २	उ. ३	उ. ४	उ. ५	उ. ६	उ. ७	उ. ८	उ. ९	उ. १०	उ. १२	उ. १३	उ. १४	उ. १५	उ. १६	उ. १७	उ. १८	उ. १९	उ. २०	उ. २१	उ. २२	उ. २३	उ. २४
		पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.	पा.

७९. अदुःखदर्शी-तप -

अदुःखदर्शी-तप की विधि इस प्रकार हैं -

"शुक्लपक्षेषु कर्त्तव्याः क्रमात्पंचदशस्वपि।
उपवासस्तिथिष्वेवं पूर्यते विधिनैव तत्।।१।।"

जिससे दुःख देखना नहीं पड़े, अर्थात् जिस तप के करने से व्यक्ति को कभी दुःख का सामना नहीं करना पड़े, उसे अदुःखदर्शी-तप कहते हैं।

इसमें प्रथम मास में शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को उपवास करे, फिर दूसरे मास में सुदी (शुक्ल पक्ष) द्वितीया को उपवास करे - इस प्रकार क्रमशः पन्द्रहवें मास में पूर्णिमा को उपवास करे। इस तरह कुल पंद्रह उपवास से यह तप पूरा होता है। यदि कोई तिथि भूल जाए, तो तप को फिर से प्रारम्भ करे।

इस तप के उद्यापन में ऋषभदेव की पूजा करे। चाँदी का वृक्ष बनवाकर उसकी शाखा में स्वर्ण का पालना बांधे। उस पालने में सूत की गादी रखे। उस पर स्वर्ण की पुतली बनवाकर सुलाए। पंद्रह-पंद्रह पकवान एवं फल चढ़ाए। पंद्रह माह तक तप की तिथियों पर नए-नए नैवेद्य पकवान एवं फल आदि परमात्मा के समक्ष चढ़ाए। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से सर्व दुःखों का नाश होता है। यह तप श्रावकों को करने योग्य आगाढ़-तप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तप की दूसरी विधि के अनुसार तिथि का विचार किए बिना एक दिन के अंतर से उपवास करके यह तप करे। शेष सभी, अर्थात् उद्यापन वगैरह पूर्ववत् ही करे। यह द्वितीय प्रकार का अदुःखदर्शी आगाढ़-तप हैं।

अदुःखदर्शी-तप, आगाढ़						अदुःखदर्शी-तप (द्वितीय विधि) आगाढ़					
मास	तिथि	उप.	मास	तिथि	उप	दिन	उप.	पा.	दिन	उप.	पा.
प्रथम मास शुक्ल	१	१	अष्टम मास शुक्ल	८	१	प्र.	१	पा.	अ.	१	पा.
द्वितीय -"-"-	२	१	नवम -"-"-	९	१	द्वि.	१	पा.	न.	१	पा.
तृतीय -"-"-	३	१	दशम -"-"-	१०	१	तृ.	१	पा.	द.	१	पा.
चतुर्थ -"-"-	४	१	एकादश -"-"-	११	१	च.	१	पा.	ए.	१	पा.
पंचम -"-"-	५	१	द्वादश -"-"-	१२	१	पं.	१	पा.	द्वा.	१	पा.
षष्ठं -"-"-	६	१	त्रयोदश -"-"-	१३	१	ष.	१	पा.	त्र.	१	पा.
सप्तं -"-"-	७	१	चतुर्दश -"-"-	१४	१	स.	१	पा.	च.	१	पा.
			पंचदश -"-"-	१५	१				पू.	१	पा.

८०. गौतमपात्र (पड़धा)-तप -

गौतमपड़धा-तप की विधि इस प्रकार हैं -

"एकासु पंचदशसु, स्वशक्तेरनुसारतः।
तपः कार्यं गौतमस्य, पूजाकरण पूर्वकम्।।१।।"

गौतमस्वामी के पात्र को लक्ष्य में रखकर जो तप किया जाता है, उसे गौतमपात्र (पड़धा)-तप कहा जाता है। पन्द्रह मास की पूर्णिमा को यथाशक्ति प्रत्याख्यान करके गौतमस्वामी की पूजा करे।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक महावीरस्वामी एवं गौतमस्वामी की पूजा करे। चाँदी के पात्र तथा काष्ठमय पात्र में क्षीर भरकर झोलीसहित गुरु को प्रदान करे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से विविध लब्धियों की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

गौतम (पड़धा)-तप, आगाढ़															
मास	चैत्र	वै.	ज्ये.	आ.	श्रा.	भा.	आ.	का.	मा.	पौ.	माघ	फा.	चै.	वै.	ज्ये.
शुक्ल	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.	पू.
तप	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.

नोट - यंत्र में यह तप चैत्र मास की पूर्णिमा से प्रारम्भ किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८१. निर्वाणदीप-तप -

निर्वाणदीप-तप की विधि इस प्रकार है -

"वर्षत्रयं दीपमाला पूर्वे मुख्ये दिनद्वये।
उपवासद्वयं कार्यं दीप प्रस्तारपूर्वकं।।१।।"

निवार्ण-मार्ग में दीपक के सदृश होने से इस तप को निर्वाणमार्ग-तप कहते हैं। इस तप में दीपावली की चतुर्दशी एवं अमावस्या - इन दो दिन में निरन्तर दो उपवास करे। इन दोनों दिन, दिन में श्री महावीरस्वामी की प्रतिमा के आगे अखंड अक्षत चढ़ाए एवं रात्रि में अखंड घी का दीपक रखे।

इस तप के उद्यापन में तीसरे वर्ष के अन्त में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक महावीरस्वामी की पूजा कर एक हजार घी के दीपक रखे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

निर्वाणदीप-तप, आगाढ़					
वर्ष	मास	तिथि	तप	तिथि	तप
१	कार्तिक वदि	१४	उपवास	१५	उपवास
२	कार्तिक वदि	१४	उपवास	१५	उपवास
३	कार्तिक वदि	१४	उपवास	१५	उपवास

८२. अमृताष्टमी-तप -

अमृताष्टमी-तप की विधि इस प्रकार है -

"शुक्लाष्टमीषु चाष्टासु, आचाम्लादितपांसि च।
विदधीत स्वशक्त्या च, ततस्तत्पूरणं भवेत्।।१।।"

अमृत जल से अभिषेकपूर्वक किए जाने वाले अष्टमी के तप को अमृताष्टमी-तप कहते हैं। यह तप शुक्लपक्ष की आठ अष्टमी[1] के

[1] मूलग्रन्थ में आठ अष्टमी करने का निर्देश है, जबकि मूलग्रन्थ के यंत्र में ही ६ अष्टमी करने का निर्देश दिया गया है। नाम के अनुसार यह तप आठ अष्टमी तक ही करना चाहिए। ऐसा मानकर हमने यहाँ यंत्र में आठ अष्टमी का निर्देश किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन आयम्बिल आदि तप द्वारा करे। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

अमृताष्टमी-तप, आगाढ़								
पक्ष	तिथि	तप	पक्ष	तिथि	तप	पक्ष	तिथि	तप
शुक्ल	८	उप.	शुक्ल	८	उप.	शुक्ल	८	उप.
शुक्ल	८	उप.	शुक्ल	८	उप.	शुक्ल	८	उप.
शुक्ल	८	उप.	शुक्ल	८	उप.			

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधि पूर्वक घृत तथा दूध से भरे हुए दो कलश तथा एक मन का मोदक परमात्मा के आगे रखे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से आरोग्य की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों को करने योग्य आगाढ़-तप है।

८३. अखण्डदशमी-तप -

अखण्डदशमी-तप की विधि इस प्रकार है -

"शुक्लासु दशसंख्यासु, निजशक्त्या तपोविधिम्।
विदधीत ततः पूर्तिस्तस्य संपद्यते क्रमात्।।१।।"

दशमी के दिन अखण्डित धारापूर्वक जो तप किया जाता है, उसे अखण्डदशमी तप कहते हैं। इस तप में शुक्लपक्ष की दशमी के दिन अपनी शक्ति के अनुसार एकासन आदि तप करे। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

अखण्डदशमी तप, आगाढ़					
पक्ष	तिथि	तप	पक्ष	तिथि	तप
शुक्ल	१०	उप.	शुक्ल	१०	उप.
शुक्ल	१०	उप.	शुक्ल	१०	उप.
शुक्ल	१०	उप.	शुक्ल	१०	उप.
शुक्ल	१०	उप.	शुक्ल	१०	उप.

इस तप के उद्यापन में दस-दस पकवान, फल आदि परमात्मा के आगे रखे। अखण्ड अक्षतपूर्वक (स्वस्तिक बनाकर) नैवेद्य रखे। अखण्ड वस्त्र पहनकर चैत्य की भमती में घी की तीन अखण्ड धारा दे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से अखण्ड सुख की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८४. परत्रपाली-तप -

परत्रपाली-तप की विधि इस प्रकार हैं -

"पंचवर्षाणि वीरस्य, कल्याणकसमाप्तितः।
उपवासत्रयं कृत्वाः, द्वात्रिंशदरसांश्चरेत्।।१।।"

परलोक के लिए पालने जैसे तप को परत्रपाली-तप कहते हैं। इस तप में दीपावली के दिन से आरम्भ करके प्रथम तीन दिन निरन्तर तीन उपवास (तेला) करे। तत्पश्चात् निरंतर बत्तीस नीवि करे। इस प्रकार पाँच वर्ष में यह तप पूर्ण होता है। कुछ आचार्य यहाँ एकान्तर उपवास करने के लिए भी कहते हैं। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

परत्रपाली-तप, आगाढ़, दिन-३५						
उप.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
उ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
उ.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.
नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.	नी.

इस तप के उद्यापन में हर वर्ष थाल में एक सेर लापसी की पाल करके बीच में सुगंधित घी से उसे पूर्ण करके परमात्मा के आगे रखे। पाँचवे वर्ष के अन्तिम उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा की पूजा करे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से परलोक में सद्गति प्राप्त होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

८५. सोपान (पावड़ी)-तप -

सोपान (पावड़ी)-तप की विधि इस प्रकार है -

"सप्ताष्टनवदशभिस्तद्गुणैस्तिथिसंक्रमैः।
दत्तिभिः पूर्यते चैव सोपान तप उत्तमं।।१।।"

मोक्षमार्ग पर आरोहण करने के लिए सोपान सदृश होने से इस तप को सोपान-तप कहते हैं। इस तप में चार प्रतिमाएँ वहन की जाती हैं - १. सात सप्तमिका २. आठ अष्टमिका ३. नौ नवमिका और ४. दस दसमिका।

सर्वप्रथम सात सप्तमिका-तप में सात दिवस की एक ओली - ऐसी सात ओली ४९ दिन में पूरी होती है। इसमें पहले सात दिन की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओली में हमेशा एक-एक दत्ति ग्रहण करे, दूसरी ओली में प्रतिदिन दो-दो दत्ति ग्रहण करे, तीसरी ओली में प्रतिदिन तीन-तीन दत्ति ग्रहण करे, चौथी ओली में प्रतिदिन चार-चार दत्ति ग्रहण करे - इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते सातवीं ओली में सात दिन तक प्रतिदिन सात-सात दत्ति ग्रहण करे।

दूसरी आठ अष्टमिका में आठ दिवस की एक ओली - ऐसी आठ ओली करने से ६४ दिन में यह दूसरी प्रतिमा पूरी होती है। इसमें पहले आठ दिन की ओली में प्रतिदिन एक-एक दत्ति ग्रहण करे। दूसरी ओली में प्रतिदिन दो-दो दत्ति ग्रहण करे। इस तरह बढ़ते-बढ़ते आठवीं ओली में प्रतिदिन आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करे।

तीसरी नौ नवमिका प्रतिमा में नौ दिवस की एक ओली - ऐसी नौ ओली करने से यह तीसरी प्रतिमा ८१ दिन में पूरी होती है। इसमें पहले नौ दिन की ओली में प्रतिदिन एक-एक दत्ति ग्रहण करे - इस प्रकार पूर्ववत् बढ़ते-बढ़ते नवीं ओली में नौ दिन तक प्रतिदिन नौ-नौ दत्ति ग्रहण करे। चौथी दस दसमिका प्रतिमा में दस दिवस की एक ओली - ऐसी दस ओली करने से चौथी प्रतिमा १०० दिन में पूरी होती है। इसमें भी पहले दस दिन की ओली में प्रतिदिन एक-एक दत्ति ग्रहण करे- इस प्रकार पूर्ववत् बढ़ते क्रम से दसवीं ओली में दस दिन तक प्रतिदिन दस-दस दत्ति ग्रहण करे।

इस प्रकार ये चारों प्रतिमाएँ नौ माह और चौबीस दिन में पूरी होती है।

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक विविध जाति के पकवान एवं फल आदि परमात्मा के समक्ष रखे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। यह तप श्रावकों को करने योग्य आगाढ़-तप है। इस तप की चारों प्रतिमाओं के यंत्रों का न्यास इस प्रकार है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोपान-तप, सप्तसप्तमिका-तप, आगाढ़								दूसरी अष्टअष्टमिका, आगाढ़-तप								
	प्र.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.		प्र.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.
दिन	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	दिन	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३
४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४
५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५
६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६
७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७
								८	८	८	८	८	८	८	८	८

नौ नवमिका-तप, आगाढ़										दस दसमिका-तप, आगाढ़										
	प्र.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	न.		प्र.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	न.	दस.
दिन	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	दिन	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.	ओ.
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३
४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४
५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५
६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६
७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७
८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८
९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९
										१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०

८६. कर्मचूर्ण-तप -

कर्मचूर्ण-तप की विधि इस प्रकार हैं -

"उपवास त्रयं कुर्यादादावन्ते निरन्तरं।
मध्येषष्टिमितान्कुर्यादुपवासाश्च सान्तरान्।।१।।"

चारों (घाती) कर्मों का क्षय करने के लिए जो तप किया जाता है, उसे कर्मचूर-तप कहते हैं। इस तप में सर्वप्रथम निरन्तर तीन उपवास करके पारणा करे, तत्पश्चात् एकान्तर एकासनसहित साठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपवास करे, फिर अन्त में निरन्तर तीन उपवास करे। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

कर्मचूर्ण-तप, आगाढ़ , कुल दिन-१२८													
उ. ३	पा.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.
उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ.	ए.	उ. ३	ए.		

इस तप के उद्यापन में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक चाँदी का वृक्ष बनवाकर तथा स्वर्ण की कुल्हाड़ी बनवाकर परमात्मा के समक्ष रखे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से कर्मों का क्षय होता है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

८७. नमस्कारफल-तप -

नमस्कारफल-तप की विधि इस प्रकार हैं -

"कृत्वा नवैकभक्तानि तदुद्यापनमेव च।
शक्तिहीनैर्निधेयं च पूर्ववत्तत्समापनम्।।"

नमस्कार का फल देने वाला होने से इसे नमस्कारफल-तप कहते हैं। इस तप में शक्तिहीन मनुष्य, जो ६८ एकासन करने में असमर्थ है, उनसे नमस्कार-मंत्र के पद के अनुसार नौ एकासन करना चाहिए। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

नमस्कारफल-तप	
नमो अरिहंताणं	ए.
नमो सिद्धाणं	ए.
नमो आयरियाणं	ए.
नमो उवज्झायाणं	ए.
नमो लोए सव्वसाहूणं	ए.
एसो पंच नमुक्कारो	ए.
सव्वपावप्पणासणो	ए.
मंगलाणंचसव्वेसिं	ए.
पढमं हवइ मंगलं	ए.

इस तप के उद्यापन की सम्पूर्ण विधि पूर्व में बताए गए (अर्थात् तपसंख्या ३५ में बताए गए) अनुसार करे। इस तप को करने से प्राप्त होने वाला फल भी पूर्ववत् ही है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८८. अविधवादशमी तप -

अविधवादशमी-तप की विधि इस प्रकार है -

"भाद्रपदशुक्लदशमी दिन एकासनमथो निशायां च।
अंबापूजनजागरणकर्मणी सुविधिना कुर्यात्।।१।।"

वैधव्य से रहित होने के लिए दशमी को जो तप किया जाता है, उसे अविधवादशमी-तप कहते हैं। इस तप में भाद्रपद सुदी (शुक्ल पक्ष) दशमी के दिन एकासन-तप करे। रात्रि में अम्बादेवी की प्रतिमा के समक्ष जागरण करे तथा अम्बादेवी की पूजा करे। श्रीफल आदि दस फल, १० नैवेद्य (पकवान) आदि रखे - इस प्रकार दस वर्ष तक करे। इस तप के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

इस तप के उद्यापन में इन्द्राणी की पूजा करे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से अवैधव्य-सुख की प्राप्ति होती है। यह श्रावकों के करने योग्य आगाढ़-तप हैं।

अविधवादसमी-तप, आगाढ़		
प्रथम वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.
द्वितीय वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.
तृतीय वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.
चौथा वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.
पांचवाँ वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.
छठवाँ वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.
सातवाँ वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.
आठवाँ वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.
नवाँ वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.
दसवाँ वर्ष	भाद्रपद सुदी दशमी	उप.

८९. बृहन्नंद्यावर्त्त-तप -

बृहन्नंद्यावर्त्त-तप की विधि इस प्रकार हैं -

"बृहन्नंद्यावर्त्तविधिसंख्ययैकाशनादिभिः।
पूरणीयं तपश्चोद्यापने तत्पूजनं महत्।।१।।"

नंद्यावर्त्त की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, उसे नंद्यावर्त्त-तप कहते हैं। इस तप में सर्वप्रथम नंद्यावर्त्त की आराधना के लिए एक उपवास करे। तत्पश्चात् सौधर्मेन्द्र, ईशानेन्द्र और श्रुतदेवता की आराधना के लिए तीन आयंबिल करे। इसके बाद (प्रथम वलय में स्थित) अरिहंतादि आठ की आराधना के लिए आठ आयंबिल करे। तत्पश्चात् द्वितीय वलय में स्थित चौबीस जिनमाताओं की आराधना के लिए चौबीस एकासन करे। फिर तृतीय वलय में स्थित सोलह विद्यादेवियों की आराधना के लिए सोलह एकासन करे। तत्पश्चात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौबीस लोकान्तिक देवों की आराधना के लिए चौबीस एकासन करे। फिर चौंसठ इन्द्र एवं इन्द्राणियों की आराधना के लिए चौंसठ-चौंसठ एकासन करे। तत्पश्चात् चौबीस शासन-यक्ष एवं यक्षिणियों की आराधना के लिए चौबीस-चौबीस एकासन करे। फिर दस दिक्पालों की आराधना के लिए दस एकासन करे। तत्पश्चात् नौ ग्रह और क्षेत्रपाल - इन दस की आराधना के लिए चार एकासन करे। इसके बाद इन सबकी (सामूहिक) आराधना के लिए एक उपवास करे। इस प्रकार इस तप में २ उपवास, ११ आयंबिल एवं २६४ एकासन आते हैं। इस तरह यह तप २७७ दिन में पूरा होता है।

इस तप के उद्यापन में जिनालय में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा की पूजा करे। उपाश्रय में प्रतिष्ठा-विधि के अनुसार नंद्यावर्त्त-पूजा करे। संघपूजा एवं संघवात्सल्य करे। इस तप के करने से परलोक, अर्थात् भविष्य में तीर्थंकर-नामकर्म का बंध होता है तथा इस लोक में सर्वऋद्धि एवं सर्वदेवों का सान्निध्य प्राप्त होता है। यह तप साधु[1] एवं श्रावक - दोनों को करने योग्य आगाढ़-तप हैं। इस तप के यंत्र का न्यास अनुपलब्ध है।

बृहत्नंद्यावर्त्त-तप, आगाढ़, कुल दिन-२७७														
नाम	नंद्या वर्त्त	सौध मेंन्द्र	ईशा नेन्द्र	श्रुत देवता	प्रथम वलय	द्वितीय वलय	तृतीय वलय	चतुर्थ वलय	पंचम वलय	षष्ठ वलय	सप्तम वलय	अष्टम वलय	नवम वलय	दशम वलय
तप	१ उप.	१ आ.	१ आ.	१ आ.	८ आ.	२४ ए.	१६ ए.	२४ ए.	६४ ए.	६४ ए.	२४ ए.	२४ ए.	१० ए.	१० ए.
(इन सबकी आराधना के लिए अंत में १ उपवास)														

६०. लघुनंद्यावर्त्त-तप -

लघुनंद्यावर्त्त-तप की विधि इस प्रकार हैं -

"लघोश्च नंद्यावर्त्तस्य, तपः कार्यं विशेषतः।
तदाराधन संख्याभिरूद्यापनमिहादिवत्।।१।।"

---

[1] मूलग्रन्थ में यह तप साधुओं के लिए भी करणीय है - ऐसा उल्लेख मिलता है, जो हमारी दृष्टि में उचित नहीं है, क्योंकि नंद्यावर्त्त-तप की विधि में देवी-देवताओं की आराधना के लिए भी तप किया जाता है। शास्त्रानुसार यतियों का गुणस्थान ६/७ वाँ होता है और देवी-देवताओं का गुणस्थानक चौथा होता है, अतः साधु अपने से नीचे के गुणस्थानकों में स्थित देवों की आराधना कैसे कर सकता है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नंद्यावर्त्त की आराधना के लिए जो तप किया जाता है, उसे नंद्यावर्त्त-तप कहते हैं। इस तप में सर्वप्रथम नंद्यावर्त्त की आराधना के लिए उपवास करे। तत्पश्चात् धरणेन्द्र, अंबिका, श्रुतदेवी एवं गौतमस्वामी की आराधना के लिए चार आयम्बिल करे। फिर पंचपरमेष्ठी एवं रत्नत्रय की आराधना के लिए आठ आयम्बिल करे। इसी प्रकार सोलह विद्यादेवियों की आराधना के लिए सोलह एकासन, चौबीस शासन-यक्षिणियों की आराधना के लिए चौबीस एकासन, दस दिक्पालों की आराधना के लिए दस एकासन, नवग्रह तथा क्षेत्रपाल - इन दस की आराधना के लिए दस एकासन तथा चार निकाय के देवों की आराधना के लिए एक उपवास करे - इस तरह दो उपवास, बारह आयम्बिल, चौंसठ एकासनपूर्वक - सब मिलाकर ७८ दिनों में यह तप पूरा होता है।

इस तप के उद्यापन में जिनालय में बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा की पूजा करे तथा पूर्व की भाँति उपाश्रय में लघुनंद्यावर्त्त-पूजा करे। संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। इस तप के करने से परलोक सम्बन्धी तीर्थंकर-नामकर्म का बंध होता है तथा इहलोक में सर्वदेवों का सान्निध्य प्राप्त होता है। यह तप साधु[1] एवं श्रावक के करने योग्य आगाढ़-तप हैं।

लघुनंद्यावर्त्त-तप, आगाढ़, कुल दिन-७८											
नाम	नंद्या.	धरणेन्द्र	अंबिका	श्रुतदेवी	गौतम	परमेष्ठी एवं रत्नत्रय	सोलह विद्या देविया.	चौबीस शासन यक्ष.	दस दिक्पाल	नवग्रह एवं क्षेत्रपाल	चार निकाय के देव
तप	उप.	१ आं.	१ आं.	१ आं.	१ आं.	८ आं.	१६ ए.	२४ ए.	१० ए.	१० ए.	१ उप.

इस प्रकार उपर्युक्त तप फल की आकांक्षा से किए जाने वाले तप हैं। इस तरह तीनों प्रकार के तपों की यह विधि सम्पूर्ण होती है।

---

[1] मूलग्रन्थ में यह तप साधुओं के लिए भी करणीय हैं, ऐसा निर्देश दिया गया है, हमारी दृष्टि में पूर्व कारणों के अनुसार यह अनुचित हैं, अतः यह तप श्रावकों के लिए ही करणीय होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९१. बीस स्थानक-तप -

अब बीस स्थानक-तप की विधि बताते हैं। इस तप में आराधक निम्न बीस पदों की आराधना करता है - १. अरिहंत की उपासना २. सिद्ध की उपासना ३. प्रवचन की उपासना ४. गुरुभक्ति ५. स्थविरभक्ति ६. बहुश्रुतभक्ति ७. तपस्वीभक्ति ८. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ९. सम्यक्त्व का पालन १०. विनय करना ११. आवश्यक (क्रिया) करना १२. ब्रह्मचर्य १३. धर्मध्यान १४. यथाशक्ति तप १५. वैयावृत्य १६. समाधि १७. अपूर्व ज्ञानार्जन १८. श्रुतभक्ति १९. ज्ञान-आराधना २०. संघ पूजादि करना। इस प्रकार बीस स्थानकों की आराधना करे। इस आराधना में तप करना कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु मुक्ति के लिए इन बीस पदों की आराधना अवश्य करना चाहिए।

१. अरिहंत २. सिद्ध ३. प्रवचन ४. गुरु ५. स्थविर ६. बहुश्रुत ७. तपस्वी ८. ज्ञानोपयोग ९. दर्शन १०. विनय ११. आवश्यक १२. शीलव्रत १३. धर्मध्यान १४. तप १५. वैयावृत्य १६. समाधि १७. अपूर्वज्ञान १८. श्रुत-भक्ति १९. प्रवचन-प्रभावना (ज्ञानपूजा) एवं २०. धर्म-प्रभावना (संघपूजादि) - इन बीस की आराधना से जीव तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन करता है, अर्थात् तीर्थंकर-पद को प्राप्त करता है।

यह बीस स्थानकों की आराधना-विधि बताई गई है। सिद्धांतानुसार जिस तप की जितनी संख्या बताई गई है, उसके अनुसार किया गया तप कल्पना तप कहलाता है।

उद्यापनीय तप साधु एवं श्रावकों को साथ-साथ प्रारंभ करना चाहिए तथा उस तप का उद्यापन भी श्रावकों की सम्मति से किया जाना चाहिए। तप का उद्यापन उस तप में बताई गई सामग्रियों से करे। कालान्तर में पुनः उस तप को करने पर भी निश्चित विधि एवं सामग्रियों द्वारा पुनः उद्यापन करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्री वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के उभयस्तम्भ में तपविधि-कीर्तन नामक यह उनचालीसवाँ उदय समाप्त होता है।

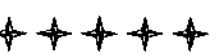

यंत्रों में प्रयुक्त सांकेतिक अक्षरों की सूची -

उ. = उपवास, अर्थात् सम्पूर्ण अन्न का त्याग करना।

आ. = आयंबिल, अर्थात् छहों विगयों एवं लवण से रहित आहार एक बार ही बैठकर लेना। (कुछ गच्छों में आयंबिल में लवण का उपयोग किया जाता है।)

नी. = नीवि अर्थात् छहों विगयों से रहित आहार एक बार ही बैठकर लेना।

पा. = पारणा, अर्थात् तप के दूसरे दिन आहार ग्रहण करना।

ग्रा. = ग्रास या कवल, इसका अर्थ तो सर्वमान्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चालीसवाँ उदय
पदारोपण की विधि

अब पदारोपण की विधि बताते हैं और वह इस प्रकार है -

तप एवं पुण्यकर्म के प्रभाव से व्यक्ति इहलोक और परलोक में स्वोचित पद को प्राप्त करते हैं। यहाँ सर्वप्रथम साधुओं के गच्छनायक-पदारोपण की विधि बताई गई है। तत्पश्चात् क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, महाशूद्र, कारू एवं पशुओं की पदारोपण-विधि बताई जाएगी।

गच्छनायक के पदारोपण की विधि -

जो विशुद्ध कुल, जाति एवं चारित्र वाला हो, विधिपूर्वक जिसने चारित्र को ग्रहण किया हो, योगों का उद्वहन किया हो, आचार्य के छत्तीस गुणों से युक्त हो तथा विधिक्रम से जिसने आचार्य-पद को प्राप्त किया हो, ऐसे आचार्य को गच्छनायक पद पर आरोपित करने की विधि बताई गई है, जो इस प्रकार है -

पूर्व गुरु (आचार्य), अथवा पूर्व गुरु के परलोक चले जाने पर, उपर्युक्त ३६ गुणों से युक्त अन्य किसी आचार्य को अल्प जल से स्नान करवाकर तथा नूतन रजोहरण, मुखवस्त्रिका, शयनासन, सदश श्वेत वस्त्रों को धारण करवाकर उसे सिंहासन पर बैठाएं। उस समय वहाँ अनेक आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएँ एकत्रित होते हैं।

आचार्य-पदोचित लग्नसमय के आने पर उस आचार्य के स्वगुरु, अथवा अन्य वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, गीतार्थाचार्य पूर्ववत् वासचूर्ण को अभिमंत्रित करें। तत्पश्चात् उस आचार्य के सिर पर वासक्षेप डालकर गणधरविद्या से तिलक करें। तत्पश्चात् उनका अनुगमन करते हुए (अन्य) आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाएँ भी परमेष्ठीमंत्रपाठपूर्वक उसी प्रकार श्रीखण्ड (चन्दन) द्वारा तिलक करे[1],

---

[1] मूलग्रन्थ में साध्वी एवं श्राविकाओं द्वारा आचार्य को तिलक करने का निर्देश मिलता है, यहाँ पर उसका वासनिक्षेप करना - ऐसा अर्थ ज्यादा उचित लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा वासनिक्षेप करे। तत्पश्चात् वृद्ध गुरु पूर्ववत् साधु एवं श्रावकों को अभिमंत्रित वास एवं अक्षत प्रदान करे। तत्पश्चात् गुरु के "क्षमाक्षमणों से प्राप्त सूत्र, अर्थ एवं सूत्रार्थ - दोनों से गुरु (महाव्रतरूपी महत्) गुणों का वर्धन करते हुए संसार-सागर को पार करने वाले बनो" - इस प्रकार कहने पर सभी उस आचार्य पर वासचूर्ण एवं अक्षत निक्षेपित करें। तत्पश्चात् पूर्ववत् वन्दनक-विधि करें। इसके अतिरिक्त उपाध्याय, साधु आदि को गणानुज्ञा देते समय गण मुख्यत्व, अर्थात् गणानुज्ञा सम्बन्धी जो कथन है, उसे वाचनानुज्ञा-अधिकार से जानें।

पदारोपणाधिकार में यति के पदारोपण की यह विधि बताई गई हैं। अब विप्रों की पदारोपण-विधि बताते हैं -

विप्रों में आचार्य, उपाध्याय, स्थानपति एवं कर्माधिकारी - ये चार प्रकार के पदक्रम होते हैं।

जैनगृहस्थ-ब्राह्मण-आचार्य-पदारोपण-विधि -

(आचार्य कैसा हो, अर्थात् आचार्य के गुणों को बताते हुए कहते हैं) - जैन ब्राह्मणों का आचार्य पवित्र कुल वाला, सम्यग्दृष्टि, द्वादशव्रत का धारक, अन्य देवों तथा अन्य लिंगियों को प्रणाम न करने वाला, उनके साथ संभाषण न करने वाला, उनकी प्रशंसा न करने वाला, सावद्य-व्यापार का त्यागी, दुष्प्रतिग्रह से रहित एवं नित्य नवकारसी आदि प्रत्याख्यान करने वाला होता है।

इसी प्रकार आगे पुनः उनके गुणों को बताते है -

जो स्वभाव से ही अल्पेच्छ हो (अल्पप्राप्ति में भी संतोष करने वाला हो), मितभाषी हो, जिनागम के सिवाय अन्य मिथ्या श्रुत को आदरपूर्वक नहीं पढ़ने वाला हो, नित्य धोए हुए वस्त्र धारण करने वाला हो, द्वादशव्रत का धारक हो, सम्यक् प्रकार से तत्त्व के अर्थ को जानने वाला हो, प्रमाण-ग्रन्थों का ज्ञाता हो, प्रायः सावद्य-योगों से विरत हो, मिथ्यादृष्टियों के साहचर्य का त्यागी हो, धीर हो, शान्तचित्तवाला हो, सद्गुणों से युक्त हो, सर्वशास्त्रों का ज्ञाता हो, प्रतिष्ठादि सर्वकर्म करने का अभ्यासी हो, प्रायः प्रत्याख्यान में रत हो, प्रायः प्रासुक-आहार करने वाला हो, नित्य स्नान करने वाला हो, दान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, वाग्मिन हो, मंत्र का ज्ञाता हो, द्रव्य एवं भाव - दोनों से अव्यग्रचित्त होकर षट्कर्म की साधना करने वाला हो, नित्य साधुओं की उपासना करने वाला हो, शुद्ध वंश में जन्मा हुआ हो, प्रायः हाथ में स्वर्णकंकण या मुद्रिका को धारण करने वाला हो, दुष्प्रतिग्रह से रहित हो, प्राणों का अन्त होने पर भी शूद्र के अन्न का ग्रहण नहीं करने वाला हो। बैंगन, मूलक आदि तथा पाँच उदुम्बरों का सदैव त्यागी हो, निष्कपटी हो, प्रियभाषी (मधुरभाषी) हो, विद्याप्रवाद नामक पूर्व में वर्णित मंत्र एवं कल्प का ज्ञाता हो, जीवहिंसा के स्वरूप को जानने वाला हो, सभी जीवों के प्रति करुणावान् हो - इस प्रकार का उत्तम जैन ब्राह्मण-आचार्य पद के योग्य होता हैं। अब उसकी आचार्य-पदस्थापन की विधि बताते हैं। वह इस प्रकार है -

सूरि-पद के लिए उचित लग्न के आने पर यति आचार्य, अथवा उपाध्याय, अथवा विशुद्ध आगम के अर्थ को जानने वाला साधु, अथवा आचार्य-पद को प्राप्त ब्राह्मण, पूर्वोक्त गुणों से संयुक्त ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले उस गृहस्थ विप्र को, जिसका भद्राकरण-संस्कार (मुण्डन) किया जा चुका हो और जो मात्र शिखाधारी हो, परिधान एवं उत्तरासंग से युक्त उस उत्तम गुण वाले ब्राह्मण को पौष्टिककर्मपूर्वक, अर्थात् पौष्टिककर्म करके शुभ मुहूर्त में चैत्य, उपाश्रय, गृह, उद्यान, अथवा तीर्थ में अपने वामपार्श्व में स्थापित करके समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करवाए। तत्पश्चात् वर्द्धमान-स्तुतियों से शक्रस्तव का पाठ करे। उसके बाद श्रुतदेवता, शान्तिदेवता, क्षेत्रदेवता, शासनदेवता, वैयावृत्त्यकरदेवता का कायोत्सर्ग एवं स्तुति बोले। तत्पश्चात् उसे सम्यक्त्वदण्डक एवं द्वादशव्रतों का उच्चारण कराए। फिर गुरु आसन पर बैठे। भावी गृहस्थ आचार्य आसन का त्याग करके विनयपूर्वक गुरु के आगे बैठे। तत्पश्चात् लग्नसमय के आने पर गुरु उसके दाएँ कान में गौतममंत्रसहित षोडशाक्षरी परमेष्ठी-महाविद्या तीन बार सुनाए। तत्पश्चात् शिष्य गुरु एवं समवसरण की तीन प्रदक्षिणा लगाकर संक्षिप्त रूप में शक्रस्तव का पाठ करे। तत्पश्चात् यदि उस समय वहाँ यतिगुरु हो, तो उनको द्वादशावर्त्तवन्दन करे और गृहस्थ गुरु हो, तो "नमोस्तु-नमोस्तु"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथनपूर्वक दण्डवत् प्रणाम करे। तत्पश्चात् गुरु शिष्य को अपने आसन के आधे भाग पर अपने दाईं ओर बैठाकर पूर्वोक्त रीति से अभिमंत्रित वासक्षेप डाले तथा प्रकट स्वर से निम्न वेदमंत्र बोले -

"ऊँ अर्हं नमोऽर्हतेऽर्हत्प्रवचनाय सर्वसंसारपारदाय सर्वपापक्षयंकराय सर्वजीवरक्षकाय सर्वजगज्जन्तुहिताय अत्रामुकपात्रेस्तु सुप्रतिष्ठितं जिनमतं नमोस्तु तीर्थंकराय तीर्थाय च शिवाय च शुभाय च जयाय च विजयाय च स्थिराय च अक्षयाय च प्रबोधाय च सुबोधाय च सुतत्वाय च सुप्रज्ञप्ताय च नमोनमः सर्वार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यः सर्वस्मिन्प्राणिनि सुप्रतिष्ठितानि अणुव्रतानि षट्कर्मनिरतोस्त्वयं जन्तुः सत्क्रियोस्तु सद्गुणोस्तु षड्व्रतोस्तु सन्मतोस्तु सद्गतिरस्तु अर्हं ऊँ।।"

वासक्षेप के पूर्व इस मंत्र को तीन बार बोले। तत्पश्चात् पूर्ववत् संघ को वासचूर्ण एवं अक्षत प्रदान करे तथा पौष्टिकदण्डक बोले। फिर गुरु शिष्य को आगे बैठाकर संघ के समक्ष इस प्रकार की अनुज्ञा दे -

"हे वत्स ! तुम्हें दृढसम्यक्त्व को सदैव धारण करना चाहिए, साधुओं की उपासना करनी चाहिए, द्वादशव्रत का पालन करना चाहिए, गृहस्थ के षट्कर्म करना चाहिए, वेदागम का पुन-पुनः अभ्यास करना चाहिए, जिनमत में जिन कार्यों को वर्जित किया गया है, प्राणान्त होने पर भी उन कार्यों को नहीं करना चाहिए। गृहस्थों के जो षोडश संस्कार होते हैं, उनमें व्रतारोपण को छोड़कर शेष संस्कार तुम्हें करवाने चाहिए। साथ ही यदि यति (मुनि) अनुपस्थित है, तो व्रतारोपण भी करवा सकते हो। शान्तिककर्म, पौष्टिककर्म, प्रतिष्ठा, उद्यापन, बलिविधान और आवश्यक-विधि तथा योगोद्वहन को छोड़कर शेष तपोविधि, गृहस्थों के आचार्य आदि पदारोपण की विधि एवं गृहस्थों के प्रायश्चित्तत-विधान - ये सब कार्य तुम्हें सदैव करना चाहिए। इस प्रकार यतियोग्य कार्यों को छोड़कर शेष अन्य कार्यों का समाचरण तुम्हारे द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रकार की अनुज्ञा देकर उस शिष्य को तिलक करके बधाई दे।

उस समय गुरु स्वयं शिष्य को नमस्कार करे। संघ भी नमोस्तु वचनपूर्वक नवीनाचार्य को नमस्कार करे। इस विधि में उत्सव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वगैरह सर्व सूरिपद के समान ही होता है। शिष्य गुरु को स्वर्ण, कंकण, मुद्रा एवं वस्त्र द्वारा सम्मानित करे।

इस प्रकार पदारोपण-अधिकार में जैनब्राह्मण गृहस्थाचार्य की पदारोपण-विधि बताई गई है।

जैनब्राह्मण गृहस्थ-उपाध्याय-पदारोपण की विधि -

यहाँ सर्वप्रथम जैनब्राह्मण गृहस्थ-उपाध्याय होने की योग्यताओं का वर्णन किया गया है।

वेद का ज्ञाता हो, शान्त हो, द्वादशव्रत को धारण करने वाला हो, जीतश्रमी हो, क्षमावान् हो, दाता हो, दयालु हो, सर्वशास्त्रों का ज्ञाता हो, गुरुभक्त हो, प्रजाजन में मान्य हो, कुशल हो, सरल हो, बुद्धिमान् हो (सज्जन हो) कुलीन हो - इस प्रकार के गुणों से युक्त जैन ब्राह्मण गृहस्थ-उपाध्याय-पद के योग्य होता है।

उपाध्याय-पदारोपण की विधि -

सर्वप्रथम पौष्टिककर्म करके गुरु सम्पूर्ण विधि जैनब्राह्मण-गृहस्थाचार्य-पदारोपण- विधि की तरह करे। यहाँ इतना विशेष है कि उसे मात्र श्री गौतममंत्र ही प्रदान करे। गुरु स्वयं के अर्द्ध आसन पर भी उसे न बैठाए और न वासचूर्ण का क्षेपण करे। उस समय निम्न वेदमंत्र बोले -

"ऊँ अर्हं नमोऽर्हतेऽर्हदागमाय जगदुद्योतनाय जगच्चक्षुषे जगत्पापहराय जगदानन्दनाय श्रेयस्कराय यशस्कराय प्राणिन्यस्मिन् स्थिरं भवतु प्रवचनं अर्हं ऊँ।"

तीन बार इस वेदमंत्र को पढ़कर पौष्टिकदण्डक का पाठ बोले। यहाँ आचार्य- पदारोपण-विधि की भाँति गुरु स्वयं नूतन उपाध्याय को नमस्कार नहीं करे। संघ को पूर्ववत् वासचूर्ण एवं अक्षत प्रदान करे। सकल संघ उसको नमस्कार करे - तत्पश्चात् गुरु उसे अनुज्ञा दे। यहाँ यह कार्य यति-आचार्य, उपाध्याय, सुसाधु या गृहस्थाचार्य करवा सकते हैं।

अनुज्ञा की विधि -

हे वत्स ! व्रतों को धारण करते हुए सम्यक्त्व को पुष्ट करना। आर्हत्-मत में जिस कार्य का वर्जन किया गया है, प्राणान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर भी उस कार्य को नहीं करना। व्रतारोपण-संस्कार को छोड़कर गृहस्थ के शेष जो पन्द्रह संस्कार हैं, वे तुम निःशंक होकर करवा सकते हो या करवाना।

आचार्य आदि का अभाव होने पर शान्तिक एवं पौष्टिककर्म आदि सहित गृहस्थ के जो सामान्य संस्कार हैं, वे तुम करवा सकते हो यहाँ मूलग्रन्थ में दो गाथाएँ नहीं दी गई हैं।[1]

ये सभी कार्य हमेशा तुम्हारे द्वारा करवाए जाने चाहिए - इस प्रकार की अनुज्ञा देकर गुरु उस शिष्य को तिलक करके बधाई दे। यहाँ सम्पूर्ण उत्सव आचार्य-पद की भाँति ही करें।

पदारोपण-संस्कार में गृहस्थ उपाध्याय-पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

स्थानपति-पदारोपण-विधि -

स्थानपति-पद के योग्य ब्राह्मण के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं -

"शान्त, जितेन्द्रिय, मौनी, नित्य षट्कर्म (छः आवश्यक कर्म) में निरत, द्वादश व्रतधारी, प्रज्ञावान्, लोकप्रिय, गृहस्थ के कराने योग्य सभी संस्कारों में निपुण, सभी को संतुष्ट करने वाला, निष्कपटी, सदाचारी, शान्त, सभी कार्यों में सामंजस्य स्थापित करने वाला, बलिपूजा आदि कार्यों में कुशल, बोधवासित हो - इस प्रकार की योग्यता से युक्त ब्राह्मण स्थानपति के पद हेतु उत्तम कहा गया है।

स्थानपति-पदारोपण की सम्पूर्ण विधि उपाध्याय-पदस्थापना-विधि की भाँति ही है। इस विधि में गुरु स्थानपति को मंत्र प्रदान नहीं करते।

स्थानपति की अनुज्ञा-विधि -

"हे वत्स ! व्रतारोपण को छोड़कर गृहस्थों के शेष पन्द्रह विवाहादि-संस्कार, शान्तिक, पौष्टिककर्म तथा आवश्यक-क्रिया

---

[1] मूलग्रन्थ में जो दो गाथाएँ अनुपलब्ध हैं। उन दो गाथाओं में साधु एवं गृहस्थ के जो आठ संस्कार हैं - उनकी अनुज्ञा का कथन होना चाहिए। क्योंकि उससे ऊपर की गाथा में स्पष्ट भी किया गया हैं कि "आचार्य आदि का अभाव होने पर" अतः हमारे अभिप्राय से यहाँ इन दो गाथाओं में कुछ संस्कारों की अनुज्ञा का कथन होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(प्रतिक्रमणादि) तुम करवा सकते हो, किन्तु प्रतिष्ठा एवं प्रायश्चित्त-विधि तुम नहीं करवा सकते हो।"

इस प्रकार पदारोपण-अधिकार में स्थानपति-पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

कर्माधिकारी-पदारोपण-विधि -

सर्वप्रथम कर्माधिकारी-पद के योग्य ब्राह्मण के लक्षण बताते हैं-

द्वादशव्रत एवं सम्यक्त्वधारी हो, वेदों का पारगामी हो, कुशल हो, सर्वशास्त्रों का ज्ञाता हो, प्रमादरहित हो, गुणवान् हो, साधुभक्त हो, सर्व कार्यों में कुशल हो, परोपकारी हो, शूरवीर हो, कृतज्ञ हो, दाता हो, मंत्रवित् हो, राजमान्य हो, चतुर (प्रवीण) हो, प्रखर वक्ता हो, धीर हो, साधुभक्ति में परायण हो, अर्थात् साधुओं की भक्ति करने वाला हो, विनीत हो, देश-काल का ज्ञाता हो - इस प्रकार के गुणों से संयुत ब्राह्मण कर्माधिकार- पद के योग्य होता है।

कर्माधिकारी-पदारोपण-विधि स्थानपतिपद-विधि के सदृश है। इस विधि में भी मंत्रदान नहीं किया जाता है। इस पद सम्बन्धी अनुज्ञा इस प्रकार है -

"गृहस्थों के सोलह संस्कारों में से व्रतारोपण-संस्कार एवं आठ सामान्य संस्कारों में शान्तिक-पौष्टिककर्म को छोड़कर शेष संस्कार तुम करवा सकते हो। तुम राजा की निष्पाप सेवा कर सकते हो तथा उनके अधिकारी रह सकते हो। नृप एवं मंत्री के नहीं होने पर देश एवं ग्राम का पालन कर सकते हो। हे वत्स ! पापकार्यों को छोड़कर तुम सभी कार्य कर सकते हो। इस प्रकार ब्राह्मण-पदारोपण-अधिकार में कर्माधिकारी- पदारोपण की यह विधि बताई गई है। जैन ब्राह्मणों की पूर्वकाल में अनंत शाखाएँ थीं तथा चारों वेदों की भी अनंत शाखाएँ थीं, किन्तु वर्तमान में (जैन) विप्रों की मात्र चार शाखाएँ हैं और चार वेदों की भी चार ही शाखाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं - १. इक्ष्वाकु शाखा २. गौतम शाखा ३. प्राच्योदीच्य शाखा एवं ४. नारद शाखा । इस प्रकार ये चार शाखाएँ हैं। विप्रों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा संहिता, पदक्रमादि द्वारा क्रमपूर्वक चारों वेद पढ़े जाने चाहिए, आवश्यक-सिद्धान्त में इस प्रकार कहा गया है।

इस प्रकार पदारोपण-अधिकार में ब्राह्मण-पदारोपण की यह विधि सम्पूर्ण होती है।

क्षत्रिय-पदारोपण-विधि -

अब क्षत्रियों के पदारोपण की विधि बताते हैं। इसमें निम्न आठ प्रकार के पद होते हैं -

१. राजपद २. सामन्तपद ३. मण्डलेश्वरपद ४. देशमण्डलाधिपति ५. ग्रामाधिपति ६. मंत्रीपद ७. सेनापतिपद एवं ८. कर्माधिकारीपद ।

यहाँ सर्वप्रथम राजपद के पदारोपण की विधि बताते हैं -

नृपति के योग्य क्षत्रिय के लक्षण -

विशुद्ध क्षत्रिय कुल में जन्मा हुआ हो, क्रम से राज्य का अधिकार रखने वाला हो, सम्पूर्ण अंगोपांग वाला हो, क्षमावान् हो, दाता हो, धैर्यवान् हो, बुद्धिशाली हो, शूरवीर हो, कृतज्ञ हो, अठारह प्रकार की विद्याओं में प्रवीण हो, स्नेहशील हो, यशस्वी एवं प्रतापी (पराक्रमी) हो, देव एवं गुरु की भक्ति करने वाला हो, दृढ़संकल्पी हो, न्यायप्रिय हो, स्वयं की एवं दूसरे की अपेक्षा न रखने वाला हो, ईमानदार हो, गुणग्राही हो, परनिंदा का वर्जन करने वाला हो, गहन न्याय-दृष्टिवाला हो, दूसरे के चित्त को जानने वाला हो, स्वभाव से अल्पभाषी हो, गम्भीर हो, विद्वत्प्रिय हो, दृढ़ प्रतिज्ञावान् हो, धर्मात्मा हो, सर्व व्यसनों का वर्जन करने वाला हो, स्वाभिमानी हो, विनीत हो, मधुरभाषी हो, विवेकवान् हो, दान एवं दण्ड में सर्वत्र औचित्यपूर्ण व्यवस्था रखने वाला हो, चारों उपायों के प्रयोग में देशकाल का ध्यान रखने वाला हो, राज्य के सात अंग, छः गुण एवं तीन शक्तियों का ज्ञाता हो, वृद्धजनों की सेवा करने वाला हो, पिता के समान लोक-परिपालन करने वाला हो, प्रमाद से रहित हो, गृहादि की सदैव सुरक्षा करने वाला हो, सर्वदर्शनों को समान दृष्टि से देखने वाला हो तथा सर्वलिंगियों की समान भक्ति करने वाला हो, रूपवान् हो, निष्कपटी हो, लज्जावान् हो, सौम्य हो, स्थान-स्थान पर अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्त को केन्द्रित नहीं करने वाला हो, संपदा एवं विपदा में तथा वैर रखने वाले शत्रु के प्रति भी समभाव रखने वाला हो, अविवादी हो, सज्जन हो, महान् हो, पराक्रमी हो, गुप्त बातों को गोपनीय रखने वाला हो, प्रसन्नचित्त हो, समुद्र की भाँति मर्यादावान् हो, नीतिशास्त्र में कहे गए अनुसार ही दण्ड का विधान करने वाला हो, अर्थात् मन से दण्ड का विधान न करने वाला हो, कवच-वाहन शास्त्र एवं योद्धाओं में धन का व्यय करने वाला हो, विविध प्रकार के कौतुकों में रुचि रखने वाला हो, दीन-दुखियों के प्रति अत्यधिक दयावान् हो, लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए वैद्य की नियुक्ति करने वाला हो एवं विद्वानों को नियुक्त करने वाला हो, आदि गुणों से संयुक्त क्षत्रिय नृपति-पद के योग्य होता है।

नृपति-पद के अभिषेक की विधि -

सर्वप्रथम शान्तिक एवं पौष्टिककर्म करे। ऊर्ध्वमुख नक्षत्रों में तथा विवाह एवं प्रतिष्ठा हेतु उचित ऐसे वर्ष, मास, दिन तथा नक्षत्र में लग्नशुद्धि देखकर राज्याभिषेक करे। राज्याभिषेक हेतु नक्षत्र एवं लग्न इस प्रकार होना चाहिए - अनुराधा, ज्येष्ठा, हस्त, पुष्य, रोहिणी, श्रवण, उत्तरात्रय, रेवती, मृगशीर्ष, अश्विनी नक्षत्र राज्याभिषेक हेतु परमावश्यक माने गए हैं, अर्थात् इन नक्षत्रों में राज्याभिषेक करना चाहिए। प्राचीन एवं नवीन आचार्यों ने राज्याभिषेक हेतु पुष्य, आर्द्रा, श्रवण, उत्तरात्रय, शतभिषा, रोहिणी, धनिष्ठा एवं अश्विनी नक्षत्रों को भी उत्तम माना हैं। साथ ही प्रासाद, कवच-धारण, गृह, दुर्ग एवं तोरण का निर्माण भी उक्त नक्षत्रों में करने का निर्देश दिया है। राज्याभिषेक समय में लग्नेश, जन्मेश, मंगल एवं सूर्य ग्रह बली होने चाहिए साथ ही गुरु, चन्द्र, शुक्र एवं मंगल का भी बलवान एवं तेजस्वी होना आवश्यक हैं। यदि ये ग्रह राशि, त्रिकोण भाव स्वराशि तथा उच्चराशि में स्थित हो तो धन एवं कीर्ति देते हैं। किन्तु यदि ये ग्रह अस्त हो अथवा शत्रुराशि या नीच राशि में हो तो राजा को भय, शोक देने वाले होते हैं।

पूर्वोक्त गुणों से युक्त राजपुत्र को बृहत्स्नात्रविधि से प्राप्त जिनस्नात्रजल एवं सर्वौषधिवर्ग से युक्त जल से मंगलगीत एवं वांदित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ध्वनियों के बीच उल्लासपूर्वक स्नान करवाए तथा महामूल्य श्वेत वस्त्र एवं उत्तरासंग धारण करवाए। सर्वांगों को आभरण से भूषित करवाए, मुकुट धारण करवाए तथा अविधवा, सपुत्र नारियों द्वारा लाए गए मणि, स्वर्ण, चाँदी एवं शुभ काष्ठ से निर्मित कटिपरिमाण ऊँचाई के ढाई हाथ परिमाण चौकोर, स्वर्णकलश से अंकित, सदश श्वेतवस्त्र से आवृत्त पुरुष-परिमाण सिंहासन पर पर्यंकासन से बैठाए। तत्पश्चात् जल से युक्त बादल जिस प्रकार गर्जना करते हैं, उस प्रकार की ध्वनि करने वाले वन्य वाद्य तथा ढक्का, बुक्क, हुडुक्क, पटह, झल्लरी, भेरी, ताम्र-बुक्क, झर्झर आदि बजवाए। फिर लग्नसमय के आने पर गृहस्थ गुरु समस्त तीर्थों के जल से वेदमंत्रों द्वारा एवं यति गुरु सूरिमंत्र, वलयमंत्र आदि द्वारा उसे अभिसिंचित करे। वेदमंत्र इस प्रकार हैं -

"ऊँ अर्हं ध्रुवोसि जीवोसि नानाकर्मफलभागेसि शूरोसि पूज्योसि मान्योसि रक्षकोसि प्रबोधकोसि शासकोसि, पालकोसि प्रियोसि सदयोसि यशोमयोसि विभयोसि वीतशंकोसि तदत्र ध्रुवो भूयात् स्थिरो भूयात् दुःसहोसि जयोसि इन्द्रोसि धातासि संहर्तासि उदितोसि उदेतुकामोसि अनिन्द्योसि प्रभुरसि प्रभूष्णुरसि तेजोमयोसि भूयात्ते दीर्घमायुमारोग्यं राज्यं सन्तु ते विपुलाः श्रियो बलानि वाहनानि च अर्हं।"- यह अभिषेक-मंत्र है।

तत्पश्चात् गृहस्थ गुरु चन्दन, कुंकुम, कस्तूरी (मृगमदा) को प्रसिद्ध परमेष्ठीमंत्र से अभिमंत्रित करके सूरिमंत्र से तिलक करे। गृहस्थ गुरु निम्न वेदमंत्र द्वारा तिलक करे -

"ऊँ अर्हं नमोऽर्हते भगवते रुद्राय शिवाय तेजोमयाय सोमाय मंगल्याय सर्वगुणमयाय दयामयाय सर्वर्द्धिदाय सर्वसिद्धिदाय सर्वशुभदाय सर्वगुणात्मकाय सिद्धाय बुद्धाय पूर्णकामाय पूरितकामाय तदत्र भाले स्थिरीभव भगवन् प्रसादं देहि प्रतापं देहि यशो देहि बलं देहि बुद्धिं देहिं वांछितं देहि अर्हं ऊँ।"- यह तिलक-मंत्र है।

तत्पश्चात् यतिगुरु सूरिमंत्र से एवं गृहस्थ गुरु वेदमंत्र द्वारा मुकुट के नीचे भाल पर तीन रेखाओं से युक्त रत्नजटित सुवर्णपट्ट को बांधे।

गृहस्थ गुरु द्वारा बोला जाने वाला वह वेदमंत्र इस प्रकार है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"ऊँ अर्हं नमोऽर्हते समवसरणस्थाय सिंहासनस्थाय चैत्यद्रुमच्छायाप्रतिष्ठाय निःकल्मषाय निःकर्मकाय प्रियप्रबोधाय स्थिराय तदस्तु पट्टबन्धेनानेन भगवान् अर्हन् सुप्रतिष्ठितः सुपूजितः अर्हं ऊँ।"- यह पट्ट बांधने का मंत्र है।

तत्पश्चात् अन्य राजा, सामन्त, मण्डलाधिप, ग्रामाधिप, धर्माधिकारी, सेनापति, मंत्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि क्रमशः तिलक करते हैं। सभी प्रणाम करके स्वोचित उपहार, यथा- हाथी, घोड़ा, आभूषण, सिंहासन, शस्त्र, वस्त्र, कवच, पुस्तक, द्रव्य, फल आदि अर्पण करें। उन सबके द्वारा तिलक करने पर यतिगुरु अथवा गृहस्थ गुरु पौष्टिकदण्डक का पाठ बोले। तत्पश्चात् श्वेत मुक्ताजाल से अंकित छत्र उसके परिजन अपने हाथ में लेकर आएं। तत्पश्चात् यतिगुरु या गृहस्थ गुरु पुष्प एवं अक्षत डालकर यह मंत्र बोले -

"ऊँ अर्हं नमो रत्नत्रयाय विमलाय निर्मलाय ऊर्ध्वोर्ध्वाधिकाय भुवनत्रयदुर्लभाय दुर्गतिच्छादनाय कामितप्रदाय विश्व प्रशस्याय भगवन् रत्नत्रय इहातपत्रे स्थिरो भव शान्तितुष्टिपुष्टिधृतिकीर्तिमतीः प्रवर्धय अर्हं ऊँ।"- यह छत्रपूजन का मंत्र है। तत्पश्चात्

"सर्वोपि लोको दिननाथपादान्निधाय शीर्षेलभते प्रवृत्तिं।
छत्रान्तरालेन महीश्वरोयं द्वितीयतां तस्य दधाति भूमौ।।"

- यह श्लोक बोलकर छत्र को उसके परिजनों के हाथ से राजा के सिर के ऊपर सुशोभित करवाए। तत्पश्चात् चामर लाकर पुष्प, अक्षत से यतिगुरु, अथवा गृहस्थ गुरु चामर की पूजा करे। तत्पश्चात् निम्न मंत्र बोले -

"ऊँ अर्हं नमोऽर्हते भगवते अष्टमहाप्रातिहार्यकलिताय ललिताय चतुःषष्टिसुरासुरेन्द्रपूजिताय सर्वसंपत्कराय सर्वोपद्रवनिवारणाय सर्व विश्वत्रयधारणाय जगच्छरण्याय स्थिरोस्तु भगवन्नत्र तव प्रभाव अर्हं ऊँ।" - यह चामर अभिमंत्रित करने का मंत्र है। तत्पश्चात्

"भूयादस्य पदन्यासः सर्वेष्वपि हि जन्तुषु।
अन्यस्यापि पदन्यासो नास्मिन्कस्यापि जायतां।।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- यह श्लोक बोलकर श्रेष्ठ कामिनी अथवा सेवक के हाथों से चामर ढुलवाए। तत्पश्चात् इन्द्रध्वज, मत्स्यध्वज आदि ध्वजों को आगे खड़ा करके पुष्पाक्षत पूजनपूर्वक गुरु निम्न मंत्र बोले -

"ऊँ अर्हं नमो-नमो जगन्मूर्धस्थिताय स्थिराय परमेष्ठिने भगवतेऽर्हते अर्हं ऊँ।"

ध्वज की सम्यक् प्रकार से पूजा करके नृप के दाएँ हाथ से उसका स्पर्श कराए। तत्पश्चात् बुक्क, ताम्रबुक्क आदि वाद्यसमूह को लाए तथा विविध प्रकार के पूजोपकरणों से उनकी सम्यक् प्रकार से पूजा करके निम्न श्लोक बोले -

"यशः प्रतापौ नरनायकस्य महीतले पन्नगविष्टपेपि। सुरेन्द्र लोके भवतामुदात्तौ निःस्वानशब्दानुगतौ स चैव।"

यह श्लोक बोलने के पश्चात् राजा के हाथों से धीरे से वाद्य बजवाए। इस प्रकार करने के बाद गुरु राजा को शिक्षा दे।

शिक्षा देने से पूर्व गुरु राजा को कुछ नियम देते हैं, जो इस प्रकार हैं -

देव, गुरु, द्विज, कुलज्येष्ठ, लिंगी, अर्थात साधु-सन्यासी को छोड़कर तुम अन्य किसी को नमस्कार मत करना, किसी के हाथों से छुआ हुआ आहार मत खाना तथा अन्य किसी के साथ भोजन भी मत करना। श्राद्ध का भोजन नहीं करना तथा अन्य पड़ोसी राजा के साथ भी भोजन मत करना। अगम्य एवं अस्पृश्य नारियों के साथ कभी भी संभोग मत करना। दूसरों द्वारा धारण किए गए वस्त्र एवं आभूषणों को धारण मत करना। कभी भी दूसरों की शय्या पर शयन मत करना, दूसरों के आसन पर मत बैठना तथा दूसरों के पात्र में भोजन मत करना। गुरु को छोड़कर अन्य किसी को अपने शय्या, आसन एवं घोड़े पर मत बैठने देना, इसी प्रकार स्वरथ पर, हाथी पर, अंबाडी पर एवं अपनी छाती पर किसी को मत बैठने देना। कांजी, क्वथित अन्न, यव, तेल एवं पांच उदुम्बर फलों का सेवन तुम कभी भी मत करना - गुरु ये नियम राजा को दे।

नीति शिक्षा - स्त्री, द्विज एवं तपस्वी द्वारा हजार अपराध होने पर भी उनका कभी भी वध मत करवाना और न ही उनके अंग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का छेदन करना, किन्तु उन्हें देश- निष्कासन का दण्ड देना। देव, द्विज, गुरु एवं मुनियों का हमेशा सिंहासन से उठकर तथा उन्हें नमस्कार आदि करके सम्मान करना। धर्म, अर्थ एवं काम - इन तीनों पुरुषार्थों का संयोजन इस प्रकार से करना, जिससे कोई भी पुरुषार्थ एक-दूसरे से बाधित न हो। हमेशा प्रजा का पालन-पोषण एवं रक्षण करना। तुम्हें राजा, मंत्री एवं सेवकों द्वारा पीड़ित प्रजा का तत्काल संरक्षण करना चाहिए, अर्थात् उसमें क्षणभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। वंश-परम्परा से चले आ रहे व्यक्तियों को ही अंगरक्षक, सौविद (अन्तःपुर-रक्षक), मंत्री, दण्डनायक, सूपकार (रसोईया) एवं द्वारपाल के पद पर नियुक्त करना। तुम्हें शिकार, द्यूतक्रीडा (जुआ), वेश्या, दासी एवं परस्त्रीगमन, मदिरापान, कठोर वचन, अपव्यय का वर्जन करना चाहिए। इसी प्रकार अन्यायपूर्वक किसी का धन लेना, मौज-मस्ती हेतु भ्रमण करना, कठोर दण्ड देना, नृत्य, गीत एवं वाद्य में अत्यन्त संलग्न होना, दिन में अनवरत निद्रा लेना, पीठ पीछे किसी की निन्दा करना, व्यसनों में संलग्न होना - इन सब कार्यों का भी तुम सदैव वर्जन करना। नीर-क्षीरवत् उचित एवं अनुचित का निर्णय करना, उसमें कभी भी पक्षपात मत करना। कभी भी किसी कार्य को तुम उद्वेग-पूर्वक मत करना। स्त्री, लक्ष्मी, शत्रु, अग्नि, नीच व्यक्ति, मद्यपायी, मूर्ख एवं लालची व्यक्तियों का कभी भी विश्वास मत करना। देव, गुरु की आराधना तथा स्वप्रजाजनों के पालन-पोषण के कार्य को किसी अन्य को मत देना, अर्थात् उन्हें स्वयं ही करना। सुख के समय अहंकार मत करना तथा दुःख के समय धैर्य मत छोड़ना। राजा के ये दोनों प्रकार के लक्षण बुधजनों (प्रबुद्धकों) द्वारा बताए गए हैं। उसे ज्ञानार्जन में, दान में एवं अनुग्रह करने में जलाशय के समान गम्भीर और उदार होना चाहिए। उसे सम्पूर्ण पृथ्वी का उपभोग करते हुए अपने यश को फैलाना चाहिए। शत्रुवंशों का घात तथा मित्रजनों का पोषण करना चाहिए। अपनी एवं दूसरों की अपेक्षा रखे बिना सम्पूर्ण प्रजा का पालन-पोषण करना चाहिए। दुष्टों तथा प्रजा को पीड़ा देने वाले लोगों को, उसके राज्य की इच्छा रखने वालों को, देव एवं गुरु के प्रति शत्रुता रखने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वालों को, चोर को, प्राण का वियोजन करने वाले को, अर्थात् किसी का वध करने वाले को दृढ़ात्मन् होकर दण्ड देना चाहिए। दुष्टों को दण्ड देना, स्वजनों का सत्कार करना तथा न्यायपूर्वक राज्यकोष की अभिवृद्धि करना, पक्षपात से रहित होकर राज्य की रक्षा करना तथा नृपों द्वारा करणीय जो पाँच प्रकार के यज्ञ बताए गए हैं, उन्हें करवाना चाहिए। - इस प्रकार की राज्योचित शिक्षा देकर राजा को पट्टाश्व, पट्टहस्ति तथा पट्टरथ प्रदान करे। पट्ट-अश्वादि की अभिषेक विधि पूर्व में कहे गए अनुसार ही है। तत्पश्चात् गुरु नृप को दिग्विजयादि कर्म करने की अनुज्ञा प्रदान करे।

राजा के योग्य चिह्न इस प्रकार हैं - श्वेतछत्र, श्वेतचामर, रक्तमण्डप (स्थूलादि), लाल रंग के रेशमी वस्त्र से आवृत्त शय्या, सोने का कड़ा, नृपासन, पादपीठ, श्वेतजीन, तरकस, विजय का सूचक इन्द्रध्वज एवं बुक्कवाद्य (बुगुल) दूसरों के द्वारा जय-जयकार की ध्वनि, सोने-चाँदी की मुद्राएँ - ये सब राजा के चिन्ह हैं। जो राजसूर्य यज्ञ करके सम्पूर्ण पृथ्वी पर विजय प्राप्त करता है तथा अन्य राजाओं पर शासन करता है, वह चक्रवर्ती सम्राट होता है। चक्रवर्ती के राज्याभिषेक की विधि भी राजा के समान है। शेष युद्धादि द्वारा दिग्विजय करने की सम्पूर्ण विधि नीतिशास्त्र से जानें। यह आचारशास्त्र का ग्रन्थ है। अन्य कथा-पंथों, अर्थात् अन्य चर्चा द्वारा इसके विस्तार का भय है। अतः पदारोपण-अधिकार के क्षत्रिय-पदारोपण-प्रकरण में नृप-पदारोपण की यह विधि सम्पूर्ण होती है।

राज्ञी (रानी)-पदारोपण-विधि -

भद्रासन पर बैठाकर तिलक करके एवं चामर ढुलवाकर रानी की पदारोपण की विधि की जाती है। उनको दी जाने वाली हितशिक्षा इस प्रकार है -

हे वत्स ! तुम तीनों कुल की कीर्ति को फैलाना, ईश्वर की भक्ति के समान ही अपने स्वजनों एवं पति की भी भक्ति करना, सुरेन्द्र-पद का लाभ होने पर तथा प्राणनाश होने पर भी स्त्री के पतिव्रता होने के नियम से च्युत होकर अपतिव्रता मत होना, स्वबन्धु,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वपुत्र, स्वजनों को तथा जो तुम्हें माता के समान मानते हैं - ऐसे सभी प्रजाजनों के प्रति समान दृष्टि रखना। दीनों, कर्मचारियों, याचकों, नृप द्वारा निगृहीत अन्य प्राणियों पर हमेशा दया करना। सभी लोकोत्तर एवं लौकिक नियम, पर्वों एवं उत्सवों आदि का आचरण करना। पति के व्यसनग्रस्त होने पर भी मध्यस्थभाव को धारण करना, कोष की रक्षा करना तथा सुकृत में धन का व्यय करना। यात्रियों, साधुओं, विद्वानों, गुणिजनों, राजाओं, हतभागियों का विशेष रूप से पालन करना तथा अवरोध करने वाले लोगों का पालन करना और उन पर शासन करना। विरोधीजनों द्वारा लाया गया भोजन शंकित मन से तथा सम्यक् प्रकार से परीक्षण करके खाना। रसवती, अर्थात् भोजन बनाने सम्बन्धी कार्यों में सदा प्रयत्न करना। पृथ्वी पर सर्वोत्तम दान देकर विपुल यश को प्राप्त करना। अपने सम्पूर्ण पत्नीमण्डल का, अर्थात् राजा की सभी रानियों का सास की तरह परिपालन करना, उनकी सन्तानों का भी स्वपुत्र के समान ही करुणाभाव से पोषण करना।

कभी भी अत्यंत विषयासक्ति मत रखना, राज्य एवं व्यापार के सम्बन्ध में सदैव खेदित मत रहना, परस्पर अविरोधपूर्वक त्रिवर्ग की साधना करना - इत्यादि शिक्षा देकर गुरु राज्ञी को अनुशासित करे। राज्ञी के उपकरण इस प्रकार हैं - चामर, स्वर्णकलश, छत्र, शिखि (वेणी), मोतियों का हार, पाँच शिखर वाला मुकुट, अद्वितीय वेत्रासन। राज्ञी के चलते समय दोनों तरफ चामर ढुलाए जाते हैं। नृपति की भाँति उसके आगे मत्स्य- पताका और राज्यहस्ती चलता है तथा गीत एवं वाद्य बजते हैं।

इस प्रकार पदारोपण-अधिकार में राज्ञी (पटरानी) के पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

सामन्त-पदारोपण -

सामन्त नृपति का सहोदर तथा राज्य के भूमि-भाग का शासक या अधिपति होता है। इस प्रकार वह राजकुल का ही व्यक्ति होता है, अथवा किंचित् भूमण्डल का स्वामी और राज (युवराज) विरुद का धारक होता है। एक मध्यस्थ के रूप में राज्य के सात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंगों को धारण करने वाला होता है। मुद्रा, श्वेतछत्र आदि चिन्हों से रहित एवं महाभूपति की आज्ञा को धारण करने वाले (आज्ञानुवर्ती) को सामन्त कहते हैं। उसकी पदारोपण- विधि इस प्रकार है। सामन्त की पदारोपण-विधि में अपेक्षित वस्तुओं की सूची इस प्रकार है -

सिंहासन, श्वेतछत्र, स्वर्णकलश, इन्द्रध्वज, बुक्का, सिंहनाद, श्वेतकाटी, रक्तपट का मण्डप एवं मुद्रा को छोड़कर शेष सभी वस्तुएँ (चिह्न) राजा के पदारोपण समान ही इसमें भी आवश्यक होती हैं। सामन्त का अभिषेक नहीं होता, मात्र स्वगुरु, पिता, भगिनी और तत्पश्चात् महाभूपति के हाथ से उसका तिलक होता है। इस तिलक का मंत्र पूर्ववत् ही है। सामन्त को दी जाने वाली शिक्षा, अर्थात् अनुशास्ति भी नृपति-शिक्षा के समान ही है, किन्तु यहाँ स्वदेश के राजा की अपेक्षा से इतना विशेष कहा जाता है - "तुम कभी भी नृपति की आज्ञा का खण्डन मत करना, अत्यन्त बलिष्ठजनों से कभी भी वैर मत बढ़ाना, अर्थात् उनका विरोध मत करना।"

उसकी सामग्री इस प्रकार है - चतुरंग सेना, श्वेतपट का मण्डप, वेत्रासन, चामर, छत्र, कलंगी, मोतियों की माला। कुछ विद्वान् सामन्तों के लिए महाभूपति द्वारा समर्पित रक्त एवं श्वेतछत्र धारण करने के लिए कहते हैं। बुक्का वाद्य को एवं श्वेतअश्व काठी को छोड़कर मत्स्यध्वज आदि सभी वस्तुएँ उसके प्रासाद के आगे भी होती है। स्वमण्डल में उसी की आज्ञा चलती है तथा उसके सिर पर चाँदी का पाँच कलगी वाला मुकुट होता है। सामन्त की पत्नी का भी पदारोपण सामन्त के पदारोपण की भाँति होता है तथा उसकी शिक्षा-विधि भी सामन्त की शिक्षा-विधि के सदृश ही है। छत्र, चामर को छोड़कर सामन्त की पत्नी के शेष सभी उपकरण सामन्त की भाँति ही होते हैं। पदारोपण-अधिकार में सामन्त-पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

मण्डलेश्वर का पदारोपण -

मण्डलेश्वर कुछ नगर एवं ग्रामों का अधिपति होता है, महानृप एवं सामन्त की आज्ञा को धारण करने वाला होता है तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राणा के नाम से प्रसिद्ध होता है। उसकी पदारोपण-विधि इस प्रकार है -

गुरुजन, महाभूपति एवं सामन्त द्वारा तिलक करने मात्र से ही उसका पदारोपण हो जाता है। उसे अनुशासित करने की प्रक्रिया भी सामन्त की भाँति ही है। उसके उपकरण इस प्रकार हैं - अश्व एवं पैदल सैन्य, वेत्रासन, पटह, दुंदुभिवाद्य, चामरांकित पताका (या गृह), श्वेतपट का मण्डप, स्वयं के वाहनरूप एक रथ - यह सामग्री मण्डलेश्वर की प्रभुता को प्रदर्शित करने हेतु निर्धारित की गई है, किन्तु गज, रथ, चामर सर्व प्रकार के छत्र, बुक्कावाद्य, ताम्रवाद्य, मत्स्य-पताका, जय-विजय के उद्घोष-पूर्वक प्रणाम, पट्टाभिषेक, स्त्री की मण्डलेश्वर पद पर नियुक्ति, हस्ति आदि की सवारी, गीत-वाद्य, नृप के साथ भोजन-जलपान आदि करना, विरुदावली (यशोगाथा-गान), इत्यादि वस्तुएँ मण्डलेश के नहीं होती हैं। पदारोपण-अधिकार में मण्डलेश-पदस्थापना की यह विधि बताई गई है।

देशमण्डलाधिपति की पदारोपण-विधि -

देशमण्डलाधिपति राजधानी एवं नगर के आधिपत्य से रहित, मात्र कुछ ही ग्रामों का अधिपति होता है तथा ठाकुर के नाम से लोक-प्रसिद्ध होता है। इसकी पदारोपण- विधि मण्डलेश्वर के पदारोपण के समान ही है। देशमण्डलाधिपति का मण्डलेश्वर द्वारा तिलक करने पर भी पदारोपण होता है। ध्वज, वेत्रासन, रथारोहण को छोड़कर उसके शेष सभी उपकरण मण्डलेश्वर के सदृश ही होते हैं। उसे पर्यंकबन्ध (कटिपट्ट बांधने) एवं पर्षदा का अधिकार नहीं होता है और न वह वेत्रासन आदि रख सकता है। देशमण्डलाधिपति को अनुशासित करने की विधि मण्डलेश्वर की भाँति ही है।

पदारोपण-अधिकार में देशमण्डलाधिपति के पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

ग्रामाधिपति का पदारोपण -

ग्रामाधिपति स्व-स्व के ग्राम में ही निवास करते हैं। उसका पदारोपण सामन्त या मण्डलाधिपतियों द्वारा तिलक से नहीं होता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु महानृप, सामन्त, मण्डलेश्वर आदि द्वारा वस्त्र, दण्ड, तलवार आदि प्रदान करने से ही उसका पदारोपण मान लिया जाता है। उसके अधिकार इस प्रकार होते हैं - अश्वारोहण, दण्डादि का धारण, राज्य प्रदत्त भूमि, पैदल सैन्य रखना और डिण्डिम-वाद्य। इसको अनुशासित करने की विधि इस प्रकार है -

स्वामीभक्ति करना, हमेशा न्यायपूर्वक कार्य-अकार्य का विचार करना, ग्राम के सभी लोगों को अपने बन्धु के समान मानना, सभी जगह विनय-गुण को धारण करना, प्रियवचन बोलना, ग्रामीणजनों के क्रुद्ध होने पर भी कभी क्रोध नहीं करना, स्वयं का रुधिर देकर भी नृप और अपने ग्रामवासियों की रक्षा करना, दण्ड देकर या दण्डित किए बिना अपने स्वामी एवं पुर की रक्षा करना।

प्रतिदिन (रात्रि में) जागकर ग्राम की रक्षा करना। मुसाफिरों एवं यात्रियों को कभी भी पीड़ा नहीं देना, खेती एवं पशुपालन करने वाले ग्रामीणों से कर लेना इत्यादि। इस प्रकार गुरु ग्रामाधिपति को अनुशासित करते हैं। पदारोपण-अधिकार में ग्रामाधिपति- पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

मंत्रीपदारोपण-विधि -

राजा के सदृश ही मंत्री भी सभी कार्यों को करने वाले, स्वाभिमानी, मतिमान् एवं राजा के प्राणों के समान होते हैं। मंत्रीपद के योग्य पुरुष के लक्षण इस प्रकार हैं - कुलीन, कार्यकुशल, धैर्यवान्, दाता, सत्य को सम्मान देने वाला, न्यायनिष्ठ, मेधावी, पराक्रमी, शास्त्रज्ञ, सर्वव्यसनों से मुक्त, दण्डनीति में प्रवीण, दूसरों के मनोभावों को समझने वाला, सत्यासत्य की परीक्षा करने में कुशल, सहोदर द्वारा अपराध होने पर उसके साथ शत्रु के समान व्यवहार करने वाला, धर्मकार्य में रत, दूरदर्शी, चारों प्रकार की बुद्धियों से युक्त, षट्दर्शनों में निपुण, भक्तिपरक एवं देव-गुरु का उपासक सदैव सदाचार का पालन करने वाला, पापकार्यों से विमुख, नीर-क्षीरवत् न्याय करने में सदैव समर्थ होना चाहिए। वंश-परम्परा से आगत मंत्री ही राजा के लिए योग्य कहा गया है। इस प्रकार का पुरुष ही मंत्रीपद के योग्य होता है तथा राज्य की वृद्धि करने वाला होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंत्री की पदारोपण-विधि में मण्डलाधिपति, देशमण्डलाधिपति, ग्रामाधिपति, मंत्री, सेनापति, कर्माधिकारी आदि द्वारा तिलक एवं मुद्रा प्राप्त करने से पूर्व एवं पश्चात् विधिपूर्वक शान्तिक एवं पौष्टिककर्म करें।

मंत्री-पदारोपण-विधि में नृप के हाथ से मुद्रा एवं वस्त्र आदि की प्राप्ति से ही उसका पदारोपण हो जाता है। उसे नृपादेश एवं प्रसाद से अलंकरण प्राप्त होते हैं, अतः उनके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है।

मंत्री को अनुशासित करने की विधि -

गुरु उसे सामनीति, कामन्दकनीति, चाणक्यनीति के विस्तृत कथनों से अनुशासित करे। पदारोपण-अधिकार में यह मंत्री-पदारोपण की विधि बताई गई है।

सेनापति-पद -

सेनापति राजा के सैन्य सम्बन्धी एवं युद्ध सम्बन्धी समस्त कार्यों को कार्यान्वित करने वाला, बद्धपरिकर, अर्थात् अनुचरों से युक्त तथा नृप के प्राण की भाँति होता है।

सेनापति के लक्षण -

विद्वानों ने निम्न प्रकार के व्यक्तियों को सेनापति-पद के योग्य कहा है - जो शूरवीर हो, मधुरभाषी हो, स्वाभिमानी हो, बुद्धिमान् हो, अनेक बन्धु-बान्धवों से युक्त हो, स्वपक्ष का रक्षक हो, बहुत से नौकरों से युक्त हो, सभी देशों के मार्गों को जानने वाला हो, दाता हो, सौभाग्यशाली हो, वाग्मी हो, विश्वासपात्र हो, शस्त्र-अस्त्र चलाने एवं युद्ध करने में निपुण हो, सेना को सुसज्जित करने में श्रमशील हो। हमेशा प्रमाद से रहित, अर्थात् अप्रमत्त हो एवं सर्वव्यसनों का त्यागी हो।

सेनापति-पदारोपण-विधि -

नृप द्वारा प्रदत्त वस्त्र, सुवर्ण एवं दण्ड देने से ही सेनापति का पदारोपण हो जाता है। कुछ विद्वान् इस विधि में स्वामी के हाथों से सेनापति को तिलक करने के लिए भी कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेनापति को अनुशासित करने की विधि -

शत्रु के बल के अहंकार को तुम स्वबुद्धि एवं बाहुबल द्वारा विनष्ट करना, कभी भी दूसरे पर विश्वास मत करना, दूसरों के मण्डल में प्रवेश करने के बाद कभी भी असावधानी मत रखना तथा परसैन्य अल्प होने पर भी महान् उपक्रम करना। देश, काल, स्वबल, स्वशक्ति, सैन्य-संयोजन और स्वपक्ष - इन षट्गुणों का विचार करके ही शत्रु पर अभियोजन, अर्थात् आक्रमण करना, अन्यथा मत करना।

अपने स्वामी को जय प्रदान कराना, स्वयं के प्राणों की रक्षा करना। इस प्रकार की उत्कृष्ट शिक्षा देकर गुरु दण्डनायक (सेनापति) को अनुशासित करता है। पदारोपण- अधिकार में सेनापति-पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

कर्माधिकारी-पदारोपण-विधि -

कर्माधिकारी कितने प्रकार के होते हैं, यहाँ सर्वप्रथम उसका वर्णन है -

प्रतिहारी (द्वाररक्षक), कोट्टपति (दुर्गरक्षक), द्रहपति (दुर्ग के चारों ओर रही हुई जलप्रवाही (नहर) का रक्षक), नलरक्षक, शुल्काधिपति, रुप्याधिपति, स्वर्णाधिपति, कारूकाधिपति, अन्तःपुराधिपति, शूद्राधिपति, किंकराधिपति, रथानीकाधिपति, गजानीकाधिपति, तुरंगानीकाधिपति, पदात्यनीकाधिपति, सैन्यसंवाहक, धर्माधिकारी, भांडागारिक, कोष्ठागारिक (भंडारी), पुरोहित, संसप्तक (एक प्रकार का योद्धा) आदि।

उन सभी कर्माधिकारियों के लक्षण इस प्रकार हैं -

कुलीन, कुशल, धैर्यवान्, शूरवीर, शास्त्र-विशारद, स्वामीभक्त, धर्म में अनुरक्त, सम्मान एवं वात्सल्य से युक्त, सर्व व्यसनों से मुक्त, पवित्र, लोभ से रहित, सभी पर समान भाव रखने वाला, राजा की वस्तुओं की सुरक्षा करने वाला, पर की अपेक्षा नहीं रखने वाला, गुरुभक्त, मधुरभाषी, उदार, अतिभाग्यवान्, धर्म एवं न्याय में सदा रत रहने वाला, अप्रमत्त, प्रसन्नवदन एवं प्रायः कीर्तिप्रिय भी हो, इस प्रकार के पुरुष कर्माधिकारी- पद के योग्य होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन सभी कर्माधिकारियों का पदारोपण नृप के आदेश से उनको तलवार, दण्ड, अंकुश, चाबुक आदि प्रदान करने, वीरतापूर्वक मुष्टि बाँधने या आदेशात्मक वचनमात्र से ही हो जाता है। इन सभी कर्माधिकारियों को अनुशासित करने की विधि इस प्रकार है -

स्वामी ने तुम्हें जिस कार्य हेतु नियुक्त किया है, तुम उसे विश्वासपूर्वक करना, अपना कार्य करने में कभी भी प्रमाद मत करना तथा स्वामी को जो इच्छित हो, वही कार्य करना। कभी भी प्रजा को पीड़ित मत करना, सद्कार्य करना, न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करना, उत्तम पुरुषों की कभी भी उपेक्षा मत करना, प्रजाधन एवं राजा के धन की कभी भी आकांक्षा मत करना। सदैव सभी कर्माधिकारियों को इसी प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाए। पदारोपणाधिकार में कर्माधिकारी-पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

वैश्य एवं शूद्रों को मंत्री, सेनापति, कर्माधिकारी का पद राजा की कृपा से ही प्राप्त होता है। उनके पदारोपण की विधि भी पूर्व में कहे गए अनुसार ही है, किन्तु इनमें श्रेष्ठि, सार्थवाह एवं गृहपति - ये तीन पद पूर्वापेक्षा अधिक होते हैं। श्रेष्ठि - श्रेष्ठि सर्व वणिक् वर्ग में श्रेष्ठ होते हैं, नृप द्वारा सम्मानित होते हैं तथा कार्य करने वाले होते हैं। सार्थवाह - सर्व देश के भूपतियों द्वारा मान्य होता है, विविध प्रकार के व्यापार करने वाला तथा सार्थों का स्वामी होता है। गृहपति - यह राजा के द्रव्य के देखभाल का कार्य करता है तथा उनका विश्वासपात्र होता है। इन सबका पदारोपण नृप के आदेश से होता है तथा इनको दी जाने वाली शिक्षा कर्माधिकारियों की शिक्षा के सदृश ही है। पदारोपण- अधिकार में वैश्य एवं शूद्रों के पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

महाशूद्र आभीर का पदारोपण ग्रामाध्यक्ष के रूप में होता है और उसका पदारोपण भी नृप के आदेश से ही होता है तथा उसे दी जाने वाली शिक्षा पूर्व में ग्रामाधिपति- पदारोपण की विधि के अनुसार ही है। कारूओं का पदारोपण स्व-स्वजाति के मुखिया के रूप में होता है और उनका पदारोपण राजा द्वारा वस्त्रादि तथा उनके शिल्प से सम्बन्धित सोने-चाँदी के उपकरणों के प्रदान करने से होता है। उनको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दी जाने वाली शिक्षा कर्माधिकारियों के सदृश ही है। पदारोपणाधिकार में महाशूद्र एवं कारूओं के पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

पशुओं के पदारोपण की विधि -

पशुओं के पदारोपण की विधि इस प्रकार है - हस्ति, अश्व, वृषभ आदि में जो मुख्य, प्रधान, श्रेष्ठ होते हैं, वे ही पद को प्राप्त करते हैं। पंचगव्य, तीर्थोदक, गन्धोदक से स्नान किए हुए, प्रशस्त वस्त्र से आच्छादित, यक्षकर्दम, पुष्पमाला आदि से पूजित उन पशुओं को गुरु के आगे खड़े करे। गुरु प्रतिष्ठा-विधि में कहे गए अनुसार अधिवासना- मंत्र से उन्हें अधिवासित करे। तत्पश्चात् नृपादि उनकी सम्यक् प्रकार से पूजा करके उस पर आरूढ़ हो। - पदारोपण-अधिकार में पशुओं के पदारोपण की यह विधि बताई गई है।

संघपति-पदारोपण-विधि -

चारों ही वर्णों में प्रशस्त, तीर्थंकर नामकर्म का अनुबन्ध कराने वाली, भोग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाली, सर्व वांछित फल को देने वाली, चक्रवर्ती-पद से भी उत्कृष्ट संघपति-पदारोपण की विधि इस प्रकार है -

सर्व ऋद्धि सम्पन्न, गृहस्थ के विशिष्ट गुणों एवं श्रावक के गुणों से युक्त, विशुद्ध भावनाओं से वासित, सम्पत्तिवान्, चतुर्विध संघ से मिलनसार, क्रोध, मान, माया एवं लोभ से रहित, देव एवं गुरु की भक्ति करने वाला पुरुष अनादितीर्थों या कल्पादि तीर्थों की यात्रापूर्वक संघपति-पद को प्राप्त करता है, उसकी विधि यह है -

विवाह, दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि के समान ही प्रस्थान योग्य नक्षत्रों में वर्ष, मास, दिन, लग्न आदि की शुद्धि देखकर - संघपति-पद के आरोपण के योग्य नक्षत्र में पदारोपण करके प्रस्थान योग्य नक्षत्र में संघ-प्रस्थान की क्रिया की जाए।

सर्वप्रथम उसके गृह में शान्तिक एवं पौष्टिककर्म करे। तत्पश्चात् लग्नवेला के आने पर, महावाद्यों के बजाए जाने पर, महादान दिए जाने पर, मंगलगीत गाए जाने पर, बन्दीजनों एवं चारणों द्वारा विरुदावली बोले जाने पर चतुर्विध संघ के समक्ष यति गुरु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा गृहस्थ गुरु संघपति को उसकी भार्या के साथ ग्रन्थिबन्धन कराकर आसन पर बैठाए। तत्पश्चात् संघपति एवं उसकी भार्या के शरीर पर 'क्षिप ऊँ स्वाहा', इत्यादि मंत्रन्यासपूर्वक शरीर की रक्षा करे। तत्पश्चात् मनोज्ञ वस्त्र एवं आभरण को धारण किए हुए संघपति एवं उसकी भार्या को कुशाग्र पर रही हुई शान्तिकजल की बूंदों से अभिसिक्त करे। तत्पश्चात् सिर पर "ऊँ", भाल पर "श्रीं", नयनों पर "ह्रीं", कर्ण पर "श्रीं", मुख पर "जं", कण्ठ पर "वं", स्कन्धों पर "ह्रीं", भुजाओं पर "भ्रं", हृदय पर "क्ष्म्ल्यूँ", नाभि पर "ऐं", भौंहो पर "ब्रूं"- इन बीजाक्षरों का एवं चंदन-पूजापूर्वक संघपति तथा उसकी भार्या के शरीर पर न्यास करे। तत्पश्चात् पौष्टिकदण्डक का पाठ पढ़कर संघपति एवं उसकी भार्या के मस्तक पर चन्दन का तिलक करे, अक्षत लगाए तथा अष्टविध अर्घ प्रदान करे। गुरु व्रतारम्भ-विधिपूर्वक उन पर वासचूर्ण का क्षेपण करे। तत्पश्चात् गुरु पुनः आसन पर बैठ जाए, उसके बाद अन्य तपस्वी श्रावक-श्राविकाएँ आदि उन्हें तिलक करें। फिर संघपति गृहस्थ गुरु को मुद्रासहित श्वेत रेशमी वस्त्र एवं मणिजड़ित स्वर्ण का कंकण प्रदान करे। तत्पश्चात् सभी साधुओं को वस्त्र वगैरह प्रदान करें एवं अत्यन्त ऋद्धिपूर्वक संघ की पूजा करे। फिर संघपति, माण्डलिक, महागृहपति, भाण्डागारिक, कोट्टपति, जल का स्वामी आदि को क्रमानुसार तिलकपूर्वक वस्त्र-वितरण करे। यह संघपति-पदारोपण की विधि बताई गई है। इसके लिए आवश्यक उपकरण इस प्रकार हैं -

अंजन-शलाका से युक्त जिनबिम्ब एवं मंदिर, छत्र, चामर, कुम्भ, ध्वजा, महनीय चतुर्विध सैन्यबल, देवालय के लिए शकट (बैलगाड़ी) तथा उसके लिए श्वेत वर्ण के तथा बलिष्ठ दो बैल, वस्त्र, देवालय को ढकने के लिए विशिष्ट कौसुम्भवस्त्र (केशरिया) का आवरण, बैलों को सजाने के लिए घुंघरूयुक्त पैरों के आभूषण, घण्टा, स्वर्ण के कलश, स्वर्णमण्डित चार चौकियाँ, कुम्भ, अक्षत आदि विशिष्ट प्रकार के आसन (या चौकियाँ), आरती, धातु के सोलह कुम्भ, चन्दन, कर्पूर, चन्दन घीसने के लिए ओरसीया (शिला-विशेष), श्रेष्ठ चन्दन, पंखी, शुभ धूपदानी, निर्माजनिका, कलश को ढकने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए वस्त्र, टोकरी, मेरु, रथ, जल का कुण्ड, कलश, पूजा करने वाले लोग, नैवेद्य के पात्र, चतुष्किका (चौकियाँ), रात्रि के लिए ऊँचे-ऊँचे दीपक, उसके लिए बैलगाड़ी, छोटे-छोटे दीपक, सभी प्रकार के मनोहर वाद्य, वाद्यों को बजाने वाले (वादकजन), अर्हन्त के भजनों के गायक, महाध्वजा, सद्गुरुओं के लिए कुश (घास) का संथारा, द्वारपाल, कपड़े के मण्डप (तम्बू), नाना प्रकार के श्वेत आवासगृह, प्रयाण के समय विपुल वैभव से संघपूजा, परमात्मा की पूजा, बन्दीजनों की मुक्ति, सुयोग्य साधु, प्रचुर मात्रा में भोज्यसामग्री से भरी हुई गाड़ियाँ, विशाल मण्डप, माण्डलिक, द्वारपाल, पार्षिण धरा (पीछे चलने वाली सेना की टुकड़ी), भाट-चारण, मौन रहने वाले मुनियों के लिए पट-मण्डप (तम्बू), सभी प्रकार के कारूजन, कुदाली, तांबे का महाचरू, कढ़ाही, सुयोग्य रसोइया, क्रियाणक बेचने वाले सौदागर, पानी की प्याऊ, अश्व के लिए आवश्यक वस्तुएँ, वैद्य, प्रचुर मात्रा में बन्दीजन (स्तुति करने वाले), सुखासन से युक्त मनुष्यों के निवास के लिए वस्त्र एवं विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से निर्मित आवासगृह, भोजन के लिए बर्तन, सूखी सब्जियाँ एवं विशेष रूप से ताम्बूल, मार्ग में ठहरने के लिए जल, वृक्ष, अग्नि के ईंधन आदि की उपलब्धि देखकर भूमि पर निवास करे। धूप आदि के निवारण के लिए मयूरपिच्छ, मार्ग में जहाँ भी चैत्य आए वहाँ सम्यक् प्रकार से दर्शन करना, महापूजा, ध्वजारोपण एवं ऋद्धिपूर्वक संघपूजा करे तथा संघ में रहे हुए मुनियों का साथ करते हुए चले - इस प्रकार नगरों में, ग्रामों में जो-जो जिनालय हैं, उन-उन जिनालयों में ध्वजारोपण एवं महापूजा करवाए - उपर्युक्त सभी संघपति के संग्रह-योग्य आवश्यक सामग्री है। तत्पश्चात् संघपति संकल्पित (लक्षित) तीर्थ पर पहुँचकर तीर्थ के दर्शनमात्र से महोत्सव एवं महादान करे। तत्पश्चात् संघपति समस्त संघसहित गृहस्थ गुरु एवं साधुओं को आगे करे तथा महामूल्यवान रत्न, स्वर्णमुद्रा एवं फलरूप भेंट अपने हाथों से अरिहंत परमात्मा के आगे चढ़ा कर दण्डवत् प्रणाम करे। शक्रस्तव के पाठ से तीर्थ की वन्दना करे। तत्पश्चात् बृहत्स्नात्रविधिपूर्वक परमात्मा की स्नात्रपूजा एवं महापूजा करे। चैत्य-परिपाटी, जिनमूर्ति पर बहुमूल्य आभरण चढ़ाए, प्राचीन तीर्थों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीर्णोद्धार एवं नूतन चैत्य बनवाए, महाध्वजारोपण करे, उदार भाव से अन्न का दान करे, महासंघ की पूजा करे। इन्द्रपद, मालारोपण इत्यादि कर्म अन्य श्रावकों द्वारा किए जाते हैं। इन्द्र (राजा), महाधर (भाण्डारिक), मालाधर, पाणिग्राहादि भी महापूजा, ध्वजारोपण एवं संघपूजा करें। तीर्थ में ये संघपति के कार्य हैं। पुनः उसी प्रकार वापस घर आए। परमात्मा के समक्ष भोजन का थाल रखे, संघवात्सल्य एवं संघपूजा करे। पदारोपण-अधिकार में संघपति-पदारोपण की यह विधि इस प्रकार बताई गई है।

मुद्रा-विचार -

प्रतिष्ठा, पूजन एवं पदारोपण की समस्त विधियों में, ध्यान में, मंत्रोपासना में, वासचूर्ण को अभिमंत्रित करने में, सभी नन्दियों में मुद्राओं का दर्शन कराना परमावश्यक है, अतः प्रसंगवशात् उनका संग्रह करके यहाँ उनकी व्याख्या करते हैं -

१. परमेष्ठी-मुद्रा - सीधे खड़े हुए दोनों हाथों का वेणीबंध करके (एक-दूसरे से संयोजित कर) दोनों अंगूठों से दोनों कनिष्ठिका अंगुलियों को तथा दोनों तर्जनी अंगुलियों द्वारा दोनों मध्यमा अंगुलियों को पकड़कर दोनों अनामिका अंगुलियों को मिलाकर सीधी खड़ी करें - इसे परमेष्ठी-मुद्रा कहते हैं।

२. मुद्गर-मुद्रा - दोनों हाथों को एक-दूसरे से उल्टा मिलाकर अंगुलियों का वेणीबंध करने तथा दोनों हाथों को स्वयं की तरफ सीधा करने से मुद्गर-मुद्रा निष्पन्न होती है। इसका प्रयोग विघ्नविघातनार्थ किया जाता है।

३. वज्रमुद्रा - बाएँ हाथ के ऊपर दायाँ हाथ रखकर कनिष्ठिका अंगुलियों एवं अंगूठों से हाथ के कांडों को वेष्टित करके बाकी की अंगुलियों को विस्फारित छोड़ देने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे वज्रमुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग दुष्टरक्षा के निमित्त किया जाता है।

४. गरुड़मुद्रा - स्वयं के सम्मुख दायां हाथ खड़ा करके उसकी कनिष्ठिका अंगुली से बाएं हाथ की कनिष्ठिका अंगुली को पकड़कर दोनों हाथों को नीचे की तरफ उल्टा कर देने से जो मुद्रा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्पन्न होती है, उसे गरुड़मुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग विषापहार हेतु किया जाता है।

५. जिनमुद्रा - दोनों पैरों के बीच आगे की तरफ चार अंगुल और पीछे की तरफ कुछ कम अंतर रखकर खड्गासन से कायोत्सर्ग करने को जिनमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सुप्रतिष्ठाकारी है।

६. मुक्ताशुक्ति-मुद्रा - बीच में थोड़ा अवकाश रखकर दोनों हाथों को बराबर जोड़कर ललाटप्रदेश पर स्पर्श करने से मुक्ताशुक्ति-मुद्रा निष्पन्न होती है। यह मुद्रा पुण्यवृद्धिकारी है।

७. अंजलिमुद्रा - दोनों हाथों की अंगुलियों को किंचित्मात्र झुकाकर दोनों हाथों को जोड़ने से अंजलिमुद्रा निष्पन्न होती है। यह मुद्रा विनयकारी है।

८. सुरभिमुद्रा (धेनुमुद्रा) - दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर मिलाकर दोनों कनिष्ठिका अंगुलियों से दोनों अनामिका एवं दोनों मध्यमा अंगुलियों को दोनों तर्जनी अंगुलियों से संयोजित करने पर गाय के स्तनाकार जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे सुरभिमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा वांछितफलदायिनी है।

९. पद्ममुद्रा - बिना खिले हुए कमल-पुष्प के आकार में दोनों हाथों को मिलाकर बीच में कर्णिका के आकार में दोनों अंगूठों को रखने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे पद्ममुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा लक्ष्मीप्रदायिनी है।

१०. चक्रमुद्रा - बाएँ हाथ की हथेली में दाएँ हाथ का कांडा रखकर अंगुलियों को खोलकर (खुली करके) फैलाने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे चक्रमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सर्वरक्षाकारी है।

११. सौभाग्यमुद्रा - दोनों हाथों को एक-दूसरे के सामने खड़ा रखकर अंगुलियों का परस्पर वेणीबन्ध करें, तत्पश्चात् दोनों तर्जनी अंगुलियों द्वारा दोनों अनामिका अंगुलियों को पकड़कर, दोनों मध्यमा अंगुलियों को सीधी रखकर उनके मूल में दोनों अंगूठों को डालने से (रखने से) जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे सौभाग्यमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सौभाग्यकारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. यथाजात-मुद्रा - वन्दनक-क्रिया की स्थिति के सदृश, अर्थात् दोनों हाथों को शिप्राकार करके एवं मिलाकर ललाट के ऊपर स्थापित करने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे यथाजात-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा कर्मों का क्षय करने वाली है।

१३. आरात्रिक-मुद्रा - दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर मिलाकर पाँच स्थानों पर शिखा के समान स्थापित करने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे आरात्रिक-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा आदर-सत्कार प्रदान करने वाली है।

१४. वीर-मुद्रा - सुखासन में बैठकर दोनों हाथों को वरदाकार में रखने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे वीर-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सर्वरक्षाकारी है।

१५. विनीत-मुद्रा - सिर झुकाकर दोनों हाथ जोड़ने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे विनीत-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा पूजा हेतु उपयोगी है।

१६. प्रार्थना-मुद्रा - दोनों हाथों को फैलाकर मिलाने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे प्रार्थना-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा वांछितफल प्रदायिनी है।

१७. परशु-मुद्रा - दाएँ हाथ को थोड़ा आकुंचित करके तथा बाएँ हाथ को फैलाकर भूमि की तरफ करने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे परशुमुद्रा कहते हैं।

१८. छत्र-मुद्रा - बाएँ हाथ की पाँचों अंगुलियों को कली का आकार देकर उसे फैले हुए दाएँ हाथ पर रखने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे छत्र-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा प्रभुता को देने वाली है।

१९. प्रियंकरी-मुद्रा - दोनों भुजाओं का वज्राकार बनाकर दोनों कंधों पर हाथ स्थापित करने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे प्रियंकारी-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा स्तम्भनकारी है।

२०. गणधर-मुद्रा - पद्मासन में बैठकर बाएँ हाथ को उत्संग में स्थापित करके दाएँ हाथ को जाप की मुद्रा में हृदय पर रखने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे गणधर-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा लब्धि प्रदान करने वाली है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१. योग-मुद्रा - योग पट्टासन में स्थित होकर बाएँ हाथ को जानु पर, अथवा सिर पर रखने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे योग-मुद्रा कहते हैं।

२२. कच्छप-मुद्रा - स्वेच्छापूर्वक सुखासन में बैठकर पालथी के बीच बाएँ हाथ को फैलाकर उसके ऊपर दायां हाथ रखने से कच्छपाकार की जो आकृति निष्पन्न होती है, उसे कच्छप-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा स्तम्भनकारी है।

२३. धनुःसंधान-मुद्रा - पद्मासन में स्थित होकर बाएँ हाथ को फैलाकर भूमि का स्पर्श करने तथा दाएँ हाथ की मुष्टि बांधकर उसे आकाश में ऊपर की ओर स्थित करने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे धनुःसंधान-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सर्वभयों का हरण करने वाली है।

२४. योनिमुद्रा - सौभाग्यमुद्रा की भाँति मध्यमा को रखकर उसके मध्य में दोनों कनिष्ठिका अंगुलियों को स्थापित करने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे योनि-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा वांछित फल को प्रदान करने वाली है।

२५. दण्डमुद्रा - सुखासन में बैठकर दाएँ हाथ को मुष्टिबद्ध करके खड़े करने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे दण्डमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा कुलवृद्धिकारी है।

२६. सिंहमुद्रा - उत्कटिक आसन में स्थित होकर बाएँ हाथ को भूमि पर स्थापित कर दाएँ हाथ को अभयमुद्रा में रखने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे सिंह-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा भय का हरण करने वाली है।

२७. शक्तिमुद्रा - दोनों हाथों की मध्यमा एवं तर्जनी अंगुलियों को आगे-आगे योजित करने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे शक्तिमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा प्रतिष्ठादि कार्यों में उपयोगी है।

२८. शंखमुद्रा - तर्जनी एवं मध्यमा - इन दोनों अंगुलियों को अंगूठे के नीचे रखकर अनामिका एवं कनिष्ठिका - इन दोनों अंगुलियों को फैलाने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे शंखमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सर्वार्थ जयदायिनी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. पाशमुद्रा - दोनों कनिष्ठिका एवं दोनों तर्जनी अंगुलियों को वज्राकृती करके दोनों मध्यमा एवं दोनों अनामिका अंगुलियों को वक्र करने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे पाशमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा स्तम्भकारिणी है।

३०. खड्गमुद्रा - हाथ की अंगुलियों को मिलाकर, सीधी खड्गवत् रखने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे खड्गमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा विघ्न का नाश करने वाली है।

३१. कुन्तमुद्रा - दाएँ हाथ को मुष्टिबद्ध करके कर्ण के पार्श्व में धारण करने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे कुन्तमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा जनरक्षाकारी है।

३२. वृक्षमुद्रा - दाईं भुजा को आकुंचित करके हथेली एवं अंगुलियों को प्रसारित करने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे वृक्षमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा विष एवं जड़ता का हरण करने वाली है।

३३. शाल्मकी-मुद्रा - दोनों बाहुओं को परस्पर लतासदृश वेष्टित करके हाथ की अंगुलियों को कंकती (कंघा) बनाने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे शाल्मकीमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा ज्ञान-प्रकाशिनी है।

३४. कन्दुक-मुद्रा - दाएँ हाथ को अधोमुख करके और अंगुलियों को बिना किसी आधार के स्थापित करने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे कन्दुक-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा द्वेष का शमन करने वाली (विद्वेषणकारी) है।

३५. नागफण-मुद्रा - दाहिने हाथ की मिली हुई अंगुलियों को ऊपर उठाकर सर्पफण के समान कुछ मोड़ने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे नागफण-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा विष एवं जड़ता (लूता) का हरण करने वाली है।

३६. मालामुद्रा - दाहिने हाथ की अंगुलियों को मिलाकर तथा प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली को झुकाकर अंगुष्ठ के ऊपर स्थापित करने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे माला-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा पूजाकर्म हेतु उपयोगी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७. पताका-मुद्रा - दाएँ हाथ को खड़ा करके करतल को नीचे लटकते हुए या झूलते हुए रखने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे पताका-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सर्व विघ्नों को उपशान्त करने वाली है।

३८. घण्टा-मुद्रा - मुष्टि बाँधकर हाथ को कम्पित करने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे घण्टामुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा पूजा आदि कार्यों में उपयोगी है।

३९. प्रायश्चित्त विशोधिनी-मुद्रा - दाएँ हाथ से बाएँ हाथ की अंगुलियों को चटकाने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे प्रायश्चित्त विशोधिनी-मुद्रा कहते हैं। यथाजात नामक यह मुद्रा प्रायश्चित्तकारी या पाप विशोधनकारी है।

४०. ज्ञानकल्पलता-मुद्रा - नासिका के आगे, नाभि पर, भाल पर, अथवा भौहों पर दाएँ हाथ के अंगुठे पर तर्जनी अंगुली स्थापित करने से जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे ज्ञानकल्पलता (ज्ञान)-मुद्रा भी कहते हैं। यह मुद्रा योग-सिद्धिकारी है।

४१. मोक्षकल्पलता-मुद्रा - अंगूठों को अंगुलियों के समूह से अलग करके नाभि से अंगुलियों को चालित करते हुए द्वादश तक ले जाने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे मोक्षकल्पलता-मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा नाम के अनुरूप फल प्रदान करने वाली है।

४२. कल्पवृक्ष-मुद्रा - दोनों भुजाओं को कोहनियों से मिलाकर अंगुलियों को फैलाने पर जो मुद्रा निष्पन्न होती है, उसे कल्पवृक्ष-मुद्रा कहते हैं।

महागम में इस प्रकार इन बयालीस मुद्राओं की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त काम में आने वाली अन्य मुद्राएँ भी प्रबुद्धजनों द्वारा प्रकल्पित हैं।

उन सबका अन्तर्भाव इन मुद्राओं में हो जाता है। कर्मों के वैविध्य के आधार पर ये मुद्राएँ कही गई हैं। अंकुश का आकार करने से अंकुश-मुद्रा होती है। मध्य शरीर को आकुंचित कर लपेटने से स्नान-मुद्रा होती है। इसी प्रकार से अपने-अपने कार्यों के अनुसार मुद्राएँ कही गई हैं। समाधान की मुद्रा तो अपना पूर्ण समाधान से ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। देह-रक्षा करने से मुद्रा को कवच भी कहा जाता है। आच्छोटन आदि कर्म तथा दिग्बन्ध आदि कर्मों में तर्जनी-मुद्रा उस-उस प्रकार की चेष्टाओं के आधार पर होती है। उन-उन क्रियाओं के अन्तर्गत ही उन-उन मुद्राओं का विवेचन मनीषियों द्वारा किया गया है। समस्त मुद्राएँ शान्तिककर्म आदि कर्मों में बताई गई हैं। अपने-अपने विधि-विधानों के अन्तर्गत ये मुद्राएँ यति एवं गृहस्थ द्वारा की जाती हैं, इसलिए मुद्राएँ गृहस्थ एवं साधु - दोनों के लिए करणीय मानी गई हैं। इस प्रकार पदारोपणाधिकार में मुद्रा-कीर्तन नामक यह प्रकरण पूर्ण होता है।

नामकरण-विधि -

नामकरण की विधि इस प्रकार है -

सर्व लोक की सर्व वस्तुओं का कोई न कोई नाम अवश्य होता है। इसी प्रकार सर्व जीवों, सर्व कार्यों एवं सर्व संयोजनों के भी नाम होते हैं। जिनमें शब्द, रूप, रस, स्पर्श एवं गंध समाहित हैं, वे सभी वस्तुएँ उनके प्रभाव से किसी नाम द्वारा ही जानी जाती हैं। शब्दशास्त्र में नाम तीन प्रकार के कहे गए हैं - १. रूढ़ नाम २. यौगिक नाम एवं ३. मिश्र (संयोगजन्य) नाम। शास्त्रों में शिष्य एवं सेवकों की जो नाम-संपत्ति बताई गई है, वह सुखदायिनी है तथा उससे विपरीत नाम-संपत्ति दुःखदायी है। जिन वस्तुओं के नाम स्वाभाविक रूप से एवं परम्परा से चले आ रहे हैं, उन वस्तुओं के नामों में देश, काल आदि भेद से कभी भी परिवर्तन नहीं करना चाहिए। प्राचीन समय में जैन साधु संस्था में भी मुनिपद या सूरिपद को प्राप्त करने पर भी मोक्षगामी व्यक्तियों के नामों में कोई परिवर्तन नहीं होता था, किन्तु वर्तमान में गच्छ की वृद्धि, महास्नेह एवं दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति हो - इस आशय से आचार्य एवं शिष्य के नामों में परिवर्तन किया जाता है, किन्तु इन कारणों से शिष्य या आचार्यों आदि का नामान्तर भी उनकी नाम-राशि के आधार पर ही किया जाता है। गुरु शिष्य के गुणों की प्रधानता को दृष्टिगत रखकर उसका नामकरण करते हैं। अश्विनी की योनि अश्व, भरणी की हाथी, कृतिका की मेष, रोहिणी की सर्प, मृगशीर्ष की सर्प, आर्द्रा की कुत्ता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनर्वसु की बिलाव, पुष्य की मेष, आश्लेषा की बिलाव, मघा की मूषक, पू.फाल्गुनी की मूषक, उ.फाल्गुनी की गौ, हस्त की महिष, चित्रा की व्याघ्र, स्वाति की महिष, विशाखा की व्याघ्र, अनुराधा की हरिण, ज्येष्ठा की हरिण, मूला की कुत्ता, पूर्वाषाढ़ा की वानर, अभिजित् की नकुल (नेवला), उत्तराषाढ़ा की नकुल (नेवला), श्रवण की वानर, धनिष्ठा की सिंह, शतभिषा की अश्व, पू.भाद्रपदा की सिंह, उ.भाद्रपदा की गौ, रेवती की कुंजर (हाथी) योनि हैं।

गाय-व्याघ्र, गज-सिंह, अश्व-भैंस, सर्प-नेवला, वानर-अज, मार्जार-मूषक एवं हरिण-श्वान (इन सब योनियों का परस्पर वैर है), अतः लोक-व्यवहार, जैसे - दंपत्ति (पति-पत्नी) नृप-सेवक, गुरु-शिष्य आदि के नामों से तथा अन्य नामकरणों में भी हमेशा परस्पर विरोधी इन योनियों का वर्जन करना चाहिए। 'अ' वर्ग (समस्त स्वर), 'क' वर्ग (क,ख,ग,घ,ङ), 'च' वर्ग (च,छ,ज,झ,ञ), 'ट' वर्ग (ट,ठ,ड,ढ,ण), 'त' वर्ग (त,थ,द,ध,न), 'प' वर्ग (प,फ,ब,भ,म), 'य' वर्ग (य,र,ल,व), 'श' वर्ग (श,ष,स,ह) - इन समस्त अक्षरों को आठ वर्गों में बाँटा गया है। इन वर्गों के स्वामी क्रमशः गरुड़, बिलाव, सिंह, कुत्ता, सर्प, चूहा, मृग और भेड़ हैं। इनका भी परस्पर वैर पूर्ववत् ही जानें (अर्थात् ये अपने से पाँचवें के शत्रु हैं)। यदि स्वामी एवं नौकर के नाम के प्रथम अक्षर भक्ष्य एवं भक्षक वर्ग के हों, तो शुभ नहीं है। यदि समान वर्ग, अथवा शत्रु भिन्न वर्ग स्वामी-सेवक के जन्म-नक्षत्र हों, तो शुभकारक हैं।[1]

नक्षत्रों के गण -

हस्त, स्वाति, अनुराधा, श्रवण, पुनर्वसु, मृगशीर्ष, अश्विनी, पुष्य एवं रेवती - इन नक्षत्रों का गण देव है। पूर्वात्रय (पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाफाल्गुनी और पूर्वाभाद्रपद), उत्तरात्रय (उत्तराषाढ़ा, उत्तराफाल्गुनी और उत्तराभाद्रपद), भरणी, आर्द्रा एवं रोहिणी - इन नक्षत्रों का गण

---

[1] मूलग्रन्थ की उक्त पंक्तियों का अर्थ हमने मुहूर्तराज के अनुसार किया हैं। ग्रंथकार का इन पंक्तियों से क्या आशय रहा होगा, यह तो केवलिगम्य ही हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनष्य है। ज्येष्ठा, मूल, शतभिषा, धनिष्ठा, आश्लेषा, कृत्तिका, चित्रा, मघा एवं विशाखा- इन नक्षत्रों का गण देव है। गुरु, शिष्य आदि में स्वगण हो, तो परम प्रीति, देव एवं मनुष्य-गण हो, तो मध्यम प्रीति, देव और राक्षस-गण हो, तो वैर तथा मनुष्य एवं राक्षस-गण हो, तो मृत्यु होती है। मकर, वृषभ, मीन, कन्या, वृश्चिक एवं कर्क - इन राशियों का अष्टक होने पर शत्रुता होती है। मेष, मिथुन, धनु, सिंह, कुंभ एवं तुला- इन राशियों का अष्टक मित्राष्टक, अर्थात् मित्रता को प्रदान करने वाला होता है। वैर- षट्काष्टक, अर्थात् मेष और कन्या, तुला और मीन, धनु और वृषभ, मिथुन और वृश्चिक, कुंभ और कर्क एवं सिंह और मकर राशियों का षट्काष्टक मृत्यु को देने वाला होता है। नव पंचक राशियों में, अर्थात् मीन और कर्क, वृश्चिक और कर्क, मिथुन और कुंभ एवं कन्या और मकर के नव पंचक में किया गया कार्य कलहकारी होता है। द्विद्वादश के अशुभ, अर्थात् मेष-वृष, मिथुन-कर्क, सिंह-कन्या, तुला-वृश्चिक, धन-मकर एवं कुंभ-मीन राशियों में किया गया कार्य दारिद्रकारी होता है तथा शेष राशियों में किया गया कार्य उत्तरप्रीति को प्रदान करने वाला होता है। गुरु एवं शिष्य का तारा परस्पर तीन, पाँच एवं सात हो, अर्थात् गुरु के जन्म-नक्षत्र से शिष्य के जन्म-नक्षत्र तक और शिष्य के जन्म-नक्षत्र से गुरु के जन्म-नक्षत्र तक गिनें - इस प्रकार जो अंक आएं, उसमें नौ का भाग दें, जो शेष अंक ३, ५ या ७ बचे, तो वह अशुभ होता है, अतः उसका वर्जन करना चाहिए तथा इसी प्रकार जन्म-नक्षत्रों की नाड़ी एक समान हो, तो उसका भी वर्जन करना चाहिए। इस प्रकार १. योनि २. वर्ग ३. लभ्यालभ्य ४. गण एवं ५. राशिभेद देखकर शुद्ध नाम रखना चाहिए। साधुओं के नाम के पूर्वपद निम्नलिखित कहे गए हैं - देव, गुण, शुभ, आगम, जिन, कीर्ति, रमा, चन्द्र, शील, उदय, धन, विद्या, विमल, कल्याण, जीव, मेघ, दिवाकर, मुनि, त्रिभुवन, अंभोज, सुधा, तेज, महा, नृप, दया, भाव, क्षमा, सूर, सुवर्ण, मणि, कर्म, आनंद, अनंत, धर्म, जय, देवेन्द्र, सागर, सिद्धि, शान्ति, लब्धि, बुद्धि, सहज, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर, विजय, चारू, राम, सिंह, (मृगाधिप), मही, विशाल, विबुध, विनय, नय, सर्व, प्रबोध,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप, गण, मेरु, वर, जयन्त, योग, तारा, कला, पृथ्वी, हरि, प्रिय, इत्यादि नाम के पूर्वपद कहे गए हैं।

शशांक, कुम्भ, शैल, अब्धि, कुमार, प्रभ, वल्लभ, सिंह, कुंजर (गज), देव, दत्त, कीर्ति, प्रिय, प्रवरा, आनन्द, निधि, राज, सुन्दर, शेखर, वर्द्धन, आकर, हंस, रत्न, मेरु, मूर्ति, सार, भूषण, धर्म, केतु, पुंगव, पुण्ड्रक, ज्ञान, दर्शन, वीर - ये साधुओं के नाम के उत्तरपद बताए गए हैं।

पूर्वपद एवं उत्तरपद के संयोजन से साधुओं के नाम बनते हैं और अन्य जो सहज नाम हैं, वे भी इस प्रकार ही जानने चाहिए। व्रत प्रदान करते समय गुरु पुरुषों को उन उत्तम पदों से युक्त नाम दे - इस प्रकार साधुओं के नाम बताए गए हैं। सूरिपद को प्राप्त करने पर भी ये नाम इसी प्रकार रहते हैं, कुछ गच्छों में नामों में परिवर्तन नहीं किया जाता, अर्थात् सूरिपद से पूर्व एवं पश्चात् का नाम एक जैसा ही रहता है। उपाध्याय एवं वाचनाचार्य के नाम भी साधु के समान ही होते हैं। साध्वियों के नाम के पूर्वपद यतियों (साधुओं) के समान ही होते हैं। इनके नाम के उत्तरपद इस प्रकार बताए गए हैं, यथा-मति, चूला, प्रभा, देवी, लब्धि, सिद्धि, वती। प्रवर्तिनियों के नाम भी इसी प्रकार से बताए गए हैं। महत्तराओं के नामों में भी पूर्वपद उसी प्रकार होते हैं। साध्वियों के अतिरिक्त अन्य किसी के नाम के उत्तरपद में श्री नहीं लगता। मुनियों के बताए गए सभी उत्तरपदों में 'आ'कार तथा अन्त में श्री लगाने से साध्वियों के नाम बनते हैं। कुछ लोग महत्तरा के नाम के अन्त में विशेष रूप से नन्दि, सेना आदि लगाते हैं। इसी प्रकार जिनकल्पियों के नाम भी साधुओं के समान ही होते हैं।

विद्वान् विप्रों के नाम बुद्ध, अर्हत्, विष्णु आदि परमात्मा के नामों के आधार पर दिए जाते हैं। बुद्धिमानों के नाम गणेश, कार्तिकेय, अर्क, चन्द्र, शंकर आदि शब्दों के आधार पर रखे जाते हैं। योगियों के नाम विद्याधर, समुद्र, कल्प, वृक्ष, जय आदि होते हैं। इस प्रकार उत्तमजनों के नाम रखने चाहिए। ब्रह्मचारी एवं क्षुल्लकों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामों में परिवर्तन नहीं होता है। अनेक हेतुओं से क्षत्रियों के नामों में पूर्वपद क्रमशः इस प्रकार होते हैं - पृथ्वी, विजय, विश्व, अब्द, गज, अश्व, पराक्रम, महा, युद्ध, वीर, दुर्धर, वल्लभ, बाहु, तेज, अनंत, कल्याण, प्रताप, गुण, भास्कर, देव, दानव, दुर्हत्क, सिंह, कन्दर्प, विष्णु (वेणु) - इन पूर्वपदों के साथ अग्रलिखित उत्तरपदों की योजना करने से क्षत्रियों के नाम बनते हैं। वे उत्तरपद इस प्रकार हैं - सिंह, सेन, देव, पाल, चन्द्र, सूर्य, अब्धि, शाल्यक, मल्ल, कोटीर, संघट्टा, दुःसह, व्याघ्र, मण्डन, जन, उत, वर्म, विद्वेषि, हस्त, शस्त्र, कर आदि। इस प्रकार आदिपदों के साथ इन उत्तरपदों का संयोजन करने से क्षत्रियों के नाम बनते हैं।

वयोवृद्ध उत्तम पुरुषों के नामों के अनुसार भी क्षत्रियों के नाम होते हैं। वैश्य, शूद्र, एवं कारूओं के नाम जिस देश में, जिस प्रकार से प्रचलित हों, वैसे एक पदात्मक नाम रखना चाहिए।

निम्न जाति के कर्मकारों के नाम भी निम्न जाति के वृक्षादि के नामों के आधार पर रखे जाते हैं। दूसरे शब्दों में हीन वस्तु के लिए प्रयुक्त एक पदात्मक नामों के आधार पर उनके नाम रखे जाते हैं। हस्ति, अश्व आदि पशुओं के नाम में भी जय शब्द जोड़ना चाहिए। इस प्रकार नामकरण करने से वह उत्तम कार्यों में तथा युद्ध में शत्रुओं पर जय का सूचक होता है।

इस प्रकार पदारोपण-संस्कार में नामकरण सम्बन्धी विधि बताई गई है। पदारोपण की क्रिया में पूर्व में बताए गए अनुसार नाम दिए जाते हैं। पदारोपण-अधिकार में नामकरण की विधि सम्पूर्ण होती है।

इस प्रकार वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर के उभयधर्मस्तम्भ में पदारोपण-कीर्तन नामक यह चालीसवाँ उदय समाप्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार-परमार्थ

अखिल लोक में संस्कारों के विधिविधान (व्यवहार) का महत्त्व इस प्रकार बताया गया है। संस्कार किस कारण से किए जाते हैं और उनके करने से क्या लाभ होते हैं, उसे बताते हैं। यदि आचारादि क्रियायोग से मनुष्य को कोई विशेष रूप, सौन्दर्य, प्रतिभा, कीर्ति एवं तेजस्विता प्राप्त नहीं होती है, तो फिर इन क्रियाओं को करने का क्या प्रयोजन है। जिस प्रकार अग्नि जलाने तथा पचाने में सक्षम होती है, उसी प्रकार मंत्रों के संस्कार के बिना भी मनुष्य कार्य करने में समर्थ होता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार ईंधन आदि से पुष्ट अग्नि जलाने में सक्षम है, उसी प्रकार आहारादि से पुष्ट व्यक्ति की देह भी कार्य करने में सक्षम होती है। इस प्रकार यदि संस्कार करने का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है, तो फिर संस्कार सम्बन्धी विधि-विधान हेतु व्यर्थ में वित्त का व्यय करने से क्या लाभ ? पुराणों में विहित ये क्रियाएँ व्यर्थ हैं। उत्तमता से अनुष्ठित ये संस्कार सम्बन्धी क्रियाएँ किस प्रकार हमें संसार-समुद्र से पार उतार सकती हैं, इसके प्रत्युत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि इहलौकिक एवं पारलौकिक कर्मों की फलश्रुति के सम्बन्ध में विद्वज्जनों एवं केवलियों के वचन ही सम्यक् रूप से ग्राह्य प्रमाण हैं। स्याद्वादप्रधान आर्हत्मत को उत्तम कहा गया है। उसके अनेकान्त शब्द से सर्वसामान्य का त्याग होता है। केवली द्वारा निर्दिष्ट आचार ही परमार्थ है तथा सज्जन पुरुषों द्वारा अनुमत वेश एवं आचार व्यवहार कहा जाता है। यह सर्वसम्मत है कि पापकर्मों का क्षय होने से, पुण्यकर्म का संचय होने से; दान, तप, ब्रह्मचर्य एवं करुणा की शुभ-भावना उत्पन्न होती है। आचार और वेश - ये दोनों कल्याणकारी बताए गए हैं। इनसे सम्बन्धित जो क्रियाएँ हैं, वे भी किस प्रकार कल्याणकारी हैं, इसे बताते हुए कहते हैं -

गर्भाधान-संस्कार - गर्भाधान में जो कर्म किया जाता है, वह गर्भ की प्रसिद्धि करता है, स्वकुल के लोगों को आनंद प्रदान करता है। शान्तिककर्म गर्भ का रक्षण करता है। जो मंत्र प्रयोग हैं, वे भ्रूण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विकास में आने वाले विघ्नों का नाश करते हैं तथा उसकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार आह्वान-न्याय से इन वर्णों की महिमा देखी जाती है। पुनः, जो चार वेद हैं, वे भी आचार के कारण हैं। उनके पाठ के बिना कोई भी कर्म मनोहरता को प्राप्त नहीं करता है। अध्ययनहीन (व्यक्ति) सत्कर्म करते हुए भी शोभा को प्राप्त नहीं करता है। इस संस्कार में मन्त्रपाठ को छोड़कर कारूओं द्वारा की जाने वाली क्रिया भी एक जैसी है। इस प्रकार यह गर्भाधान-संस्कार का सार बताया गया है।

पुंसवन-संस्कार - पुंसवन नामक जो द्वितीय संस्कार कहा गया है, वह गर्भ के दोषों को दूर करता है तथा गर्भ की वृद्धि एवं वर्द्धापन में सहायक है। यह पुंसवन- संस्कार का सार है।

जातकर्म-संस्कार - तीसरा जो जातकर्म-संस्कार बताया गया है, वह जन्म- महोत्सव करने का आदेश देता है। यह संस्कार आनंद का हेतु होने से सर्वत्र वित्त का व्यय करवाने वाला हैं। यह जातकर्म का सार है।

चन्द्रार्कदर्शन-संस्कार - चन्द्र एवं सूर्यदर्शन संस्कार - इन दोनों संस्कारों का उद्देश्य प्रत्यक्ष में सृष्टि के दर्शन कराना है। इस संस्कार के माध्यम से बालक को सर्वप्रथम विश्व को प्रकाशित करने वाले सूर्यदेव एवं चन्द्रदेव के दर्शन कराए जाते हैं। यह चन्द्रार्क, अर्थात् चन्द्र एवं सूर्यदर्शन-संस्कार का सार है।

क्षीराशन-संस्कार - इस संस्कार के माध्यम से शिशु को जन्म के बाद (दुग्ध) आहार कराया जाता है। यह संस्कार प्राणियों के प्रति प्रीति का भी द्योतक है, क्योंकि दुग्ध का अवतरण प्रीति के बिना नहीं होता है। - यह क्षीराशन-संस्कार का सार है।

षष्ठीजागरण-संस्कार - षष्ठीजागरण-संस्कार शिशु के मंगल हेतु किया जाता है। इसमें उसके शरीर की अधिष्ठिता षष्ठीमाता की पूजा की जाती है। साथ ही जो मातृदेवियाँ लोक में प्राणियों की रक्षा के लिए भ्रमण करती हैं, उनकी पूजा शिशु की रक्षा के लिए की जाती है। - यह षष्ठी-संस्कार का सार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुचिकर्म-संस्कार - शुचिकर्म नामक संस्कार, अर्थात् स्नानादि कर्म द्वारा प्रसूति होने के पश्चात् बहने वाले दूषित रक्त से उत्पन्न दोषों का उन्मूलन किया जाता है। विप्रादि चारों वर्ण के शौच के लिए अधिकाधिक दिन की जो संख्या बताई गई है, उसका उद्देश्य उच्च एवं नीच जाति के क्रम को अभिव्यक्त करना है। - यह शुचिकर्म-संस्कार का सार है।

नामकरण-संस्कार - जो नामकरण-संस्कार है, वह प्रेषण एवं आह्वान का हेतु है। व्यक्ति को नाम के बिना क्या कहकर बुलाएंगे। शिशु के भाग्य, अर्थात् भावी जीवन को जानने के लिए लग्न एक सम्यक् साधन है। नामाक्षरों के बिना भविष्य को जानने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसमें गृहस्थों द्वारा साधुओं के उपाश्रय में जाकर मंडलीपूजा करना चाहिए। वह विधान उनके सान्निध्य में रहे हुए देवों को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। - यह नामकरण-संस्कार का सार है।

अन्नप्राशन-संस्कार - अन्नप्राशन-संस्कार भी अन्नाहार प्रारम्भ के उद्देश्य से किया जाता है। शुभ मुहूर्त में ग्रहण किया गया आहार देह को आरोग्य प्रदान करता है। - यह अन्नप्राशन-संस्कार का सार है।

कर्णवेध-संस्कार - अन्नप्राशन-संस्कार के निर्यास के पश्चात् कर्णवेध-संस्कार का क्रम आता है। यहाँ मुद्रित प्रति में सार्द्धश्लोक लुप्त होने की सूचना दी गई है। सम्भवतः उसमें कर्णवेध संस्कार की उपयोगिता कथित होगी, अतः उनतीसवें श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा गया है - वह कर्णवेध-संस्कार भी विद्वानों द्वारा क्यों नहीं प्रशंसनीय होगा ?

चौलकर्म (चूड़ाकरण)-संस्कार - केश उतारे बिना व्रतबन्धादि-कर्म नहीं होते हैं। संसार-परिभ्रमणरूपी इस विपरीत वृक्ष के उन्मूलन हेतु यह संस्कार किया जाता है। ज्ञातव्य है कि जहाँ सामान्य वृक्षों की जड़े नीचे होती हैं, वहाँ संसाररूपी वृक्ष की जड़ें ऊपर की तरफ कही गई हैं, इसलिए संसार को विपरीत वृक्ष कहा गया है। जैसे वृक्ष को निर्मूल करने के लिए उसकी जड़ों को निर्मूल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना आवश्यक है, उसी प्रकार व्यक्ति के संसार भ्रमण को निर्मूल करने के लिए केशों का अपनयन करना आवश्यक है, क्योंकि केशों के उच्छेद से ही परमात्मा के समक्ष देहार्पण सम्भव होता है। जब तक संसाररूपी राग का उच्छेद नहीं होता, तब तक परमात्मा के समक्ष अपना पूर्ण समर्पण भी सम्भव नहीं होता है, इसीलिए गृहस्थ-जीवन के व्रतों को स्वीकार करने में और प्रव्रज्या धारण करने में मुण्डनकर्म आवश्यक है। मुण्डन देहासक्ति और जन्म-मरण का उच्छेद करने के लिए है, इससे संसार के प्रति आसक्ति कम होती है, अतः धार्मिकजनों को प्रत्येक धर्मकार्य के पूर्व केशापनयन, अर्थात् मुण्डन करवाना चाहिए। - यह मुण्डन-संस्कार व्रतग्रहण आदि अन्य सभी संस्कारों के प्रारम्भरूप है। विद्वानों ने इसी कारण से मुण्डनसंस्कार को भोजन के आरम्भ करने के समान प्राथमिक संस्कार बताया है। - यह चूड़ाकरण-संस्कार का सार है।

उपनयन-संस्कार - व्रतबन्ध (उपनयन) संस्कार द्वारा व्यक्ति वर्णत्व को प्राप्त करता है। उसके पश्चात् इसमें पुरुषों को जो सूत्र धारण करने का निर्देश दिया गया है, उसका कारण बताते हैं। विद्वानों ने ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है। मर्यादा का प्रकाशक होने से सूत्र के रूप में उसे धारण करना आवश्यक है। गुरु के आदेश, चित्तवृत्ति एवं कुल की मर्यादा उस सूत्र को धारण करने मात्र से अलंघ्य हो जाती है, अर्थात् सूत्र को धारण करके मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सूत्र मर्यादाओं का प्रतीक है। मर्यादा से रहित लोगों के लिए तो लौहश्रृंखला का बंधन भी कोई अर्थ नहीं रखती है, क्योंकि स्वेच्छाचारी व्यक्तियों के लिए विधिनिषेधरूप मर्यादा का कोई अर्थ नहीं रह जाता। मर्यादाओं का उल्लंघन मनोभावों से ही होता है, इसीलिए सूत्र को हृदय-स्थान पर धारण करना शास्त्रसम्मत है। अनिष्ट पितृकर्म आदि में उसे विपरीत रूप से धारण किया जाता है। सभी कर्मों में सावधानीपूर्वक उसे शरीर पर धारण करना चाहिए। विद्वानों ने व्रतबन्ध एवं व्रतादेश के समय इसको धारण करने का निर्देश दिया है। इसी प्रकार दूसरों को व्रतदान की आज्ञा देते समय और व्रत-विसर्जन के समय भी इसका धारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना आवश्यक है। पुनः, ब्रह्ममुद्रा (ब्रह्मचारी के वेश) का परित्याग करने पर भी उसके द्वारा व्रत आदि आचार का पालन करना आवश्यक है, सूत्र उसका सूचक है। आशातना के भय से ब्रह्ममुद्रा को चिरकाल तक धारण नहीं किया जा सकता है, अतः मात्र उपवीत और शिखा के धारण करने से ही उसका सद्भाव माना जाता है। पुनः, उसमें गोदान का जो उल्लेख है, उसे दानवृत्ति का प्रारम्भ कहा जा सकता है। वर्ण में प्रवेश करने वाले के लिए ज्ञानपूर्वक दिया गया दान ही सफल माना जाता है। अज्ञानतापूर्वक दिए गए दान आदि सत्कर्म भी विपरीत फल प्रदान करते हैं।

गोदान प्रथमदान क्यों कहा गया है, इसका कारण बताते हैं। सभी प्रकार से उपकार करने वाली होने से आप्त पुरुषों ने गाय को सर्वोत्तम कहा है। अन्य वस्तुएँ समग्र रूप से उपकारक नहीं होती। जैसे धर्म-प्रबोध, वर्णाचार की शिक्षा, उत्तरीय, आदि रत्नत्रय से विवर्जित शूद्रों के लिए उपकारक नहीं हैं। शास्त्र के अनुसार जो आचार जिसके लिए कहा गया है, उसे ही उसका पालन करना चाहिए। ब्राह्मणत्व पूज्य रूप होने से वे दूसरों द्वारा कर्मादेश देने, अर्थात् आज्ञापित के योग्य नहीं होते। इसी प्रकार वे दूसरों द्वारा अपमान के योग्य भी नहीं होते हैं, निम्न कार्यों को आज्ञापित करने के योग्य नहीं मानते हैं और न कुप्रतिग्रह के योग्य होते हैं। इसी प्रकार वे अन्य व्यक्तियों की स्तुति करने के भी योग्य नहीं होते हैं। अतः इन स्थूल क्रियाओं को करने के लिए भट्टादि का बटुकरण किया जाता है। वे नाममात्र से ही रत्नत्रय की मुद्रा को धारण करते हैं। - यह उपनयन-संस्कार का सार है।

पाठारम्भ-संस्कार - उपनयन-संस्कार से दीक्षित एवं वर्णत्व को प्राप्त व्यक्ति को ही शास्त्रों का अध्ययन कराया जाता है। अदीक्षित वर्णरहित व्यक्ति को शास्त्र का अध्ययन नहीं करवाया जाता है। अवर्ण वाले व्यक्ति को किसी उत्तम दिन अक्षरज्ञान करवाया जा सकता है। - यह पाठारम्भ-संस्कार का सार है।

विवाह-संस्कार - दम्पत्ति का जन-समुदाय की उपस्थिति में पति-पत्नी के रूप में प्रत्यक्ष मिलन को विवाह कहा जाता है। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैवाहिक-कर्म व्यक्तियों के समक्ष इसीलिए किया जाता है, ताकि निन्दा आदि से बचा जा सके, साथ ही वह सम्बन्ध विहित माना जा सके, इसीलिए जन-उपस्थिति में वैवाहिक-विधि सम्पन्न की जाती है। यह वैवाहिककर्म गुप्त रूप से किए जाने पर लोग इसे अनुचित कहते हैं, इसीलिए यह संस्कार उत्सवपूर्वक जनता के समक्ष किया जाता है।

अन्य गोत्र में उत्पन्न स्त्री के साथ सम्बन्ध ग्रन्थिबन्ध, अर्थात् विवाह-सम्बन्ध होने पर ही उनमें परस्पर राग आदि (प्रेम-सम्बन्ध) का विचार करना अपेक्षित होता है, उसके अभाव में नहीं, किन्तु सम्बन्धियों के पारस्परिक कलह, कटुता आदि होने पर विवाह हेतु वार्तालाप उचित नहीं होता है, इसीलिए अन्य स्वजनों द्वारा वधू एवं वर के सम्मिलन हेतु किया गया यह आयोजन गृहस्थवास के लिए विहित माना जाता है। दम्पत्ति के समान कर्म हेतु समान कुल तथा समान शील अभीष्ट है, क्योंकि असमान कर्म करने वाले दम्पत्ति का गृहस्थ-जीवन प्रशस्त नहीं होता है। समान कुल होने से भोजनादि में, वेशभूषा आदि में तथा परस्पर वार्तालाप एवं साथ-साथ कर्म-सम्पादन में किसी प्रकार के दोष उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती है। दोनों पक्षों के माता-पिता के समक्ष दम्पत्ति का विवाह-सम्बन्ध निर्धारण अभीष्ट या वांछनीय माना जाता है। सभी व्यक्तियों के समक्ष प्रत्यक्ष रूप में सम्पन्न विवाह-संस्कार धार्मिक कहा जाता है। जो विवाह दम्पत्ति के माता-पिता की अनुपस्थिति एवं उनकी अनुमति के बिना तथा हठपूर्वक गुप्त रूप से सम्पन्न किया जाता है - ऐसा विवाह पाप-विवाह, अर्थात् अधार्मिक कहलाता है। चोरी से (गुप्त रूप से), हठपूर्वक एवं लोगों को सन्तापित करके जो वैवाहिक-सम्बन्ध किया जाता है, वह भी पापयुक्त माना जाता है, इसके विपरीत माता-पिता एवं परिजनों की उपस्थिति में सम्पन्न वैवाहिक-कर्म धार्मिक माना जाता है। तेल, उबटन आदि लगाकर किया गया स्नान शोभा के लिए ही होता है। इसकी व्याख्या जिस प्रकार की गई, उस प्रकार से, अथवा कुल की आचार-परम्परा के अनुसार इसे सम्पादित किया जाना चाहिए। इस अधोगामी (अवसर्पिणी)- काल में ऋषभदेव द्वारा निर्दिष्ट इस आचार-पद्धति को सांसारिक कहा गया है। यह विधि आदि अर्हत्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् ऋषभदेव द्वारा आदिष्ट है, क्योंकि वे वास्तव में सभी विधि-विधानों के आदिकर्त्ता (प्रवर्तक) हैं। विवाह-संस्कार विधान में एवं अन्य मांगलिक कार्यों के सम्पादनार्थ वेदी एवं समीपस्थ क्षेत्र की जो भूमि अलंकृत की जाती है, वह आनन्दप्रद एवं कल्याणकारी मानी जाती है और वहाँ पर जिस स्तम्भ तथा कलश की स्थापना की जाती है, वह मंगल के हेतु की जाती है, क्योंकि जल से भरे हुए कुम्भ आदि सर्व मांगलिक शकुन प्रकट करने वाले होते हैं। वैवाहिक-कर्म की वेदिका में जिस अग्नि की स्थापना की जाती है, वह ज्योति या प्रकाश की सूचक है। पुनः, वह ज्योति सर्वतोमुखी तथा सर्वसाक्षी होती है, अर्थात् वह उस वैवाहिक-कर्म की साक्षी भी होती है। वैवाहिक-संस्कार हेतु वेदी में किया गया हवन देवताओं को तृप्त करने का श्रेष्ठ हेतु माना गया है। पुनः, अग्नि शुद्धिकारक होती है, अतः वह मनोभावों की शुद्धि के लिए होती है। अग्नि देवों की आहुति की प्रत्यक्ष ग्राहक मानी गई है। वस्तुतः देवों की संतुष्टि के लिए ही आहुति एवं बलिकर्म का विधान किया जाता है। हवन की गई वस्तु को अग्नि द्वारा भोग कर लेने पर मनुष्यों के चित्त में यह विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि वह हवि (आहुति) देवों को प्राप्त हो गई है। विवाह के समय अर्घदान एवं मांगलिक वस्तुओं के समर्पणरूप जो क्रिया सम्पादित की जाती है, उसे पूजा कहते हैं। इसी प्रकार विवाह में जो हस्तमिलाप होता है, वह वर-वधू दोनों के सप्तवचनों की स्वीकृति के लिए होता है। उदुम्बर आदि वृक्षों की छाल का लेप करना, स्त्रियों और पुरुषों के लिए सौभाग्यकारक माना जाता है। दम्पत्ति द्वारा देवताओं की प्रदक्षिणा करना; लाजा, अर्थात् भुने हुए धान की आहुति देना - ये सब कर्म उनके आजन्म सहचारित्व के प्रतीक हैं। इस संस्कार में दम्पत्ति को जो दान दिया जाता है, वह प्रेम अथवा यश प्राप्ति की अपेक्षा से भी दिया जाता है। कन्दर्प के साथ गणिकाओं का जो विवाह होता है, वह उसे सर्व सामान्यकामी मनुष्यों के भोग के योग्य होने का सूचक है। यह विवाह-संस्कार का सार है।

व्रतारोपण-संस्कार - व्रतारोपण-संस्कार में नन्दी आदि दीक्षाकर्म प्रशस्त माने गए हैं। सम्यक्त्वारोपण गुरु द्वारा तत्त्वज्ञान की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक् श्रद्धा है। व्रत का उच्चारण, अर्थात् नियम का ग्रहण सर्वपापों से निवृत्तरूप होता है। श्रावक प्रतिमाओं का उद्वहन करके उन-उन में वर्णित नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करता है। नमस्कार आदि उपधानों में कर्मक्षयार्थ एवं सूत्रों के पाठों के अध्ययनार्थ जो तप आचरणीय किया जाता है, वह तप प्रशस्त माना गया है। माला-आरोपण की जो क्रिया है, वह उन सभी व्रतों के उद्यापनरूप है, साथ ही वह माला तीर्थंकर परमात्मा की श्रेष्ठ मुद्रारूप है। परिग्रह-परिमाण के स्मरणार्थ तथा श्रावकों के व्रतों के पालन हेतु टिप्पणक तैयार किया जाता है। अर्हत् एवं सिद्धों की पूजा उनके तर्पण के लिए नहीं, वरन् शुभध्यान के लिए की जाती है तथा दिक्पालों एवं ग्रहों की जो पूजा की जाती है, वह उनके संतर्पण या सन्तुष्टि के लिए की जाती है। - यह व्रतारोपण-संस्कार का सार है।

अन्त्य-संस्कार - अन्त्य-संस्कार, अर्थात् संल्लेखना-ग्रहण आत्मशान्ति एवं अन्तिम समय में शुभध्यान के लिए किया जाता है, क्योंकि अन्तिम समय में जीव की जैसी मति होती है, उसकी गति (परभव) वैसी ही होती है। शव की दहन-क्रिया देह- संस्कार के प्रयोजन से की जाती है। शव की देह पर जो वस्त्रादि डाले जाते हैं, वे उसे संस्कार के योग्य बनाते हैं। इस प्रकार अन्त्य-क्रियाएँ तथा तत् निमित्त की जाने वाली स्नात्रपूजा आदि मृतात्मा के शुभत्व की प्राप्ति, सनाथता के आख्यापन एवं पुण्य का संचय करने के उद्देश्य से की जाती है। - यह अन्त्य-संस्कार का सार है।

ब्रह्मचर्यव्रत-संस्कार - सर्वप्रथम यति-आचार में जो ब्रह्मचर्यव्रत बताया गया है, उसका उद्देश्य बताते हैं। ब्रह्मचर्यव्रत का ग्रहण काम-भोगों से विरक्ति के अभ्यास हेतु एवं आत्मसंयम के परीक्षणार्थ किया जाता है। ब्रह्मचर्यव्रत सभी व्रतों का मूल है। ब्रह्मचर्यव्रत के भग्न होने से अन्य सभी व्रतों का पालन भी निरर्थक हो जाता है, क्योंकि कर्मों के आस्रव का निरोध नहीं होता है। अब्रह्मचर्य की स्थिति में व्यक्ति ऐन्द्रिक विषयों के काम-भोगों में गृद्ध बना रहता है तथा संभोग की क्रिया में स्त्री की आवश्यकता होती है। स्त्री परिग्रहरूप होती है। स्त्री परिग्रहरूप होने से वह आरम्भ का भी हेतु है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरम्भ जीवों की हिंसा का सूचक है। पुनः, संभोग-क्रिया में अनेक प्राणियों का घात होता है, अतः मैथुन सभी पापकर्मों का मूलमार्ग है, इसलिए उससे विरत होना आवश्यक है। व्रतदान, अर्थात् दीक्षा के पूर्व इस संस्कार के माध्यम से उसके ब्रह्मचर्य का परीक्षण किया जाता है। ब्रह्मचर्यव्रत के बिना, अर्थात् उसके अभाव में व्यक्ति गृहस्थधर्म को प्राप्त करता है। - यह ब्रह्मचर्यव्रत-संस्कार का सार है।

क्षुल्लक-संस्कार - क्षुल्लकदीक्षा नामक जो संस्कार किया जाता है, उसका कारण बताते हुए कहा गया है कि पंचमहाव्रतों को धारण करने के लिए उसकी योग्यता का परीक्षण क्षुल्लकदीक्षा-संस्कार द्वारा किया जाता है। दीक्षा ग्रहण करके यदि वह उत्तम प्रकार से व्रत का आचरण नहीं करे, तो वह उसके लिए पापकारी तथा अपयश प्रदान करने वाला होता है, अतः क्षुल्लकदीक्षा के माध्यम से उसकी क्षमता की पूर्व परीक्षा हो जाती है। मुनिरूप में दीक्षित न होने के कारण उन्हें गृहस्थों के संस्कार करवाने की अनुमति है। - यह क्षुल्लकदीक्षाविधि-संस्कार का सार है।

प्रव्रज्या-संस्कार - जो प्रव्रज्या-संस्कार किया जाता है, वह एक तरह से सामायिक-चारित्र का ग्रहण है। इसमें यावज्जीवन सावद्य व्यापारों का पूर्ण रूप से त्याग किया जाता है। इस संस्कार में दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों का वर्णन उनको दीक्षित नहीं करने के उद्देश्य से किया गया है, क्योंकि वे व्रत का निर्वाह नहीं कर सकते हैं। जो व्यक्ति शिखा एवं सूत्र का त्याग करता है, वही व्यक्ति इस सामायिक-चारित्ररूप व्रत को धारण करता है। शिखा एवं सूत्र का त्याग करने से सब प्रकार के व्यावहारिक दायित्वों का भी वर्जन हो जाता है, अर्थात् वह सांसारिक-दायित्वों से मुक्त हो जाता है। - यह प्रव्रज्या-संस्कार का सार है।

उपस्थापन-संस्कार - उपस्थापना की जो नन्दीक्रिया की जाती है, वह महाव्रतों के ग्रहण करने की सूचक है। महाव्रतों को ग्रहण करने एवं उनके पालन को ही व्रतग्रहण या उपस्थापना-विधि कहते हैं। दीक्षा-संस्कार में मात्र सामायिकव्रत का ग्रहण करवाया जाता है, जबकि उपस्थापना-संस्कार में महाव्रतों का ग्रहण करवाया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस संस्कार में जो मण्डली-प्रवेश के योग करवाए जाते हैं, उसका कारण बताते हैं - जिस प्रकार किसी व्यक्ति को समाज में या जाति में सम्मिलित किया जाता है, उसी प्रकार उपस्थापना द्वारा साधु को मण्डली-प्रवेश दिया जाता है। इसी प्रकार सांसारिक-व्यवहार का परित्याग करने तथा पुनः संसार में लौटने सम्बन्धी विकल्पों का वर्जन करने के लिए साधक को मण्डली-प्रवेश की क्रिया करवाई जाती है। इस प्रक्रिया के बाद ही वह समान व्रतचर्या वाले यतिजनों के साथ समपंक्ति में बैठकर भोजन कर सकता हैं। - यह उपस्थापना-संस्कार का सार है।

योगोद्वहन-संस्कार - अब योगोद्वहन-संस्कार क्यो किया जाता है, उसका कारण बताते है। मन-वचन एवं काया की गतिविधियाँ योग कहलाती हैं। यह संस्कार उनके निग्रह के लिए किया जाता है। शुभध्यान, कालग्रहण, जप आदि अनुष्ठानों से मन का निग्रह होता है। मौनादि करने से वाचा का निग्रह होता है तथा नितान्त विरस आहार एवं संस्पर्श सम्बन्धी विधि-निषेध से काया का निग्रह होता है। - इस प्रकार इस संस्कार में मन, वचन एवं काया की प्रवृत्तिरूप योग का निग्रह होता है। योगोद्वहन करने से कर्मों का नाश तथा कर्म-मल का विशेष रूप से शोधन भी होता है। शुक्लचारित्र वाले मुनिजन ही आगम-वाचना करने के योग्य होते हैं। श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक, समुद्देशक रूप श्रुत को ग्रहण करने तथा उसे अन्य को प्रदान करने हेतु गुरु की अनुज्ञा-आदेश, अर्थात् अनुमति ली जाती है। इस संस्कार में वन्दनादि वैनयिककर्म का विशेष रूप से जो निर्देश दिया गया है, वह विनयधर्म के पालन हेतु है। इसी प्रकार शुभध्यान के लिए स्वाध्याय, स्वाध्याय हेतु कालग्रहण आदि का निर्देश दिया गया है। - यह योगोद्वहन-संस्कार का सार है।

वाचनाग्रहण-संस्कार - गुरु-मुख से श्रुत का अध्ययन करना वाचनाग्रहण-विधि है। गुरु के बिना, ज्ञान-ग्रहण को विद्वानों ने 'ख' पुष्प (आकाश के फूल) के समान निरर्थक कहा है। - यह वाचनाग्रहण-संस्कार का सार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाचनाचार्य-संस्कार - इसमें आचार्य-पद दिए बिना वाचनादान की अनुज्ञा या अनुमति प्रदान की जाती है। इस संस्कार में गुरु (आचार्य) द्वारा शिष्य को पूर्ण रूप से वाचनादान की अनुमति प्रदान की जाती है। - यह वाचनाचार्य-संस्कार का सार है।

उपाध्यायपदारोपण-संस्कार - उपाध्यायपदारोपण-संस्कार मंत्रसहित किया जाता है, क्योंकि वह शिष्यों को द्वादशांगी का अध्ययन करवाता है। - यह उपाध्याय-पदारोपण -संस्कार का सार है।

आचार्यपदारोपण-संस्कार - जो मुनि आचार्य-पद को प्राप्त करता है, उसके लिए निर्देश दिए गए हैं कि वह सर्वप्रभुत्वशाली, ज्ञानी, तपस्वी, सज्जन, गुणवान्, बोध देने वाला, विशेष लब्धि को प्राप्त कर सके - ऐसी योग्यता वाला, क्षमावान्, सर्व योग्यताओं को धारण करने वाला तथा सामर्थ्यशाली होना चाहिए। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के गुणों से युक्त साधु को ही मंत्र-आराधना के योग्य कहा गया है। - यह आचार्यपदारोपण-संस्कार का सार है।

प्रतिमोद्वहन-संस्कार - पूर्णरूप से योगसिद्धि, अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का अनुशासन निरागता एवं विषयों के परित्याग के उद्देश्य से साधु-साध्वियों को प्रतिमोद्वहन-संस्कार करने के लिए कहा गया है। यह प्रतिमोद्वहन-संस्कार का सार है।

व्रतिनीव्रतदान (साध्वी की दीक्षा-विधि), प्रवर्तिनीपद-प्रदान, महत्तरापद-प्रदान-संस्कार - व्रतिनी (साध्वियों) को व्रतदान प्रवर्तिनी-पदारोपण तथा महत्तरा-पदारोपण- संस्कार की सम्पूर्ण प्रक्रिया साधु के समान ही जाननी चाहिए, क्योंकि साधु एवं साध्वियों का चारित्र आदि एक समान ही होता है।

साधु-साध्वी की दिवस एवं रात्रि की चर्या - साधु एवं साध्वियों की दिवस एवं रात्रि की जो चर्या बताई गई है, वह संयम के निर्वाह के लिए तथा हठाग्रह को नष्ट करने के लिए है। इस संस्कार में सर्वप्रथम जो उपधि, धर्मध्वज (रजोहरण) आदि के सम्बन्ध में बताया गया है, वह महाव्रतों की आराधना के लिए संयमोपकरण है, उसे परिग्रह नहीं मानना चाहिए। - यह साधु-साध्वी के दिवस-रात्रिचर्या सम्बन्धी संस्कार का सार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु-साध्वी की ऋतुचर्या - पुनः, साधु-साध्वी की ऋतुचर्या सम्बन्धी जिस विधि-विधान का वर्णन किया गया है, वह कषाय तथा इन्द्रियनिग्रह के उद्देश्य से किया गया है। इसी प्रकार वह राग-द्वेष आदि का हरण करने वाली विहार-विधि को तथा कायक्लेश, तप, स्थिरवास, लोच, मलादि के उत्सर्ग की विधि को जानने और भाषा-समिति के निर्वाह के लिए है। इस प्रकार सर्व अकरणीय कार्यों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने एवं उनका त्याग करने हेतु भी यह संस्कार परमावश्यक है। मन, वचन एवं काया के निग्रह के लिए व्रत श्रेष्ठ है।

अन्त्यकर्म-संस्कार - इस संस्कार में साधु-साध्वियों को क्षामणा आदि देने का जो विधि-विधान बताया गया है, वह कर्मक्षय, सुमति एवं शुभध्यान आदि की प्राप्ति हेतु है। साधु एवं श्रावकों द्वारा मुनि के शव की जो क्रिया की जाती है, वह उनकी सनाथता के आख्यापन हेतु तथा पुनः उनका जन्म न हो - इस उद्देश्य से की जाती है। - यह अन्त्यकर्म-संस्कार का सार है।

प्रतिष्ठा-विधि - प्रतिष्ठा नामक जो विधि-विधान है, वह अचेतन प्रतिमा आदि में मंत्रादि द्वारा देवता का प्रवेश करवाने के लिए किया जाता है। प्रथम पाषाण, काष्ठ एवं रत्नादि से अचेतन मूर्ति का निर्माण करते हैं, फिर मंत्रन्यास, आचार्य के वचन एवं स्थापना-विधि करने से उसे देव के रूप में पूज्यता प्रदान करते हैं। "नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव से 'जिन' चार प्रकार के होते हैं"- यह आगम-वाक्य है। इसी प्रकार सर्व विधि-विधानों के प्रयोजन को तत्त्वशास्त्र से जानें। इस संस्कार में वेदी, प्रदीप, कल्पादि के तथा मुद्राकर्म आदि के जो विधि-विधान किए जाते हैं, वे सब देवगृह के सकलीकरण, अर्थात् संरक्षण हेतु किए जाते हैं। विघ्न से उसकी रक्षा करने के लिए कंकण-बंधन किया जाता है। मणि, मंत्र, औषधि आदि का भी अपना प्रभाव होता है। तीन सौ साठ क्रियाणकों द्वारा की जाने वाली पूजा भी उनके औषधिरूप पर आधारित है। सभी औषधियों का अपना-अपना कुछ न कुछ प्रभाव होता है। बिम्ब पर उनका प्रभाव होने से वह बिम्ब उसके पूजक (साधक) को सिद्धि प्रदान करता है। अब नंद्यावर्त्त की जो स्थापना की जाती है, उसका कारण बताते हैं -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिमा के लिए नौ कोण का आसन बनाते हैं, क्योंकि पूज्य भगवान् सिद्धांतरूप में नौ तत्त्वों के आधर पर ही स्थित हैं। उनके पार्श्व में स्थित अन्य सभी देवी-देवताओं की जो पूजा की जाती है, वह उनको प्रसन्न करने हेतु की जाती है तथा बिम्ब के प्रभाव को बढ़ाने वाली होती है। फल आदि के रूप में जिन वस्तुओं की बलि दी जाती है, अर्थात् उन्हें समर्पित की जाती है, वे भी उन देवों को रुचिकर होती हैं। यह देवगृह की प्रतिष्ठा का सार है। जिन वस्तुओं की अधिवासना की जाती है, वे देवत्व को प्राप्त कर लेती हैं। स्नात्रविधि से परमात्मा की जो पूजा की जाती है, वह शुभध्यान तथा जन्म-कल्याणक की प्राचीन परम्परा के निर्वाह हेतु की जाती है। - यह प्रतिष्ठा-विधि का सार है।

शान्तिककर्म-संस्कार - शान्तिककर्म विघ्नों के उपशमन (शान्ति) के लिए बताया गया है। इसमें चतुर्निकाय के देवों की पूजा करके उनको प्रसन्न किया जाता है, उनके प्रसन्न होने से सर्व विघ्न का विनाश होता है। शान्तिककर्म करने से अनिष्टकारी उपद्रव एवं दावानल भी शान्त हो जाते हैं। जिनस्नात्र-विधि से प्राप्त जल से सर्व दोषों का निवारण होता है तथा शान्तिपाठ के उद्घोष से दुष्ट, अर्थात् अनिष्टकारी शक्तियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं। - यह शान्तिककर्म-संस्कार का सार है।

पौष्टिककर्म-संस्कार - सर्व कार्यों के आरम्भ में किया गया पौष्टिककर्म पुष्टि को प्रदान करता है। देवों की सम्यक् प्रकार से पूजा करने से नियत (लक्षित) कार्य की सिद्धि होती है। - यह पौष्टिककर्म-संस्कार का सार है।

बलिकर्म-संस्कार - अमुक्त देवों को संतुष्ट करने के लिए तथा मंगल हेतु बलिकर्म-संस्कार किया जाता है। इसके करने से कर्त्ता के चित्त को शान्ति मिलती है। - यह बलिकर्म-संस्कार का सार है।

प्रायश्चित्त-संस्कार - आत्मा प्रमाद के वशीभूत होकर जिन अपराधों को करती है, उनकी शुद्धि प्रायश्चित्त करने से होती है, किंतु अहंकारपूर्वक किए गए पापों की शुद्धि प्रायश्चित्त से नहीं होती है। जिस प्रकार लोक-व्यवहार में किए गए दुराचारों की शुद्धि दण्ड आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा की जाती है, उसी प्रकार से आन्तरिक विकृतियों की विशुद्धि परमार्थतः प्रायश्चित्त से ही होती है।

आवश्यक-विधि - दिवस, रात्रि, पक्ष, मास एवं वर्ष भर के पापों की विशुद्धि के लिए सम्मिलित रूप से जो षडावश्यक किए जाते हैं, वे आवश्यक क्रियाएँ कर्मों के घात तथा शुभध्यान की प्राप्ति हेतु की जाती हैं - ऐसा परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। - यह आवश्यक-विधि का सार है।

तप-विधि - छः प्रकार के बाह्य तपों के करने से कर्मों की निर्जरा होती है, किन्तु कोई भी उन तपों को निरन्तर करने में समर्थ नहीं है, अतः बुधजनों द्वारा आचारशास्त्र (कल्प) में उनकी जो अवधि एवं विधि बताई है, उसके अनुसार उन तपों को अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए। - यह तपविधि-संस्कार का सार है।

पदारोपण-संस्कार - इस संस्कार में सभी व्यक्तियों में जो भी प्रधान पुरुष होते हैं, उनकी पदारोपण विधि बताई गई है, क्योंकि योग्य स्वामी ही सभी का योग-क्षेम आदि करने वाला होता है। स्वामी के स्वामित्व के बिना सभी दुःखी होते हैं। अनेक स्वामियों के होने से उत्तरदायित्व के बोध के अभाव में सबकी रक्षा सम्भव नहीं हो पाती है। मुद्रा (आकृति विशेष) करने का क्या प्रयोजन है, इसके लिए मंत्रशास्त्र देखें। नामकरण की जो विधि है, वह उन-उन वस्तुओं के पहचान के लिए की जाती है। सर्व कार्यों में जो शुभ-मुहूर्त देखा जाता है, वह उस कार्य में सफलता को प्राप्त करने के लिए किया जाता है - ऐसा वीतरागों द्वारा भाषित है। जीव द्वारा विहित कर्म काल के परिपाक से होते हैं। इस प्रकार सभी वस्तुओं की उपलब्धि एवं अनुपलब्धि में जीव के कर्म एवं काल ही कारण होते हैं। - यह पदारोपण-संस्कार का सार है।

इस प्रकार गृहस्थ एवं यति-आचार को पूर्णतः जानकर आत्म-कल्याण हेतु उन सभी विधि-विधानों का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार के विधिपूर्वक कर्मों के करने से प्राणी धर्म का निर्वहन करता है तथा उसमें स्थिर रहता है। इससे उसे सर्वत्र जय की प्राप्ति होती है तथा जन्मान्तर में वह चक्री एवं इन्द्र के पद को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त करता है। इस प्रकार विधि-विधानरूप कर्मयोग शुभकारी एवं शुभ फल को देने वाले होते हैं। इसके विपरीत अविधिपूर्वक किए गए कर्म अशुभ फल को प्रदान करते हैं। - यह सर्वशुभाचार का सार है।

गुरु के मुख से या अन्य किसी से मोक्ष के हेतुभूत इन सदाचारों को जानकर जो प्राणी उनका आचरण करता है, वह वांछित फल को प्राप्त करता है। कर्म के क्षय होने से पंचम मोक्षगति की प्राप्ति होती है, शुभ कर्मों से कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। क्या सोने की बेड़ी से जकड़े हुए व्यक्ति को बन्दी नहीं कहते हैं ? दुष्टकर्मों से दुष्ट फल तथा शुभकर्मों से शुभ फल की प्राप्ति होती है, अतः दोनों के फलों की प्राप्ति समान रूप से होने पर भी मोक्ष के लिए कहाँ अवकाश रहेगा ? इसलिए कर्मों की निर्जरा के लिए तो बारह प्रकार के तप ही बताए गए हैं। यदि ऐसा मानें कि दुष्कर्मों की निर्जरा के लिए शुभकर्मों का बंध किया जाता है, तो फिर "व्याघ्रदुःतटी" न्याय से जीव को मोक्ष की प्राप्ति हेतु शुभकर्मों की निर्जरा (क्षय) करने के लिए दुष्ट कर्मों को करना होगा तथा दुष्कर्मों का नाश करने के लिए शुभकर्मों को करना होगा और इस प्रकार मोक्षार्थी के लिए क्या त्याज्य है और क्या करणीय है ? इसका निश्चय नहीं होगा। उष्ण (गर्म) आहार का सेवन करने से पित्त होते हैं, और शीत (ठण्डा) आहार का सेवन करने से वायु होती है तथा ठंडे एवं गर्म आहार का सेवन करने से दोनों की ही वृद्धि होती है, तो फिर व्यक्ति किस प्रकार का आहार करे ? वस्तुतः दोनों प्रकार के आहार की अपेक्षा औषधि का सेवन करने से इन दोनों का नाश होता है। देह में यदि वस्तु स्वयं का प्रभाव डालती है, तो फिर क्या किया जाए ? यह सनातन सत्य है कि किसी वस्तु में कुछ गुणों का सद्भाव होता है, तो कुछ गुणों का अभाव भी होता है। इस संसार में एक वस्तु के विपरीत स्वभाव वाली दूसरी वस्तु भी रही हुई है, जैसे - जल-स्थल, पुण्यात्मा-पापात्मा, सज्जन-दुर्जन, विष-अमृत, दुर्गति-सुगति, दुःख-सुख, साधु-दुष्ट, शत्रु-मित्र, आदि-अन्त, आदि। इस प्रकार संसार में दो-दो के रूप में परस्पर विरोधी युगल रहे हुए हैं। एक का विगमन हो जाने पर दूसरे का आगमन हो जाता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों के ही चले जाने पर साधना-मार्ग की उपयोगिता संदिग्ध हो जाएगी। कर्मसूत्रों से वेष्टित जीव सर्वत्र भ्रमण करता है। कुकर्मों का त्याग करने से सत्कर्मों का बन्ध होता है तथा सत्कर्मों का त्याग करने से कुकर्मों का बन्ध होता है- यह बुद्धजनों द्वारा कहा गया है, किन्तु ऐसा मानने पर कर्मों का क्षय कैसे संभव होगा और उसके बिना मोक्ष कैसे होगा ? यह महान् संशय का विषय है, किन्तु यह सत्य है कि कुदेव, कुगुरु एवं कुधर्म का त्याग करने से कर्मों का क्षय होता है। देव, गुरु और धर्म कर्मबन्धन में कहाँ समर्थ हैं ? क्या अरिहंत, बुद्ध, विष्णु, शंभु, सूर्य, अथवा ब्रह्मा लोगों को मोक्षपद प्राप्त करवाते हैं ? क्या गुरु अपनी शक्ति से पापी जीव को मुक्त करा सकता हैं ? मिथ्या उपदेश देने वाला तो स्वयं ही कर्मों को ग्रहण करता है, अर्थात् उनका बंध करता है। क्या कोई जटाधारी संन्यासी, मुमुक्षु अथवा दिगम्बर मुनि शुक्लध्यान के बिना वेशमात्र से मुक्त होता हैं ? अर्थात् नहीं होता है, अतः केवली द्वारा भाषित धर्म का आचरण करने से ही मुक्ति होती है। प्रश्न है उस आचार की विधि किस प्रकार से जानें ? क्या केवल दया करने, सत्य बोलने, धन-सम्पदा एवं भोग-विलास का त्याग करने तथा तपस्या करने से सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा सम्भव है? वस्तुतः देव, गुरु और धर्म सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करने से बद्धकर्मों का नाश होता है, अर्थात् वे कर्त्तव्य निर्जरा का हेतु होते हैं। यदि वे अशुभ कर्मों के अतिरिक्त भी शुभ या शुभाशुभ कर्मों का भी बन्ध करते हों, तो मोक्ष के आकांक्षी जनों को ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूप रत्नत्रय के बिना मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ? यहाँ भी कुछ लोग रत्नत्रय के एक-एक अंग को मोक्ष का हेतु ग्रहण करते हैं, अर्थात् यह मानते हैं कि मात्र दर्शन से, मात्र ज्ञान से या मात्र चारित्र से मुक्ति होती है, किन्तु ऐसी एकान्त धारणा भी मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व दशा में बद्धयमान कर्मों से निवृत्ति सम्भव नहीं है। दुराग्रही-मूढ़ जन ज्ञान की एकान्तता को स्वीकार करते हैं। भेद की अपेक्षा करके सर्वतत्त्वों में एकत्व का अनुमोदन करते हैं और यह कहते हैं कि "अद्वय" ही सब कुछ है तथा युक्ति द्वारा भेद की कल्पना मात्र पण्डितों का वाक्-विकास है, इसलिए मात्र तत्त्वज्ञान के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ में स्याद्वाद की योजना करना चाहिए, न कि अन्य किसी संदर्भ में। इस प्रकार तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में ही स्याद्वाद के अनुसरण का औचित्य है।

जगत् के सभी जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार जन्म धारण करते हैं तथा अपने कर्मों से प्रेरित होकर स्व-स्व प्रकृति के भागी होते हैं, अर्थात् विभिन्न प्रकृतियों को प्राप्त करते है। उनके आधार पर ही इन्द्रियों के विविध विषयों में उनकी भिन्न-भिन्न रुचि होती हैं एवं उनके मत और धर्म आदि भी विविध होते है।

ज्ञानदृष्टि से विचार करने पर यह संसार विविध रुचियों वाला है। उन विविध दृष्टियों को प्रवादों में अन्तर्भूत किया जाता है, अतः इस सम्बन्ध में स्याद्वाद-सिद्धांत का आधार लेकर ही तत्त्व का विचार करना चाहिए। अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में अन्य कोई विकल्प नहीं देखा जाता है। इस प्रकार षट्दर्शनों के अन्तर्गत अनेक मत प्रत्यक्ष आदि प्रमाण-समूहों द्वारा प्रस्थापित और खण्डित किए गए हैं। वे सभी मत तत्त्वपूर्वक विमर्शनीय हैं- ऐसा भी प्रतीत नहीं होता है। उनका विमर्शन, द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से अलग-अलग है। उन मतों का हेतु एवं दृष्टान्तों द्वारा खण्डन किया गया है। उनके पक्ष में कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है, इसलिए उनकी प्रामाणिकता का विशिष्ट निर्णय स्याद्वाद-सिद्धान्त के आचार पर किया जाना चाहिए। जिस प्रकार चेतन देहधारियों की अनेक इच्छाएँ (मानसिक, अथवा बौद्धिक विचारधाराएँ) होती है, उसी प्रकार विभिन्न मतों का स्याद्वाद की दृष्टि से स्थापन या प्रतिपादन क्यों नहीं किया जाता। अचेतन जड़तत्त्व और चेतन जीवतत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न स्थापनाएँ तथा मान्यताएँ हैं और उनका विविध दृष्टियों से खण्डन भी किया गया है, अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का विविध दृष्टियों से प्रस्थापन और खण्डन हुआ है। दार्शनिक-मत विभिन्नता और सिद्धान्त-प्रतिपादन भिन्नता परिलक्षित होती है। प्राचीन ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से संसार के स्वरूप की प्रस्थापना की है, इसलिए लोक में विश्व के स्वरूप की विवेचना के सन्दर्भ में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। जिस प्रकार एक भी पर्वत भूमि से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकलकर उसे विभाजित कर देता है, तो फिर विविध विचारधाराओं द्वारा दर्शन के क्षेत्र में वैविध्य क्यों नहीं होगा, अर्थात् विभिन्न विचारधाराओं द्वारा चिन्तन के क्षेत्र में विविधता उत्पन्न हुई। जिस प्रकार रथ के विभिन्न अंगों (पहियों आदि) में नाम की विभिन्नता देखी जाती है और उनके आधार पर भेद किया जाता है, किन्तु दूसरी ओर रथ का ऐक्य भी दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार इन सांसारिक दृश्य-पदार्थों की भिन्नता भी परिलक्षित होती है, किन्तु उनमें एकत्व भी देखा जाता है। जिस प्रकार एक ही तालाब का पानी अनेक मार्गों से आए हुए प्राणियों द्वारा पीया जाता है, उसी प्रकार एक ही तत्त्व की व्याख्याएँ (दार्शनिक विवेचनाएँ) विभिन्न दार्शनिकों द्वारा अलग-अलग की जाती है। उनकी विवेचना का श्रवण, पठन, मनन आदि करके उनके सिद्धांतों के प्रति हृदय में आस्था जाग्रत होती है। विद्वान् आचार्यों द्वारा जिस तार्किक-बुद्धि द्वारा उन दार्शनिक-सिद्धान्तों का खण्डन किया जाता है, उसी तार्किक-बुद्धि से उनका मंडन भी किया जाता है और इस प्रकार उनकी दार्शनिक-सिद्धांतों या विचारधाराओं की प्रामाणिकता, अथवा अप्रमाणिकता का निर्णय भी किया जाता है, अतः क्या सत्य है ? अथवा क्या असत्य है ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप अन्यान्य दर्शनों के प्रति जिज्ञासुओं की तत्त्वजिज्ञासा बढ़ती है, इसलिए शास्त्र में यह कहा गया है या इसकी यह व्याख्या ही समीचीन (श्रेष्ठ) है - ऐसा मानकर उन जिज्ञासु श्रोताओं या पाठकों द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाता है। देहधारी जीवात्मा बिना केवलज्ञान के प्रकाश के उन तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान नहीं कर पाते है, अर्थात् वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते है, इसीलिए स्याद्वाद-सिद्धान्त की दृष्टि से किया गया विशिष्ट विवेचन प्राणीमात्र के लिए मोक्ष का हेतु माना गया हैं। जहाँ-जहाँ एकान्तवाद हैं, वहाँ-वहाँ जिज्ञासु प्राणियों की मूढ़ता ही देखी जाती है। अनेकान्त या स्याद्वाद के आधार पर तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान ही मानव-बुद्धि को सम्यक् रूप से दुराग्रह से रहित बनाता है। बुद्धिमान् आचार्यों या मुनियों द्वारा कहा गया अप्रामाणिक लगने वाला कथन भी स्याद्वाद की दृष्टि से प्रामाणिक हो सकता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः संसार के मनुष्यों में स्याद्वाद-सिद्धान्त ही विश्वसनीय प्रतीत होता है, क्योंकि तीनों लोकों के सभी पदार्थ अनेक धर्मात्मक (विविध प्रकार के स्वभाव वाले) हैं। पदार्थों के स्वरूप के प्रति जो संशय है, वह भी उन पदार्थों की अनेक धर्मात्मकता के कारण ही है, इसी कारण सभी वस्तुओं के तत्त्वज्ञान हेतु स्याद्वाद-सिद्धान्त ही प्रमाण माना जाता है। सूर्य का अस्त होना (अन्धकार से ग्रसित होना), चन्द्रमा की निष्ठुरता, जहर की जीवन दायिकता तथा तत्काल प्राणनाश करने का सामर्थ्य, पृथ्वी का अचल होने पर भी स्खलन, अग्नि में दाहकता का गुण होने पर भी उसका शांत हो जाना, घी का ज्वर (रोग)-शमन, मरुस्थल में जल का भण्डार होने पर भी कभी जलविहीन हो जाना, मुनि का क्रोधी हो जाना, पक्षियों का उन्मुक्त होते हुए बन्धन में होना और शंख का श्वेत होने पर भी रक्त रंग का हो जाना, वायु में स्थिरता, जल में तरलत्व होने पर भी घनत्व (ठोस होने का भाव), सोने में (चमक होने पर भी) मलिनत्व, वज्रों में (अति कठोर होने पर भी) चूर्णता (चूर-चूर) हो जाने की संभावना, मृत व्यक्ति में पुनः प्राण आ जाना (उसका पुनर्जीवित होना), बादल का सदा जल से युक्त होना, सूख जाना, बर्फ में ठण्डापन होने पर भी जलाने की क्षमता - इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तों द्वारा वस्तु की अनेकधर्मता सिद्ध होती है। इस कारण स्याद्वाद-सिद्धांत निश्चित रूप से मानव-हृदय में प्रमाणरूप में स्वीकृत हो जाता है।

जब तक प्राणियों को (देहधारियों को) केवल्यज्ञान नहीं होता, तब तक कभी भी ज्ञान का विचार नहीं करना चाहिए। स्याद्वाद में जो स्वच्छ एवं शीतल प्रकाश वाला है, वही प्रमाण माना जाता है। यह जो अनेकान्त-सिद्धान्त है, वही उत्तम ज्ञान है। इसके अतिरिक्त विद्वानों का वाणी-वैदुष्य अज्ञान ही कहा गया है, अर्थात् स्याद्वाद के अतिरिक्त शेष सभी उनका वाक्-चापल्य मात्र ही है। स्याद्वादसम्मत कथन सभी को विश्वसनीय होता है। एकान्तवाद का कथन भी (अन्य पदार्थों में भी उन गुणों के पाए जाने से) व्यभिचारयुक्त माना गया है। नमन करने में भी अहंकार की सम्भावना, तपस्यादि कार्य में भी भोगाकांक्षा का होना, उसी प्रकार ओस एवं पानी में अच्छे उपकरणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में व्यभिचार-दोष (उन गुणों का अन्य पदार्थों में भी होना) दिखलाई देता हैं। अतः जैनदर्शन का स्याद्वाद-सिद्धान्त अप्रमाण नहीं है, अर्थात् स्याद्वाद-सिद्धांत प्रमाणरूप है, इसलिए शास्त्रज्ञाता विद्वानों द्वारा स्याद्वाद के प्रति मत्सरभाव का परित्याग किया जाना चाहिए। अन्यान्य दर्शनों की पदार्थ निरूपण की सम्यक् मान्यताएँ हैं, वे स्याद्वाद सिद्धान्त में उसी प्रकार समाहित होती हैं, जैसे नदियाँ सागर में समाहित हो जाती हैं, इसलिए स्याद्वाद का आश्रय लेकर राग एवं द्वेष - दोनों से रहित होकर सभी दार्शनिक सिद्धान्तों की न तो निन्दा करें और न उनकी स्तुति करें। स्याद्वाद का आश्रय लेकर अपने हृदय में सम्यक् ज्ञान एवं दर्शन को धारण करे। स्याद्वाद में समन्वित यह जैन- दर्शन मिथ्यात्व से रहित हैं और क्षायिकसम्यक्त्व से युक्त है।

अनेकान्त-सिद्धांत के प्रति आस्था, तीव्र कषायों का अभाव तथा ऐन्द्रिक विषयों का उपशम, अर्थात् विषयों के प्रति विराग ही सम्यक्दर्शन है। विषय-भोगों के प्रति आसक्ति एवं दुराग्रह को सम्यक्त्व नहीं कहा जाता, वह तो मिथ्यादर्शन है, इसलिए मोक्ष की इच्छा वाले साधक (श्रावक) को आग्रह का परित्याग करके और राग-द्वेष - दोनों से विरत होकर परिशुद्ध मन से सम्यक्दर्शन को ग्रहण करना चाहिए। यह जो सम्यक्चारित्र है, इसकी उपलब्धि न तो सिर मुँडाने से, अथवा केशलोचन से होती है और न ही वस्त्र-परित्याग करने से, अर्थात् वस्त्रादि के नहीं पहनने और जटाओं के बांधने से होती है। इसी प्रकार सम्यक्चारित्र न तो सफेद अथवा लाल वस्त्रों के परिधारण करने में और न वृक्ष की छाल धारण में है, न वह भिक्षा में प्राप्त भोजनादि से जीविका चलाने में है और न अग्नि, जल आदि द्वारा अपने शरीर को कष्ट देने में है। प्राणीमात्र के प्रति जो दया भाव है तथा जो हित-मित सत्य वाणी है, इसी प्रकार मनोभावों में जो निःस्पृहता है और जो कायिक, वाचिक एवं मानसिक - तीनों प्रकार से ब्रह्मचर्य का पालन है, वही सम्यक्-चारित्र है।

शत्रु और मित्र में, संसार और मोक्ष में, स्वर्ण और पाषाण में, वन और नगर में, घर या वृक्ष की छाया में, तृण और वनिता या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षण्ड पुरुषादि में, विष और अमृत में, राजा और रंक (गरीब) में, सज्जन और दुर्जन में, बालिश (मूर्ख) और बुद्धिमान् में, चन्दनादि और अग्नि में जो समत्वबुद्धि है तथा संसार के सभी प्राणियों के प्रति अद्वेष का भाव है, वही सम्यक्चारित्र है।

स्वयं की आलोचना और अन्यों के प्रति निराकांक्षता सभी जीवों के कल्याण की भावना तथा राग-द्वेष का अभाव ही सम्यक्चारित्र है। विषयों के प्रति अत्यन्त प्रगाढ़ उपशमभाव और पर पदार्थों में अनासक्ति, भय, शोक, जुगुप्सा आदि का अभाव तथा परमऋजुता (सरलता) यही सम्यक्चारित्र के लक्षण हैं।

क्षमा, निर्मोहत्व, निर्लिप्त मन आदि सभी सद्गुण सम्यक्चारित्र कहलाते है और यह सम्यक्चारित्र मोक्ष-प्राप्ति का सुगम मार्ग है। साधक चाहे वह जटाधारी हो, अथवा मुण्डन किया हुआ हो, सद्गृहस्थ आर्य हो अथवा म्लेच्छ हो, वह इस सम्यक्चारित्र का पालन कर निश्चय ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र - ये त्रिरत्न ही श्रेष्ठ मोक्षमार्ग माने गए हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कोई भी तथाकथित मोक्षमार्ग के समीचीन नहीं है। मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ - इन चारों भावों से वासित चित्त, अथवा इनमें से किसी एक से वासित चित्त ही मोक्ष की प्राप्ति कराने में सक्षम होता है।

समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर प्राप्त होने वाला यह मोक्ष विशुद्ध आत्मा के ज्ञान के फलस्वरूप ही प्राप्त होता है और वह आत्मबोध ध्यानसाध्य है तथा यह ध्यान आत्मानुभूति के लिए ही होता है। साम्यभाव, अर्थात् समभाव या समता के बिना ध्यान नहीं होता है और ध्यान के अभाव में समत्व फलदायी नहीं हो सकता है। साम्यभाव के बिना स्व-संवेदन नहीं होता है, इसीलिए ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार मनुष्य ध्यान के आश्रय से समाधि को प्राप्त कर शिवपद, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। समाधि के बिना अत्यन्त कठिन तपस्याओं (देहदण्डन) और आचरणीय का आचरण करके भी मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वत्र उदासीनता ही प्राणियों के मोक्ष का कारण मानी गई है और मोक्ष में जो बाधक तत्त्व है, वह मानसिक-आसक्ति है और वही बन्धन का हेतु है। समाधि में अनासक्त व्यक्ति मनोहर शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध से युक्त होता हुआ भी कर्मों में लिप्त नहीं होता हैं। अनासक्ति के कारण उसे कर्म का लेप नहीं लगता, अर्थात् कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। निरपेक्ष भाव से सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ होने पर भी उदासीनता की वृत्ति वाले एवं समभाव में स्थित व्यक्ति को कर्मबन्ध नहीं होता है। सभी बाह्य विषयों से उपरत होकर बुद्धिमान् व्यक्ति आत्मज्ञान में स्थिरतापूर्वक मन को स्थापित करे। बिना आत्मज्ञान के करोड़ों पूर्वजन्मों में किए गए उत्तम दान एवं अति कठोर तप द्वारा भी जीव को मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। सभी विषयों को ग्रहण करते हुए, सभी कर्मों को ग्रहण करते हुए भी आत्मज्ञानी साधक संसार-परिभ्रमण हेतु कर्मबन्धन को प्राप्त नहीं होता है।

ध्यानरूपी अग्नि में कर्मबन्धन को भस्मसात करने वाले आत्मज्ञानी (साधक) को शुभाशुभ कार्यों द्वारा न तो पुण्य का बंध होता है और न पाप का बन्ध होता है। जिस प्रकार घी से लिप्त घड़े पर जल की बूँद नहीं टिकती है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी साधक को कर्मबन्धन भी नहीं होता है, अर्थात् वह कर्मलेप से मुक्त रहता है। आत्मज्ञानी साधक को सम्पूर्ण संसार तृण के समान असार प्रतीत होता है। अपनी आत्मा के आनंद में निमग्न वह साधक अन्य किसी परवस्तु में आसक्त नहीं होता है। (वह निर्द्वंद स्थिति को प्राप्त हो जाता है।), अतएव श्रेष्ठ व्यक्ति सद्गुरु के सान्निध्य से आत्मतत्त्व जानकर, अर्थात् सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करके क्रमशः निर्मल हुए अपने मन को समभाव की साधना में लगाए।

जिस प्रकार गृहस्थाश्रम में शोभन पत्नी श्रेष्ठ एवं सारभूत मानी जाती है, उसी प्रकार सभी यतियों के लिए समाधि मोक्ष का सारभूत हेतु मानी गई हैं।

मोक्षाभिलाषी साधक निरर्थक वाणी के वैभव से समुद्भूत इस सम्पूर्ण सांसारिक मायाजाल को, अथवा मोहपाश को अच्छी प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्यागकर आत्मज्ञान द्वारा समताभाव, अर्थात् समाधि में अपने मन को स्थिर करे। सभी कार्यों को उनके आचार सम्बन्धी विधि- विधान के साथ सम्पादित करने पर विशुद्ध भावपूर्वक आत्मज्ञता प्राप्त होती है। श्रेष्ठ मनुष्य आत्मिक आनंद से परिपूर्ण होकर समाधिपूर्वक शिवपद को प्राप्त करता है।

इस प्रकार वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में तत्त्वालोककीर्तन नामक महाद्योत सम्पूर्ण होता है।

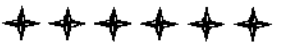

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकर्त्ता की प्रशस्ति

जगत् को सर्वप्रथम आचार का बोध देने वाले प्रथम राजा, प्रथम मुनि, प्रथम अरहंत एवं प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान् की जय हो। अनंत विज्ञान एवं ज्ञान को प्रकाशित करने वाले चरमतीर्थाधिपति भगवान् महावीरस्वामी की जय हो। विविध सिद्धियों-लब्धियों के धारक, कल्याणकारी, तत्त्ववेत्ता, दयानिधि, गणनायक, इन्द्रभूति हुए तत्पश्चात् श्री वर्धमानस्वामी के शिष्य गणेश्वर सुधर्मास्वामी हुए। सुधर्मास्वामी से लेकर षष्ठ पट्टधर भद्रबाहु की परम्परा तक के मुनि अविभक्त होकर ही रहते थे। तत्पश्चात् साधुओं के अनेक गण (वर्ग) अस्तित्व में आए और उन गणों से शाखाएं एवं कुल निकले, उसमें एक गण कोटिकगण था। उसमें आचार्य वज्रस्वामी से वज्री शाखा निकली, उसी में से चंद्रकुल अस्तित्व में आया। उसी चंद्रकुल में भद्रदर्शन वाले, हाथियों के लिए सिंह के समान वादीरूप श्री हरिभद्रसूरि हुए। इसमें आश्चर्य की बात यह है कि उन्होंने याकिनी महत्तरा के मुख से पदांश को सुनकर हृदय में सम्यक्त्व को प्रकट किया तथा बौद्ध- भिक्षुओं के विचित्र षडयंत्र से अपने दो मुनियों की हत्या के बाद भी उन बौद्ध-मुनियों की रक्षा की, अतः उनका चित्त में सदैव स्मरण किया जाता है।

उनके पाट पर मोहरूपी अंधकार तथा संसाररूपी ताप से पीड़ितजनों को चंद्र के समान शीतलता प्रदान करने वाले देवचन्द्रसूरि हुए। तत्पश्चात् उनके पट्ट पर नेमीचन्द्र सूरि हुए। उसके बाद उनकी पट्ट-परम्परा में (धर्म का) उद्योत करने वाले उद्योतनसूरि हुए। फिर उनके पाट पर दुर्वादियों के मद का नाश करने वाले एवं समस्त जिनशासन की वृद्धि करने वाले श्री वर्धमानसूरि हुए। उनके पाट पर, शरद-पूर्णिमा की किरणें जैसे समुद्र को स्पर्शित कर उसमें ज्वार लाती हैं, अर्थात् वृद्धि करती हैं, उसके सदृश जिनेश्वर मत को विस्तृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाले जिनेश्वरसूरि हुए। तत्पश्चात् उनके पट्ट पर नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि हुए, जिन्होंने अपने भक्तिरूपी गुण से स्तंभन पार्श्वनाथ की प्रतिमा को प्रकट किया। उनके पाट पर श्रावकों को प्रबोध देने में प्रवीण तथा देवों एवं मनुष्यों के प्रिय जिनवल्लभसूरि हुए। तत्पश्चात् उनकी पट्ट-परम्परा में रुद्रपल्ली-गच्छ नामक खरतर-परम्परा की शाखा के यश को प्रसारित करने वाले आचार्य जिनशेखरसूरि हुए। उसके बाद दुर्वादीरूपी कमल हेतु चन्द्रमा की आभा वाले, गण में अग्रणी प्रसन्नमुद्रा वाले, निष्कपट पद्मचन्द्रसूरि को उनके पाट पर विराजित किया गया।

उनके पाट पर विजय को प्राप्त करने वाले विजयचन्द्रसूरि हुए। तत्पश्चात् उनके पाट पर गणाधिप अभयदेवसूरि (द्वितीय) सुशोभित हुए। अभयदेवसूरि के पाट पर समृद्धशाली देवभद्रसूरि हुए। तत्पश्चात् उनके पाट पर महानन्द को प्रदान करने वाले तथा संघ की अभिवृद्धि करने वाले प्रभानंदसूरि हुए। प्रभानंदसूरि के पाट पर वैभव को प्रदान करने वाले गणाधीश श्रीचन्द्रसूरि हुए। उनके पाट पर जिनभद्रसूरि हुए, जिन्होंने लोगों का कल्याण किया। जिनभद्रसूरि के पाट पर जगत् में श्रेष्ठता को प्राप्त जगत्- तिलकसूरि हुए, जिन्होंने अपनी सिद्धि एवं तप-समृद्धि से भूतल को प्रकाशित किया। उनके पाट पर चंद्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल गुणों वाले गुणचन्द्रसूरि हुए। उनके पाट पर प्रख्यात श्री अभयेदवसूरि (तृतीय) सुशोभित हुए।

तत्पश्चात् उनके पाट पर वर्तमान में अपने सद्गुणों से सम्पूर्ण विश्व में विख्यात, जय एवं आनंद के आश्रयस्थल, दुर्वादियों के मद का नाश करने वाले, पापकर्मों को क्षय करने वाले, सर्व देशों में विचरण करने वाले गणनायक जयानन्दसूरि हुए। जयानन्दसूरि के पाट पर स्वगच्छ को प्रशासित करने वाले अभयदेवसूरि (तृतीय) के शिष्य प्रशान्त एवं बुद्धिमान् - ऐसे श्री वर्धमानसूरि हुए। जिन्होंने आगम के अर्थ को देखकर तथा श्रीमद् आवश्यकसूत्र में जो कहा गया है - ऐसे तथा दिगम्बर एवं श्वेताम्बर के शाखा के आचार का विचार करके जनहितार्थ सर्वसाधुओं के आचार की व्याख्या करने के लिए तथा कर्मों का क्षय करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है। कल्पवृक्ष की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपमा से उपमित अनंतपाल राजा के राज्य में जालंधर नगर के नन्दनवन में विक्रम संवत् १४६८ में कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि में उन्होंने इस ग्रंथ को पूर्ण किया। श्रीमद् जयानंदसूरि के शिष्य तेजकीर्ति मुनि हुए, जिन्होंने लेखन-कार्य में हमेशा सहयोग प्रदान किया। अज्ञानतावश तथा आगम के अर्थ को सम्यक् प्रकार से नहीं जानने के कारण इस ग्रन्थ में जहाँ-कहीं (कहीं पर भी) कुछ अशुद्ध लिखा हो, तो उसके लिए मैं "मिथ्या मे दुष्कृतं" देता हूँ, अर्थात् मेरा वह दुष्कृतरूप पाप मिथ्या हो। जो असत्य (गलत) कहा गया है, उसका निन्दा के भाव से रहित होकर मुनीश्वर शोधन करें तथा जो सत्य (सही) कहा गया है, उसकी अनुमोदना करें एवं शिष्यों को पढ़ाएं। जब तक पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य एवं मेरुपर्वत इस लोक को विभूषित करते रहें, तब तक सुसाधु-समुदाय द्वारा अधीत यह ग्रन्थ उनके हृदय को आनंद प्रदान करे।

- इति शास्त्रकार प्रशस्ति संपूर्ण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राच्यविद्यापीठ के संस्थापक निदेशक एवं ग्रन्थमाला सम्पादक

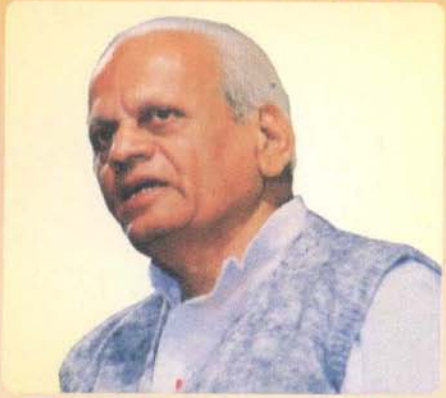

प्रो. डॉ. सागरमल जैन

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

प्रकाशन सूची

1. जैन दर्शन के नव तत्त्व - डॉ. धर्मशीलाजी
2. Peace and Religious Hormony - Dr. Sagarmal Jain
3. अहिंसा की प्रासंगिकता - डॉ. सागरमल जैन
4. जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा - डॉ. सागरमल जैन
5. जैन गृहस्थ के षोडशसंस्कार - अनु. साध्वी मोक्षरत्ना श्री
6. जैन मुनि जीवन के विधि-विधान-अनु. साध्वी मोक्षरत्नाश्री
7. अनुभूति एवं दर्शन-साध्वी रूचिदर्शनाश्री
8. जैन विधि-विधानों के साहित्यों का बृहद् इतिहास-साध्वी सौम्यगुणाश्री
9. प्रतिष्ठा, शान्तिककर्म, पौष्टिक कर्म एवं बलि विधान-अनु. साध्वी मोक्षरत्नाश्री
10. प्रायश्चित्त, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि-अनु. मोक्षरत्नाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

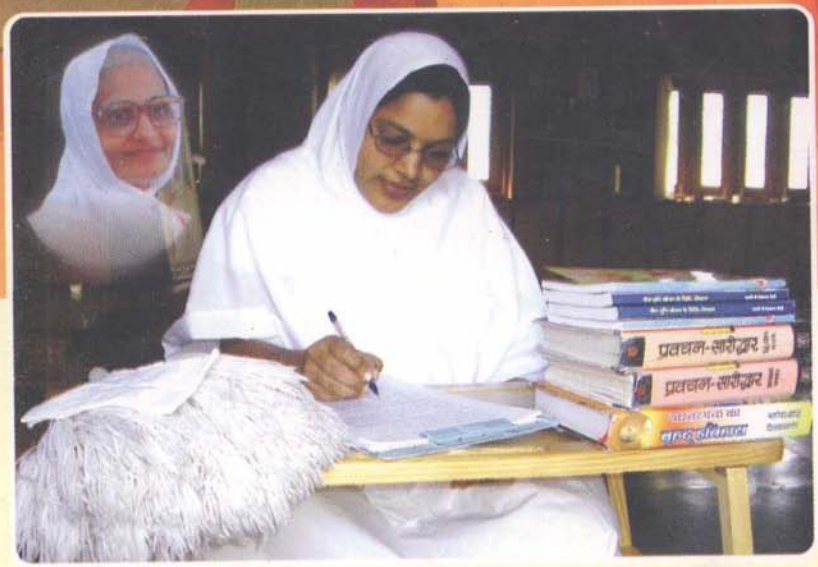

साध्वी श्री मोक्षरत्नाश्रीजी का जन्म राजस्थान के गुलाबी नगर जयपुर में सन् 1975 को एक सुसंस्कारित धार्मिक परिवार में हुआ। पिता श्री छगनलालजी जुनीवाल एवं माता श्रीमती कान्ताबाई के धार्मिक संस्कारों का आपके बाल मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि व्यवहारिक अध्ययन के साथ-साथ ही आप धार्मिक अध्ययन पर विशेष ध्यान देने लगी। शनैः-शनैः आपमें वैराग्य-भावना विकसित होती गई और चारित्र व्रत अंगीकार करने का निर्णय ले लिया। आपके दृढ़ संकल्प को देखकर परिजनों ने सहर्ष दीक्षा ग्रहण की आज्ञा प्रदान कर दी। अंततः सन् 1998 में जयपुर में ही पू. चंद्रकला श्रीजी म.सा. की पावन निश्रा में प.पू. हर्षयशा श्री जी म.सा. की शिष्या के रूप में दीक्षित हो गयी। आपका नाम साध्वी मोक्षरत्ना श्री रखा गया। धार्मिक अध्ययन के साथ-साथ आपने गुजरात यूनिवर्सिटी से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। आपने डॉ. सागरमलजी के निर्देशन में ''आचारदिनकर में वर्णित संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन'' पर शोध प्रबन्ध लिखकर जैन विश्व भारती लाड़नू से ''डाक्टरेक्ट'' की पदवी प्राप्त की हैं।

मुद्रक : आकृति आफसेट, उज्जैन (म.प्र.) फोन : 0734-2561720, 98272-42489, 98276-77780

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org